ग्राम स्वराज्य

महात्मा गांधी

ग्राम-स्वराज्य

गांधीजी

संग्राहक

हरिप्रसाद व्यास

पहली आवृत्ति, अगस्त १९६३

मुद्रक और प्रकाशक
विवेक जितेन्द्र देसाई
नवजीवन मुद्रणालय
अहमदाबाद - ३८० ०१४
फोन : ०७९ - २७५४०६३५, २७५४२६३४
E-mail : sales@navajivantrust.org | Website : www.navajivantrust.org

प्रकाशक का निवेदन

गांधीजी आरंभ से ही इस बात पर बड़ा जोर देते रहे थे कि भारत के गाँवों में ग्राम-पंचायतों को पुनर्जीवन प्रदान करके हमारे देश में ग्राम-स्वराज्य की स्थापना की जाएँ। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि जब तक भारत के लाखों गाँव स्वतंत्र, शक्तिशाली और स्वावलम्बी बनकर उसके संपूर्ण जीवन में पूरा भाग नहीं लेते, तब तक भारत का भावी उज्जवल नहीं हो सकता। यह अत्यंत हर्ष की बात है कि अब देश के विभिन्न राज्यों में गांधीजी की ग्राम-स्वराज्य की कल्पना को मूर्तरूप देने के लिए पंचायत-राज का शुभ आरंभ हो चुका है। लोकतंत्र में राज्यसत्ता के विकेन्द्रीकरण की प्रतीक ये ग्राम-पंचायतें ही गाँवों में सच्चे ग्राम-स्वराज्य का सूत्रपात करेंगी।

ऐसे समय ग्राम-स्वराज्य के विभिन्न अंगों पर प्रकाश डालने वाले गांधीजी के विचारों का संग्रह पंचायतों के लिए उपयोगी और प्रेरणादायी सिद्ध होगा, इसी विचार से 'ग्राम-स्वराज्य' का यह हिन्दी संस्करण हम प्रकाशित कर रहे हैं। इसके अंग्रेजी और गुजूग्गती संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं, जिनका देश में ग्राम-पंचायतों और सामुदायिक विकास योजना केन्द्रों में हार्दिक स्वागत हुआ है।

आशा है, इस हिन्दी संस्करण का भी वैसा ही स्वागत होगा।

१५-८-१९६३

प्राक्कथन

यह सचमुच बड़े हर्ष की बात है कि नवजीवन ट्रस्ट महात्मा गांधी के 'ग्राम-स्वराज्य' विषयक विचारों का संग्रह पुस्तक के रूप में प्रकाशित कर रहा है। इस पुस्तक में खेती-बाड़ी, ग्रामोद्योग, पशु-पालन, यातायात, बुनियादी शिक्षा, स्वास्थ्य और सफ़ाई जैसे ग्राम-जीवन के विविध और विभिन्न पहलूओं पर गांधीजी के विचारों का समावेश किया गया है। आज हम राजनीतिक और आर्थिक सत्ता के विकेन्द्रीकरण के आधार पर भारत में पंचायत-राज की स्थापना का प्रयत्न कर रहे हैं। ऐसे समय यह पुस्तक इस क्षेत्र में कार्य करने वाले सरकारी तथा गैर-सरकारी कार्यकर्ताओं के लिए अवश्य ही बड़ी मूल्यवान सिद्ध होगी। आज हमारे देश में सामूहिक विकास का जो आंदोलन चल रहा है उसे ऐसा कार्यक्रम मानना गलत होगा, जो अधिकांश में पश्चिम के देशों में प्रचलित लोकतंत्रों से भारत में लाया गया है। हमारे राष्ट्र के सामूहिक विकास का आधार आवश्यक रूप में भारत की परिस्थितियों पर और भारत की परंपराओं पर ही होना चाहिए। इसलिए यह बड़े महत्त्व की बात है कि जिन कार्यकर्ताओं को इस आंदोलन और कार्यक्रम में भाग लेने की तालीम दी जाती है, उन सबको ग्राम-सुधार के विभिन्न पहलुओं पर गांधीजी के विचारों का पूरा परिचय हो। अगर हम भारतीय आयोजन से संबंधित गांधीजी के अनुभवों और आदर्शों की उपेक्षा करें और उनकी ओर ध्यान न दें, तो हम पक्की बुनियाद पर होने वाले अपने लोकतंत्र के विकास को बहुत बड़ी हानि पहुँचाकर ही ऐसा करेंगे।

यह सोचना गलत है कि गांधीजी आज के उद्योगीकरण के बारे में बहुत पुराने विचार रखते थे। सच पूछा जाय तो वे उद्योगों के यंत्रीकरण के विरुद्ध नहीं थे; वे कड़ा विरोध उस पागलपन का करते थे, जो आज यंत्रों के लिए बताया जाता है। गाँवों के लाखों कारीगरों को काम दे सकने वाले छोटे यंत्रों में जो भी सुधार किया जाए, उसका वे स्वागत करते थे। गांधीजी बड़े बड़े कारखानों में विपुल मात्रा में माल पैदा करने के बजाय देश के विशाल जन-समुदायों द्वारा अपने घरों और झोंपड़ों में माल का उत्पादन करने की हिमायत करते थे। वे भारत के प्रत्येक सबल व्यक्ति को पूरा काम देने के बारे में बहुत अधिक चिंतित रहते थे; और वे मानते थे कि यह ध्येय तभी सिद्ध होगा जब गाँवों में सुचारु रूप से ग्रामोद्योगों तथा कुटिर-उद्योगों का संगठन और संचालन किया जाएगा। जो आर्थिक योजना ग्रामीण क्षेत्रों में बेकार पड़ी रहने वाली मानव-शक्ति का पूरा पूरा उपयोग नहीं करती, वह पक्की नींव पर रची

हुई अथवा बुद्धिमानी की योजना नहीं कही जा सकती। गांधीजी ने कहा था : "भूखों मरने वाली और बेकार रहने वाली जनता के सामने ईश्वर केवल एक ही स्वीकार्य रूप में प्रकट होने की हिम्मत कर सकता है। वह रूप है – काम और मज़दूरी के रूप में भोजन का वचन।" (निर्मलकुमार बोस : सलेक्शन्स फ्रोम गांधी, पृ॰ ४९) पश्चिम के अर्थशास्त्री आज पूरे काम या पूरी रोजी के इस आदर्श को योजनाबद्ध आर्थिक विकास की आधार-शिला मानते हैं – विशेषतः ऐसे अर्ध-विकसित देशों के आर्थिक विकास के लिए, जिनकी जनसंख्या बड़ी है और दिनोंदिन बढ़ती जा रही है। प्रोफे॰ गेल्ब्रेइथ इस मत के हैं कि "बेकारी के साथ जुड़े हुए अधिक उत्पादन की अपेक्षा सब लोगों का पूरा काम देना अधिक वांछनीय है।" (दि एफ्लुएन्ट सोसायटी, पृ॰ १५५)

महात्मा गांधी ग्राम-पंचायतों के संगठन द्वारा आर्थिक और राजनीतिक सत्ता के विकेन्द्रीकरण का जोरदार समर्थन करते थे। उनका यह निश्चित मत था कि यदि वैज्ञानिक दृष्टि से ग्राम-पंचायतों का संगठन किया जाए, तो उससे केवल गाँवों की सामाजिक और आर्थिक शक्ति ही नहीं बढ़ेगी, परन्तु वह विदेशी आक्रमण के खतरे से राष्ट्र की रक्षा करने वाली शक्तियों को भी मज़बूत और बलवान बनाएँगा। आचार्य विनोबा भावे भी इस आवश्यकता पर बहुत भार देते रहे हैं कि ग्रामदान द्वारा सहकारी समाज की रचना करके भारत के गाँवों का सुदृढ़ संगठन खड़ा किया जाए। पंचायत-राज या विकेन्द्रित लोकतंत्र के इस आदर्श को मध्यकालीन कल्पनाओं पर खड़ी भावना-प्रधान वस्तु नहीं समझना चाहिए। पश्चिम के अद्यतन आर्थिक और राजनीतिक विचारों का अध्ययन करने से पता चलेगा कि वहाँ आज विकेन्द्रित संस्थाओं को मज़बूत नींव पर लोकतंत्र की स्थापना करने के लिए बहुत आवश्यक और महत्त्वपूर्ण माना जाता है। प्रोफे॰ जोंड कहते हैं : "यदि सामाजिक कार्य में मानव की श्रद्धा को पुनर्जीवित करना हो, तो राज्य को काटकर छोटे छोटे क्षेत्रों में बाँट देना चाहिए और उसके कार्यों को विकेन्द्रित कर डालना चाहिए।" (मोडर्न पोलिटिकल थियरी, पृ॰ १२०-२१) अपनी 'फैबियन सोशलिज़्म' नामक पुस्तक में प्रोफे॰ कोलने यह मत प्रकट किया है कि यदि सामान्य पुरुषों और स्त्रियों में सामूहिक कार्य की क्षमता का व्यापक प्रसार करना हो, तो "हमें छोटे छोटे लोकतंत्रों के आधार पर अपने समाज की रचना करने लग जाना चाहिए।" इस दृष्टिकोण से, भारत के गाँवों में उत्साह और उमंग के साथ पंचायत-राज का जो

प्रयोग आरंभ हुआ है, वह गांधीजी की कल्पना के 'ग्राम-स्वराज्य' का ध्येय सिद्ध करने की दिशा में उठाया गया सही कदम कहा जाएगा।

सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि हमें स्पष्ट रूप से यह समझ लेना चाहिए कि गांधीजी ऐसी सामाजिक और आर्थिक रचना के हिमायती नहीं थे, जो केवल भौतिक मूल्यों की बुनियाद पर खड़ी हो। वे सदा सरल और सादा जीवन तथा उच्च विचार के आदर्श का प्रतिपादन करते थे; और उन्हों ने केवल रहन-सहन के स्तर को अधिक ऊँचा उठाने के लिए ही काम नहीं किया, परन्तु समग्र जीवन के स्तर को अधिक ऊँचा उठाने के लिए कार्य किया। गांधीजी कहते हैं : "सच्चे अर्थ में सभ्यता जीवन की आवश्यकताओं को बढ़ाने में नहीं, परन्तु जान-बूझकर और स्वेच्छा से उनकी मर्यादा बाँधने में है।"

दुर्भाग्य से आर्थिक जीवन के इस नैतिक और आध्यात्मिक पहलू की हमेशा उपेक्षा की गई है, जिसके फलस्वरूप सच्चे मानव-कल्याण को बड़ी हानि पहुँची है। आधुनिक अर्थशास्त्री अब इस महत्त्वपूर्ण आवश्यकता पर जोर देने लगे हैं कि यदि हमें विशाल पैमाने पर शीघ्र गति से आर्थिक विकास साधना हो, तो हमें 'वस्तुओं की गुणवत्ता' बढ़ाने के साथ 'मनुष्य की गुणवत्ता' भी बढ़ानी चाहिए। प्रोफे॰ शुम्पिटर का यह कथन यथार्थ है कि आर्थिक और राजनीतिक लोकतंत्र को सफल बनाना हो, तो "उसमें काफ़ी संख्या में ऐसे व्यक्ति होने चाहिए, जिनमें पूरी योग्यता हो और जिनका नैतिक चरित्र काफ़ी ऊँचा हो।" (केपिटलिज़्म, सोशलिज़्म एण्ड डेमोक्रेसी) इसी विचार को श्री क्रोसलैण्ड ने प्रभावशाली शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया है : "हम विपुलता के युग में केवल यह जानने के लिए ही प्रवेश नहीं करना चाहते कि ऐसा करने में हमने जीवन के उन मूल्यों को खो दिया है, जो हमें इस विपुलता का उपभोग करने का सच्चा मार्ग बता सकते हैं।" (फ्यूचर ओफ सोशलिज़्म, पृ॰ ५२९) इसलिए जो कार्यकर्ता, चाहे वे सरकारी हों या गैर-सरकारी, गांधीजी के सपनों के नए भारत का निर्माण करने के भगीरथ कार्य में लगे हुए हैं, उन सबको हमारे राष्ट्रीय आयोजन के इस मानवतापूर्ण और नैतिक पहलू को निरंतर ध्यान में रखना चाहिए।

श्रीमन्नारायण

नई दिल्ली, १३-११-१९६२

भूमिका

मानव-जाति की एकता का आदर्श आज जितनी तीव्रता से दुनिया के राजनीतिज्ञों और वैज्ञानिकों तथा साहित्यिकों और सामान्य लोगों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर रहा है, उतनी तीव्रता से इतिहास में पहले कभी उसने इन सबका ध्यान अपनी ओर आकर्षित नहीं किया था। श्री अरविंद के शब्दों में, "आज मानव-एकता का आदर्श अस्पष्ट रूप में हमारी चेतना के सामने खड़ा हो रहा है। हमारे युग की बौद्धिक और भौतिक परिस्थितियों ने हमारी चेतना को इस आदर्श के लिए तैयार कर दिया है; और विशेषतः आज की वैज्ञानिक शोधों ने – जिन्होंने हमारी पृथ्वी को इतना छोटा बना दिया है कि उसके बड़े से बड़े राज्य भी आज हमें किसी एक देश के प्रांतों से अधिक बड़े नहीं मालूम होते – इस आदर्श को हमारी चेतना पर लगभग लाद-सा दिया है।"[१] अर्नाल्ड टोयनबीके ये उद्गार बिलकुल उचित है : "पश्चिम की यंत्र-विज्ञान की शक्ति ने, जैसा कि हम काव्यमय भाषा में कहते हैं, 'अंतर का सर्वथा अंत कर दिया है'; साथ ही इस शक्ति ने मानव-इतिहास में पहली बार मानव के हाथों को ऐसे शस्त्रास्त्रों से सज्ज कर दिया है, जो मानव-जाति का सर्वनाश कर सकते हैं। . . . आज हमें मानव-एकता की इतनी अधिक आवश्यकता क्यों है, इसके कारण का पता लगाएँ तो वह रोमांचक है और साधारण भी है। उसे संक्षेप में इस सूत्र में रख दिया गया है: 'एक विश्व अथवा कुछ नहीं।' आज दुनिया में राजनीतिक दृष्टि से जाग्रत प्रत्येक पुरुष और स्त्री के सामने यह बात स्पष्ट है कि इस अणुयुग में यदि हम युद्ध का अंत नहीं करेंगे, तो युद्ध हमारा अंत कर देगा।"[२] पिटिरिम सोरोकिन ने दुनिया के सामने खड़ी इस समस्या को अपनी अनोखी भाषा में इस प्रकार रखा है : "आज मानव-जाति, जिसके शरीर पर पड़े हुए घावों से रक्त की धारा बह रही है और जो सर्वनाश के आणविक भस्मासुर से अत्यंत त्रस्त और भयभीत है, निराश होकर मृत्यु के पंजे से बाहर निकलने का उपाय खोज रही है। वह अशोभनीय मृत्यु के बदले जीवन की उत्कट कामना कर रही है। युद्ध के स्थान पर वह शांति चाहती है। घृणा के बदले में वह प्रेम की भूखी है। अव्यवस्था के स्थान पर वह व्यवस्था की स्थापना करने की आकांक्षा रखती है। वह उच्चतर मानवता के, अधिक बुद्धिमानी के तथा अपने शरीर के लिए यांत्रिक सभ्यता के रक्तरंजित चिथड़ों की अपेक्षा अधिक सुंदर सांस्कृतिक परिधान के स्वप्न देखती है। अपनी ही मूर्खता से मृत्यु के शिकंजे में

फँस जाने तथा 'जीवन-मरण' की कठोर समस्या का सामना करने के कारण मानव-जाति पहले से अधिक हताश बनकर जीवन और अमरता की शाश्वत शोध करने के लिए विवश हो गई है।"[३]

यदि मानव-जाति, जिसे आज संहारक शस्त्रास्त्रों ने भयंकर चुनौती दे दी है, सही दिशा में काम करने से चूकती है, तो उसके सामने सर्वनाश का ही, एकमात्र विकल्प रह जाएगा। विश्व-सरकार की स्थापना ही इस सर्वनाश से मनुष्य-जाति की रक्षा कर सकती है। युद्ध का अंत करने की आवश्यकता ने विश्व-सरकार की स्थापना को अभिवार्य कर दिया है। सच्चे विश्व-राज्य की स्थापना के साथ आवश्यक रूप में वर्तमान राज्यों की सार्वभौम राष्ट्रीय सत्ता के अंत का प्रश्न जुड़ा हुआ है।

विश्व-सरकार की स्थापना कैसे होगी, यह प्रश्न बड़े महत्त्व का है; क्योंकि राष्ट्र की सार्वभौम सत्ता का त्याग करना बहुत आसान नहीं होगा। दुनिया में ऐसे इने-गिने ही राजपुरुष होंगे जो गांधीजी की तरह कहेंगे : "राष्ट्रीय स्वतंत्रता की अपेक्षा सार्वभौम परस्परावलम्बन के लिए अपनी तत्परता प्रकट करने में न तो मुझे कोई भव्यता दिखाई देती और न ऐसा करना असंभव मालूम होता। . . . आत्मत्याग का स्वाभाविक क्रम यह होता है कि व्यक्ति समाज के लिए त्याग करता है, समाज जिले के लिए त्याग करता है, जिला प्रांत के लिए त्याग करता है, प्रांत राष्ट्र के लिए त्याग करता है और राष्ट्र सारे जगत के लिए त्याग करता है।" अर्नाल्ड टोयनबी कहते हैं : "आज के अणुयुग में हमारे राजनीतिज्ञों में सम्राट अशोक की भावना (अर्थात् अहिंसा) उत्पन्न होनी चाहिए। हमारा काम एकता के बिना चल ही नहीं सकता। लेकिन साथ ही साथ हम बल-प्रयोग अथवा दबाव की पद्धतियों से भी इस अनिवार्य उद्देश्य को सिद्ध नहीं कर सकते; ऐसा करने से हमारे उद्देश्य को हानि पहुँचेगी। आज के युग में हम मानव-जाति की एकता सिद्ध करने के लिए बलप्रयोग का नहीं परन्तु हृदय-परिवर्तन का ही उपाय काम में ले सकते हैं। अणुयुग में बल-प्रयोग का परिणाम मानव-जाति की एकता में नहीं परन्तु आत्मनाश के रूप में ही आएँगा। वर्तमान युग में हमारा भय और हमारी अंतरात्मा दोनों हम से ऐसी नीति अपनाने का तकाजा करते हैं, जिसका अनुसरण करने की प्रेरणा सम्राट अशोक को अपने समय में केवल अंतरात्मा से प्राप्त हुई थी।"

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि हिंसा का मार्ग मानव जाति के सामने सदा के लिए बंद हो गया है। श्री भारतन् कुमारप्पा की अंग्रेजी पुस्तक 'विलेजिज़्म' की प्रस्तावना में महात्मा गांधीने लिखा

था : “हमारी पीढ़ी के पिछले दो महायुद्धों ने आज की आर्थिक व्यवस्थाओं का पूरा पूरा दिवालियापन सिद्ध कर दिया है। संयोगवश, इन दो महायुद्धों ने मेरी दृष्टि से युद्ध का भी दिवालियापन सिद्ध कर दिखाया है।” क्या हम कह सकते है कि अब अहिंसा का युग आरंभ हो गया है? अब संसार के सामने अहिंसा के इस असीम और अनंत भंडार का, जिसे आज तक संसार के व्यवहार-कुशल राजनीतिज्ञों ने घृणा की नज़र से देखा है, उपयोग किए सिवा दूसरा कोई विकल्प नहीं रहेगा। गांधीजी का विश्वास था कि भारत को एक निश्चित 'मिशन' सिद्ध करना है। वे कहते है : “जाग्रत और स्वतंत्र भारत के पास हिंसा से कराहती दुनिया के लिए शांति और सद्भावना का संदेश है।” एक अन्य अवसर पर उन्होंने कहा है : “अपने हृदय की गहराइयों में मैं यह अनुभव करता हूँ कि . . . युद्ध में होने वाले भयंकर मानव-संहार के कारण दुनिया आज मृत्यु के किनारे खड़ी है। दुनिया इस स्थिति से बाहर निकलने का मार्ग खोज रही है और मैं यह विश्वास करने का साहस करता हूँ कि शांति की भूखी दुनिया को इस विकट परिस्थिति से बाहर निकलने का मार्ग बताना शायद भारत की इस प्राचीन भूमि का विशेष अधिकार होगा।” अर्नाल्ड टोयनबीके मत से “भारत की उदारता और विशाल व्यापक दृष्टि मानव-एकता की सिद्धि में उसकी विशेष देन होगी। . . . और मेरा विश्वास है कि विश्व की भावी पीढ़ियाँ संयुक्त मानव-जाति के इसे भारत की एक विशिष्ट भेंट के रूप में स्वीकार करेंगी।”

आपस के झगड़ों और विवादों को मिटाने का अंतिम पृष्ठबल जब तक सैनिक शक्ति रहेगी, तब तक विश्व-राज्य के द्वारा विश्वशांति स्थापित करने की अभिलाषा दिवास्वप्न जैसी बनी रहेगी। यदि हम चिरस्थायी शांति चाहते हों, तो बल के प्रयोग का हमें सर्वथा अंत करना होगा। केवल नैतिक पृष्ठबलबाली विश्व-सरकार ही स्थायी शांति को निश्चित बना सकती है। छोटे या बड़े समस्त घटकों की समानता तथा भ्रातृभाव की बुनियाद पर खड़ा विश्व-संघ विश्वशांति की स्थापना में बहुत हद तक सहायक सिद्ध होगा। विश्व-सरकार की रचना अपने-आप में शांति की गारंटी नहीं हो सकती। क्योंकि युद्ध की जड़ें राष्ट्रों की संघर्ष को जन्म देने वाली सामाजिक और आर्थिक व्यवस्थाओं में होती है। जब तक इन व्यवस्थाओं में जड़ से परिवर्तन नहीं होता, तब तक विश्वशांति की आशा आकाशकुसुम के समान बनी रहेगी। इसलिए विश्व संगठन को चाहिए कि वह सच्चे लोकतंत्र के संचालन को निश्चित बनाएँ और हर प्रकार के शोषण का अंत कर दे। और, केवल छोटे छोटे घटक ही सच्चे लोकतंत्र की व्यवस्था में सहायक होते हैं तथा

व्यक्तियों के पूर्ण विकास का अवसर प्रदान करते हैं। घटक जितने बड़े होंगे उतना ही वैयक्तिक उपक्रम और स्वतंत्रता के लिए कम अवकाश मिलेगा। विशाल संगठन व्यक्तियों तथा छोटे समूहों को दबा देते हैं, क्योंकि वे एकरूपता सिद्ध करने और सबको एक साँचे में ढालने का प्रयत्न करते हैं। ये दोनों अंत में समाज की गति को रोक देते हैं और उसके ह्रास के कारण बनते हैं। इसलिए यह अत्यंत आवश्यक हो जाता है कि स्थायी विश्वशांति का हेतु सिद्ध करने के लिए वर्तमान राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्थाओं में सुधार करके छोटे छोटे विकेन्द्रित घटकों की रचना की जाए। इसके अभाव में विश्वशांति का आदर्श छिन्न-भिन्न हो जाएगा और विश्व-सरकार ऐसी विशाल अजेय समस्याओं को जन्म देगी, जिनसे उसका अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाएगा। अत: विकेन्द्रित राजनीतिक और आर्थिक घटकों की रचना करना अब अनिवार्य हो गया है।

मनुष्य-जाति का अनुभव इस बात को प्रमाणित करता है कि सामूहिक जीवन उस अवस्था में अधिक विविध, सफल और आनंदपूर्ण होता है, जब उसकी रचना छोटे घटकों तथा अधिक सादे संगठनों के आधार पर की जाती है। केवल छोटे घटकों या समाजों में ही जीवन पूर्ण रूप में विकसित और समृद्ध होता आया है। विशाल क्षेत्रों में फैले हुए सामूहिक जीवन में एकता और संबंधता तथा उत्पादक-शक्ति का अभाव पाया जाता है।

ग्रीस के प्राचीन नगर-राज्य तथा भारत के ग्राम-प्रजातंत्र समृद्ध और शक्तिशाली जीवन के सर्वांगीण विकास के सुंदर उदाहरण थे।

पंडित जवाहरलाल नेहरूने लिखा है :

> “ग्राम-स्वराज्य की यह पद्धति आर्यो की शासन-व्यवस्था की बुनियाद थी। इसी पद्धति ने उसे बल प्रदान किया। ग्रामसभाएँ अपनी स्वतंत्रताओं की इतनी जागरूकता से रक्षा करती थीं कि राज्य द्वारा यह नियम ही बना दिया गया था कि राजा की अनुमति के बिना कोई सैनिक गाँव में प्रवेश न करे। 'नीतिसार' कहता है कि जब प्रजाजन किसी अधिकारी की शिकायत करें तब राजा को ‘अधिकारियों का पक्ष न लेकर अपने प्रजाजनों का पक्ष लेना चाहिए’; और यदि बहुत लोगों की शिकायत हो तो अधिकारी को अपने पद से हटा दिया जाना चाहिए। 'क्योंकि पद के

अभिमान की मदिरा पीकर कौन मनुष्य मदोन्मत्त नहीं बन जाता?' (नीतिसार) आज इस देश में जो सरकारी अधिकारी हम पर बुरा शासन करते हैं और हमारे साथ बुरा व्यवहार करते हैं, उन पर विशेष रूप से ये बोधप्रद शब्द लागू होते हैं !"

"सन् १८३० में भारत के एक ब्रिटिश गवर्नर सर चार्ल्स मेटकाफने ग्राम-समाजों का नीचे के शब्दों में वर्णन किया था:

'ये ग्राम-समाज छोटे छोटे प्रजातंत्र हैं, जिन्हें अपनी आवश्यकता की लगभग हर वस्तु अपने भीतर ही मिल जाती है और जो विदेशी संबंधों से लगभग स्वतंत्र होते हैं। वे ऐसी परिस्थितियों में भी टिके रहते हैं, जिनमें दूसरी हर वस्तु का अस्तित्व मिट जाता है। ग्राम-समाजों का यह संघ – जिनमें से प्रत्येक समाज अपने-आपमें एक छोटासा स्वतंत्र राज्य होता है – उनके सुख का बहुत बड़ी हद तक साधन बनता है और उसके अंतर्गत वे बड़ी मात्रा में स्वतंत्रता और स्वाधीनता का उपभोग करते हैं।'

"इस वर्णन में भारत की प्राचीन ग्राम-व्यवस्था की बड़ी प्रशंसा की गई है। इसमें लगभग ग्रामीण जीवन की आदर्श अवस्था का चित्र प्रस्तुत किया गया है। बेशक, इस व्यवस्था में गाँवों को जो बहुत बड़ी स्थानीय स्वतंत्रता और स्वाधीनता प्राप्त थी वह बहुत अच्छी बात कही जाएगी। इसके दूसरे अच्छे पहलू भी थे। . . . ग्राम-प्रजातंत्रों के पुनर्जन्म और पुनर्निर्माण का कार्य अभी हमारे लिए करना बाकी है।[४]

गांधीजी ने जिस ग्राम-स्वराज्य की कल्पना की है, उसमें पुरानी ग्राम-पंचायतों को पुनर्जीवन देने की बात नहीं है; उसमें आधुनिक जगत को ध्यान में रखते हुए स्वराज्य के स्वतंत्र ग्राम-घटकों की नई रचना करने की बात है। ग्राम-स्वराज्य राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक क्षेत्रों में अहिंसा को मूर्तरूप प्रदान करता है।

गांधीजी की राय में आदर्श समाज एक राज्य-रहित लोकतंत्र है, प्रबुद्ध और जाग्रत अराजकता की अवस्था है, जिसमें सामाजिक जीवन इतनी पूर्णता को पहुँच जाता है कि वह स्वयं-शासित और स्वयं-नियंत्रित बन जाता है। "आदर्श अवस्था में कोई राजनीतिक सत्ता नहीं होती, क्योंकि किसी राज्य

का अस्तित्व नहीं होता।" गांधीजी मानते थे कि किसी आदर्श की संपूर्ण सिद्धि असंभव है। परन्तु "आदर्श युक्लिड की उस रेखा के समान है, जिसकी कोई चौड़ाई नहीं होती और जिस रेखा को आज तक न तो कोई खींच पाया है और न भविष्य में कभी खींच पायेगा। परन्तु फिर भी उस आदर्श रेखा को अपने सामने रखकर ही हमने रेखागणित में इतनी प्रगति की है।" राजनीतिक क्षेत्र में गांधीजीने हमें ग्राम-स्वराज्य का विचार दिया है, जो उनके राज्य-रहित लोकतंत्र के आदर्श के समीप पहुँचता है। वे उस राज्य को उत्तम मानते है, जो कमसे कम शासन करता है। साम्यवादी दर्शन के अनुसार समाज का अंतिम रूप वह होगा, जिसमें 'राज्य का अंत हो जाएगा।' परन्तु रूस के सर्व-सत्ताधारी राज्य में राज्य के हाथ में सारी सत्ता केन्द्रित हो गई है। यह विश्वास करना कठिन है कि रूस में किसी भी समय राज्य का अंत होगा। महात्मा गांधी व्यावहारिक आदर्शवादी थे। वे राज्य-रहित लोकतंत्र के आदर्श की व्यावहारिक उपयोगिता को समझते थे, इसलिए उन्होंने हमारे समक्ष ग्राम-स्वराज्य का विचार प्रस्तुत किया। ग्राम-स्वराज्य में 'राज्य का अंत नहीं होता' परन्तु 'राज्य का विकेन्द्रीकरण होता है।' इस प्रकार ग्राम-स्वराज्य एक ऐसा आदर्श है, जिसे सिद्ध किया जा सकता है; वह 'राज्य के अंत' जैसा बहुत दूर का लक्ष्य नहीं है।

आधुनिक लोकतंत्रों में चुनावों की प्रधानता होती है, पार्टियों का प्रभुत्व होता है, एकमात्र लक्ष्य सत्ताप्राप्ति का होता है और सारा शासन-तंत्र अत्यंत अटपटी केन्द्रित पद्धति से चलाया जाता है। आज की लगभग समूची राजनीतिक पद्धतियों का – फिर वे पूंजीवादी हों, समाजवादी हों अथवा साम्यवादी हों – प्रधान लक्षण सत्ता का केन्द्रीकरण है; इन पद्धतियों के मातहत चलने वाले राज्यतंत्र ऐसे विशाल बन जाते हैं कि उनकी व्यवस्था कठिन हो जाती है और ऊपर से वे भारी-भरकम बन जाते हैं। व्यक्तियों का उनमें कोई महत्त्व नहीं होता, यद्यपि मतदाताओं के नाते उन्हें स्वामी कहा जाता है। समय समय पर जो चुनाव होते हैं उनमें अपना मत देने के लिए व्यक्ति उपस्थित होते हैं और फिर अगले चुनाव तक के लिए लम्बी तानकर सो जाते हैं। एकमात्र यही ऐसा राजनीतिक कार्य है, जो आधुनिक लोकतंत्र में अमुक निर्धारित समय में व्यक्ति एक बार करता है। यह कार्य व्यक्ति एक केन्द्रित पार्टी-पद्धति के आदेशों तथा समाचार-पत्रों के मार्गदर्शन के अनुसार मजबूर होकर करता है; और ये समाचार-पत्र मुख्यतः केन्द्रित आर्थिक सत्ताधारियों के हाथ के खिलौने होते हैं। व्यक्ति का सरकार की नीतियों के निर्माण में बहुत

थोड़ा या बिलकुल हाथ नहीं होता। किसी कल्याणकारी राज्य या सर्वसत्ताधारी राज्य में व्यक्ति मानव का रूप रखते हुए भी एक सुपोषित, मूक तथा राज्य-संचालित पशु बन जाता है।

गांधीजी चाहते थे कि भारत में सच्चे लोकतंत्र की स्थापना हो। इसलिए उन्होंने कहा था : "सच्चा लोकतंत्र केन्द्र में बैठे हुए बीस व्यक्तियों द्वारा नहीं चलाया जा सकता। उसे प्रत्येक गाँव के लोगों को नीचे से चलाना होगा।" ग्राम-स्वराज्य में गाँव संपूर्ण सत्ताएँ भोगने वाला एक विकेन्द्रित राजनीतिक घटक होगा, इसलिए प्रत्येक व्यक्ति का सरकार अथवा शासन में सीधा हाथ होगा। व्यक्ति अपनी सरकार का निर्माता होगा। गाँव का शासन चलाने के लिए प्रतिवर्ष गाँव के पाँच व्यक्तियों की एक पंचायत चुनी जाएगी। इसके लिए एक अल्पतम निर्धारित योग्यता वाले गाँव के वयस्क स्त्री-पुरुषों को अपने पंच चुनने का अधिकार होगा। इस पंचायत को सब प्रकार की आवश्यक सत्ताएँ और अधिकार प्राप्त होंगे। इस ग्राम-स्वराज्य में दंड की कोई प्रथा नहीं होगी, इसलिए यह पंचायत धारासभा, न्यायसभा और व्यवस्थापिका सभा तीनों का कार्य संयुक्त रूप में करेगी।

ऐसी शासन-पद्धति में नागरिक सत्ता-नियंत्रित न होकर स्वयं-नियंत्रित होंगे; वे प्रत्येक कार्य अपनी सूझ-बूझ से करेंगे और जीवन की सारी बातों के लिए सरकार की ओर ताकने वाले न होकर नागरिक उत्तरदायित्व की उच्च विकसित भावना रखने वाले होंगे।

सच्चा लोकतंत्र अर्थात् स्वराज्य व्यक्ति की पूर्ण स्वतंत्रता और विकास के लिए कार्य करता है; यह व्यक्ति ही किसी सच्ची राजनीतिक पद्धति का अंतिम प्रेरक बल होता है।

इस प्रकार गांधीजी की कल्पना का ग्राम-स्वराज्य एक सच्चा और शक्तिशाली लोकतंत्र है, जो आजकी शासन-पद्धतियों के साथ जुड़ी हुई अनेक राजनीतिक बुराइयों का रामबाण इलाज है। ऐसा सच्चा विकेन्द्रित लोकतंत्र संपूर्ण मानव-जाति के लिए आशा का उदात्त संदेश देने वाला होगा।

गांधीजी की दृष्टि में राजनीतिक सत्ता अपने-आप में कोई साध्य नहीं थी, परन्तु लोगों के लिए जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अपनी स्थिति सुधारने की क्षमता प्राप्त करने का एक साधनमात्र थी। इसलिए अपने प्रसिद्ध 'आखिरी वसीयतनामे' में गांधीजीने कहा था कि भारतने राजनीतिक स्वतंत्रता तो प्राप्त कर ली है, लेकिन उसे "अभी शहरों और कस्बों से भिन्न अपने सात लाख गाँवों के लिए सामाजिक,

आर्थिक और नैतिक स्वतंत्रता प्राप्त करना बाकी है।" उस वसियतनामे में ग्राम-स्वराज्य अर्थात् पंचायत-राज का चित्र और कार्यक्रम प्रस्तुत किया गया है, जो दूसरे शब्दों में संपूर्ण राजनीतिक सत्ता भोगने वाला एक अहिंसक, स्वावलम्बी और स्वयंपूर्ण आर्थिक घटक है। गांधीजी की कल्पना का ग्राम-स्वराज्य मानव-केन्द्रित है, जब कि पश्चिमी अर्थ-व्यवस्था धन-केन्द्रित है। पहली अर्थ-व्यवस्था जीवन की अर्थ-व्यवस्था है और दूसरी मृत्यु की अर्थ-व्यवस्था है।

गांधीजी की कल्पना के ग्राम-स्वराज्य की योजना में ग्रामसेवक का स्वभावतः केन्द्रीय स्थान होगा। उसके कर्तव्यों के विषय में गांधीजी कहते हैं कि ग्रामसेवक गाँवों का इस प्रकार से संगठन करेगा कि वे खेती और ग्रामोद्योगों के द्वारा स्वयंपूर्ण और स्वावलम्बी बन जाएँ; वह ग्रामवासियों को स्वास्थ्य और सफ़ाई की तालीम देगा तथा इस बात की हर तरह से सावधानी रखेगा कि उनका स्वास्थ्य बिगड़ने न पाये और उन पर रोगों का आक्रमण न हो; साथ ही गाँव के लोगों को नई तालीम के आधार पर जन्म से मृत्यु तक की शिक्षा देने की व्यवस्था करेगा।

विश्वशांति की आकांक्षा रखने वाले संसार के राजनीतिज्ञ ऊपर से नीचे की ओर जाने वाली योजना बनाने की बात सोचते हैं, जब कि गांधीजी की सारी योजना नीचे से ऊपर की दिशा में काम करने की थी। इसलिए उन्होंने कहा है : "स्वतंत्रता नीचे से आरंभ होनी चाहिए। इस प्रकार प्रत्येक गाँव एक प्रजातंत्र अथवा पंचायत होगा, जिसके हाथ में संपूर्ण सत्ता होगी। इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक गाँव को स्वाश्रयी और आत्म-निर्भर बनना होगा तथा अपने सारे कामकाज की व्यवस्था स्वयं करने की योग्यता प्राप्त करनी होगी। वहाँ तक कि सारी दुनिया से अपनी रक्षा करने की क्षमता भी उसे प्राप्त करनी होगी। प्रत्येक गाँव को ऐसी तालीम देनी होगी और इस तरह तैयार करना होगा कि वह किसी भी बाहरी आक्रमण से अपनी रक्षा करने के प्रयत्न में अपने-आपको मिटा सके। इस प्रकार अंत में व्यक्ति ही गाँव का घटक यानी आधार होगा।" गांधीजी की दृष्टि में "स्वराज्य का अर्थ है सरकार के नियंत्रण से स्वतंत्र रहने का निरंतर प्रयास, फिर वह विदेशी सरकार हो या राष्ट्रीय सरकार। यदि देश के लोग जीवन की हर बात की व्यवस्था और नियमन के लिए स्वराज्य-सरकार की ओर ताकने लगें, तब तो उस सरकार का कोई अर्थ नहीं रह जाएगा।" ग्राम-स्वराज्य में अंतिम सत्ता व्यक्ति के हाथ में रहेगी। व्यक्ति यदि वास्तव में 'ग्राम-स्वराज्य' का आदर्श सिद्ध हुआ देखना चाहता है, तो उसे सर्वप्रथम 'स्व-राज्य' सिद्ध करना

चाहिए। 'यथा पिन्डे तथा ब्रह्मान्डे'। इस प्रकार 'ग्राम-स्वराज्य' 'स्व-राज्य' की उस भावना का प्रतीक होगा, जिसे ग्राम-स्वराज्य के अभिन्न अंग बने हुए व्यक्ति अपने दैनिक जीवन में प्रकट करेंगे। इसलिए ग्रामसेवक को सबसे पहले ग्रामवासियों की सच्ची शिक्षा पर अपना ध्यान केन्द्रित करना होगा। वह शिक्षा व्यक्ति के मस्तिष्क, हृदय और हाथ का सामंजस्यपूर्ण विकास साधने वाली होनी चाहिए। नई तालीम गांधीजी की तपस्या का सुफल है। वे मस्तिष्क, हृदय और हाथ के सामंजस्यपूर्ण विकास के मूर्तिमंत उदाहरण थे। नई तालीम की संपूर्ण योजना अहिंसा की भावना से ओतप्रोत है। उसका उद्देश्य हस्त-उद्योग द्वारा बालक के शरीर, मन और आत्मा का सर्वांगीण विकास साधना है। नई तालीम के सिद्धांतो के अनुसार सच्ची शिक्षा प्राप्त किया हुआ नागरिक ग्राम-स्वराज्य के निर्माण में बहुत बड़ी सहायता करेगा।

ग्राम-स्वराज्य ऐसी सरल और सादी ग्राम-अर्थव्यवस्था है, जिसका केन्द्र मनुष्य है, जो शोषण-रहित है और विकेन्द्रित है। वह स्वेच्छापूर्ण सहयोग के आधार पर अपने हर नागरिक को पूरा काम देने का प्रबंध करती है और जीवन की अन्न-वस्त्र की प्राथमिक आवश्यकताओं तथा अन्य आवश्यकताओं के विषय में स्वावलम्बन सिद्ध करने का प्रयत्न करती है।

आज की सारी अर्थ-व्यवस्थाओं का मूल भोग-विलास, आवश्यकताओं की वृद्धि और नीति-विहीन अर्थशास्त्र में है, इसलिए वे विशाल पैमाने के यंत्रप्रधान, केन्द्रित और अटपटे संगठनों का रूप ग्रहण कर लेती है। वे बेकारी, अर्ध-बेकारी, गरीबी, कंगाली, शोषण, बाजार हथियाने की उन्मत्त दौड़ तथा कच्चे माल के लिए दूसरे देशों पर अधिकार जमाने की लालसा आदि दोषों से दूषित हो जाती हैं। ऐसी अर्थ-व्यवस्थाएँ जिन भयंकर प्रतिस्पर्धाओं, संघर्षो और वर्ग-विग्रहों को जन्म देती हैं, वे समाज के शरीर को धुन की तरह कुरेद कर खा जाते हैं। वे व्यक्ति को गुलाम बना देती हैं, मानव को यंत्र के लिए खुराक मुहैया करने वाला एक साधन मानती हैं और इस तरह उसे यंत्र के साथ जुड़े हुए एक पुर्जे की स्थिति में डाल देती हैं। कारखानों में निरंतर एक ही प्रकार का काम करते करते मनुष्य की आत्मा मर जाती है और उसकी सूक्ष्म उदात्त भावनाएँ नष्ट हो जाती है। इसके फलस्वरूप वह मनोरंजन के लिए नैतिक पतन करने वाले सिनेमा गृहों, शराब की दुकानों और वेश्यालयों की शरण लेता है और इस प्रकार कारखाने के थकाने और ऊबाने वाले काम की क्रूरता से भागने का मिथ्या प्रयत्न करता है। आज का

समाज विशेष अधिकारों से युक्त और ऐसे अधिकारों से वंचित वर्गो के बीच, धनी और निर्धन के बीच विभाजित हो गया है। आज समाज में जो अभूतपूर्व आर्थिक असमानता दिखाई देती है, उसमें लखपति और करोड़पति तो वैभव-विलास की गोद में निरुद्देश्य और ध्येयहीन जीवन बिताते हैं और कड़ा परिश्रम करने वाले श्रमिकों को भरपेट भोजन भी नसीब नहीं होता। यंत्रोद्योगों की दृष्टि से बहुत आगे बढ़े हुए अमेरिका और इंग्लैंड जैसे समृद्ध माने जाने वाले देश भी अभी तक बेकारी की समस्या हल नहीं कर पाये हैं। भारत के सामने तो यह समस्या अनंत गुने अधिक भयंकर रूप में मुँह बाये खड़ी है – जिसके अनादि काल से मुख्यतः खेती पर निर्वाह करने वाले करोड़ो लोग सात लाख गाँवों में फैले हुए हैं।

ग्राम-स्वराज्य गांधीजी की आजीवन शोध का परिणाम है, जो भारत के लाखों भूखों मरने वाले लोगों के साथ एकरूप हो गए थे। उन्हों ने भारत की सारी बुराइयों के रामबाण उपाय के रूप में ग्राम-स्वराज्य की योजना हमारे सामने रखी है – यह योजना सारे संसार के लिए भी उतनी ही परिणामकारी सिद्ध हो सकती है, जिसके आज तक के इतिहास में किसानों को सर्वत्र शोषण और भुखमरी का शिकार होना पड़ा है। अपने ता॰ ५-१०-१९४५ के पत्र में गांधीजीने पंडित नेहरू को (हिन्दी में) लिखा था :

> “मैं यह मानता हूँ कि अगर हिन्दुस्तान को सच्ची आज़ादी पानी है और हिन्दुस्तान के मारफत दुनिया को भी, तब आज नहीं तो कल देहातों में ही रहना होगा; झोंपड़ियों में, महलों में नहीं। कई अरब आदमी शहरों में और महलों में सुख से और शांति से कभी नहीं रह सकते। न एक दूसरे का खून करके यानी – हिंसा से, न झूठ से – यानी असत्य से।
>
> “सिवाय इक जोड़ी के (यानी सत्य और अहिंसा) मनुष्य जाति का नाश ही है, इसमें मुझे जरा-सा भी शक नहीं हैं। उस सत्य और अहिंसा का दर्शन हम देहातों की सादगी में ही कर सकते हैं। वह सादगी चरखा में और चरखा में जो चीज़ भरी है उसी पर निर्भर है। मुझे कोई डर नहीं है कि दुनिया उल्टी ओर ही जा रही दिखती है। यों तो पतंगा जब अपने नाश की ओर जाता है, तब सबसे ज़्यादा चक्कर खाता है और चक्कर खाते खाते जल जाता है। हो सकता है कि हिन्दुस्तान इस पतंग के चक्कर में से न बच सके। मेरा फर्ज है कि आखिर दम तक उसमें से उसे (हिन्दुस्तान को) और उसके मारफत जगत को बचाने की कोशिश करूँ।

"मेरे कहने का निचोड़ यह है कि मनुष्य-जीवन के लिए जितनी ज़रूरत की चीज़ है, उस पर निजी काबू रहना ही चाहिए – अगर न रहे तो व्यक्ति बच ही नहीं सकती है। आखिर तो जगत व्यक्तियों का ही बना है। बिंदु नहीं है तो समुद्र नहीं है।"

इस तरह गांधीजी मानते थे कि मनुष्य को सरल और सादा जीवन जीना चाहिए और स्वेच्छा से गरीबी का व्रत लेना चाहिए। इसका यह अर्थ नहीं कि मनुष्य जीवन की सामान्य सुख-सुविधाओं का उपभोग न करे। गांधीजी कहते थे कि प्रत्येक मनुष्य को संतुलित आहार, आवश्यक कपड़े और सुविधापूर्ण मकान मिलना ही चाहिए। उनका विश्वास था कि प्रत्येक प्राणी को भोजन पाने का अधिकार है। एक अवसर पर उन्होंने कहा था: "मेरी राय में भारत की और इसलिए सारे विश्व की आर्थिक रचना ऐसी होनी चाहिए कि उसमें किसी मनुष्य को भोजन और वस्त्र के अभाव का कष्ट न भोगना पड़े। दूसरे शब्दों में, उसमें प्रत्येक मानव को पूरा काम मिलना चाहिए, ताकि वह अपना निर्वाह भलीभ्राँति कर सके। और यह ध्येय सर्वत्र तभी सिद्ध किया जा सकता है जब जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं के उत्पादन के साधन जन-साधारण के हाथों में हों। ये साधन सब मनुष्यों के लिए उसी तरह बिना मूल्य सुलभ होने चाहिए, जिस तरह ईश्वर की उत्पन्न की हुई हवा और पानी सबके लिए सुलभ हैं या होने चाहिए। दूसरों का शोषण करने के लिए इन साधनों को व्यापार की वस्तु नहीं बनाना चाहिए। उन पर किसी देश, राष्ट्र अथवा समूह का एकाधिकार अन्यायपूर्ण माना जाना चाहिए। इस सादे सिद्धांत की उपेक्षा करने से ही वह गरीबी और कंगाली पैदा हुई है, जो आज हम न केवल अपने इस अभागे देश में परन्तु संसार के अन्य भागों में भी देख रहे हैं।"

गांधीजी का कहना था कि देश के हर नागरिक को पूरा काम देने वाली अर्थ-व्यवस्था खड़ी करने के लिए हमें उद्योगवाद का, केन्द्रित उद्योगधंधो का और अनावश्यक यंत्रो का त्याग करना होगा। शहरों को वे गाँवों के शोषण का साधन मानते थे। उन्होंने शहरों को राष्ट्र के समाज शरीर को पीड़ा और कष्ट देने वाले फोड़े भी कहा है। वे कहते थे कि भावी विश्व-व्यवस्था की उज्जवल आशा गाँवों पर अर्थात् सहकारी समाजों पर निर्भर करती है, जहाँ किसी तरह की मजबूरी नहीं है; किसी प्रकार का बल-प्रयोग नहीं है; बल्कि सारे काम ऐच्छिक सहयोग के आधार पर चलते हैं। ग्राम-स्वराज्य की संपूर्ण रचना में प्रेम का साम्राज्य होने के कारण उसमें ऊँच-नीच का कोई भेद नहीं है। सब कोई समान हैं। ऐसे ग्राम-स्वराज्य

में न तो जातियाँ होंगी, न वर्ग होंगे; न अस्पृश्यता रहेगी, न हिन्दू-मुसलमानों के झगड़े रहेंगे। उसमें सारे व्यक्तियों को अपनी स्वाभाविक प्रतिष्ठा और स्वाभाविक सम्मान पुनः प्राप्त होगा।

जब ग्राम-स्वराज्य का आदर्श अपनी सोलहों कलाओं में खिल उठेगा तब वह संसार के लिए एक अनुकरणीय उदाहरण बन जाएगा। तब वह संसार के लिए भारत का एक मंगल वरदान सिद्ध होगा। और उसके बाद संसार के स्वयं-शासित ग्राम-घटक अत्यंत सुसंस्कृत, बुद्धिशाली तथा शक्तिसंपन्न स्त्री-पुरुषों के जीवंत भ्रातृभाव के सुंदर प्रतीक बन जाएँगे। ऐसे समाज में रहकर मानव उदात्त शिक्षा प्राप्त करेगा और जीवन की कृतार्थता अनुभव करेगा। ऐसे समाज के जीवन में मनुष्य की संपूर्ण शक्तियों और प्रतिभाओं की अभिव्यक्ति का अवसर मिलेगा तथा परस्पर आदरभाव के आदान-प्रदान का और एक-दूसरे की सेवा द्वारा प्रकट होने वाले प्रेम का पुण्य दर्शन होगा। ऐसे समाज में संस्कृति, कला, काव्य और विज्ञान का विकास चरम सीमा को पहुँचेगा | वह इस धरती पर प्रभु का राज्य होगा।

ग्राम-स्वराज्य में इतनी ऊँची संभावनाएँ और शक्तियाँ भरी है। उसे गतिशील और वास्तविक बनाना हम सबका काम है। राष्ट्रपिता के उत्तराधिकारीयों के नाते, जिन्हें उनकी समृद्ध और अमर विरासत पाने का सौभाग्य मिला है, हमारा यह कर्तव्य है कि हम उनके इस स्वप्न को पूरा करें। इसलिए हमारी राज्य-सरकारों ने विशाल सत्ताएँ धारण करने वाली ग्राम-पंचायतों को जन्म देने के लिए जो कानून बनाए हैं, वे सर्वथा सही और उपयुक्त हैं। हम आशा करते हैं कि ये ग्राम-पंचायतें गांधीजी की कल्पना के ग्राम-स्वराज्य का चित्र अपने सामने हमेशा रखेंगी और उनके बताए हुए मार्ग पर चलकर अपना काम करेंगी।

गांधीजीने जिस भावना से ग्राम-स्वराज्य की कल्पना की है, उसी भावन से उस पर अमल भी किया जाना चाहिए। जिन लोगों के हाथ में ग्राम पंचायतों के संचालन की ज़िम्मेदारी होगी उनके भीतर यदि निःस्वार्थ सेव और जाति, धर्म या वर्ग की मर्यादाओं से परे रहने वाले प्रेम की भावन नहीं होगी, तो हमें ग्राम-स्वराज्य के वे मीठे फल चखने को नहीं मिलेंगे जिनकी अपेक्षा गांधीजीने रखी थी।

ग्राम-व्यवस्थाओं के संबंध में पंडित नेहरू के ये शब्द हमें सदा याद रखने चाहिए : “कोई व्यक्ति या समूह जितना अधिक अपना ही विचार करेगा, उतना ही अधिक खतरा उस व्यक्ति के अथवा समूह के स्व-केन्द्रित, स्वार्थी और संकुचित बन जाने का रहेगा।”[५] आज हमारे गाँव सामाजिक फूट, जातिवाद

और संकुचित दृष्टि के दोषों से कष्ट भोग रहे हैं। ग्राम-पंचायतों को सफल बनाने का मार्ग गुलाब के फूलों से छाया हुआ नहीं है। इस कार्य में ग्रामनेताओं से सच्ची सेवा-भावना की अपेक्षा रखी जाती है। भगवान करे हमारी प्राचीन भूमि अपने समक्ष आए हुए इस अवसर को पहचान कर भारत के 'मिशन' को सफल बनाएँ और इस प्रकार सारे विश्व के कल्याण के लिए कार्य करने का सच्चा सुयश प्राप्त करे !

इस संग्रह में महात्मा गांधी की पुस्तकों, लेखों और भाषणों से ऐसे उदाहरण एकत्र करने का नम्र प्रयत्न किया गया है, जिनका संबंध ग्राम-स्वराज्य के विषय के साथ है। उदाहरणों को ऐसे क्रम में रखने का यथासंभव प्रयास किया गया है, जिससे विचारों की श्रृंखला टूटने न पाये।

श्री श्रीमन्नारायणजीने इस संग्रह के लिए जो प्राक्कथन लिख दिया है, उसके लिए मैं हृदय से उनका आभारी हूँ।

१५-७-१९६३ **हरिप्रसाद व्यास**

---

१. दि आइडियल ओफ ह्यूमन यूनिटी।

२. वन वर्ल्ड इन्डिया – टोयनबीके सब उद्धरण इसी पुस्तक से लिए गए हैं।

३. रिकन्स्ट्रक्शन ओफ ह्युमेनिटी।

४. ग्लिम्पसेज़ ओफ वर्ल्ड हिस्ट्री।

५. ग्लिम्पसेज़ ओफ वर्ल्ड हिस्ट्री।

अनुक्रमणिका

प्रकाशक का निवेदन

प्राक्कथन श्रीमन्नारायण

भूमिका

१ स्वराज्य का अर्थ

२ आदर्श समाज का चित्र

३ आशा का एकमात्र मार्ग

४ शहर और गाँव

५ ग्राम-स्वराज्य

६ ग्राम-स्वराज्य के बुनियादी सिद्धांत

१. मानव का सर्वोच्च स्थान — पूरा काम

२. शरीर-श्रम

३. समानता

४. संरक्षकता

५. विकेन्द्रीकरण

६. स्वदेशी

७. स्वावलम्बन

८. सहयोग

९. सत्याग्रह

१०.सब धर्मो की समानता

११.पंचायत राज

१२.नई तालीम

७ शरीर-श्रम

८ समानता

९ संरक्षकता का सिद्धांत

१० स्वदेशी की भावना

११ स्वावलम्बन और सहयोग

१२ पंचायत राज

१३ नई तालीम

१४ खेती और पशुपालन-१

१५ खेती और पशुपालन-२

१६ खेती और पशुपालन-३

१७ खेती और पशुपालन-४

१८ खेती और पशुपालन-५

१९ खादी और कताई

२० अन्य ग्रामोद्योग

दूध का उद्योग

हाथकुटा चावल और हाथपिसा आटा

मिल का तेल और धानी का तेल

गुड़ और खांड़सारी

मधुमक्खी-पालन

चमड़े का धंधा

साबुन

हाथ-बना कागज़

स्याही

२१ गाँवों का यातायात

२२ मुद्रा, विनिमय और कर

२३ गाँवों की सफाई

२४ गाँवों का स्वास्थ्य

२५ आहार

२६ गाँव की रक्षा

२७ ग्रामसेवक

२८ सरकार और गाँव

२९ भारत और विश्व

पाठकों से

मेरे लेखों का मेहनत से अध्ययन करने वालों और उनमें दिलचस्पी लेने वालों से मैं यह कहना चाहता हूँ कि मुझे हमेशा एक ही रूप में दिखाई देने की कोई परवाह नहीं है। सत्य की अपनी खोज़ में मैंने बहुत से विचारों को छोड़ा है और अनेक नई बातें मैं सीखा भी हूँ। उमर में भले ही मैं बूढ़ा हो गया हूँ, लेकिन मुझे ऐसा नहीं लगता कि मेरा आंतरिक विकास होना बंद हो गया है या देह छूटने के बाद मेरा विकास बंद हो जाएगा। मुझे एक ही बात की चिंता है, और वह है प्रतिक्षण सत्य-नारायण की वाणी का अनुसरण करने की मेरी तत्परता। इसलिए जब किसी पाठक को मेरे दो लेखों में विरोध जैसा लगे, तब अगर उसे मेरी समझदारी में विश्वास हो तो वह एक ही विषय पर लिखे हुए दो लेखों में से मेरे बाद के लेख को प्रमाणभूत माने।

हरिजनबंधु, ३०-४-१९३३ **गांधीजी**

१. स्वराज्य का अर्थ

स्वराज्य एक पवित्र शब्द है; वह एक वैदिक शब्द है, जिसका अर्थ आत्म-शासन और आत्म-संयम है। अंग्रेजी शब्द 'इन्डिपेन्डेन्स' अकसर सब प्रकार की मर्यादाओं से मुक्त निरंकुश आज़ादी का या स्वच्छंदता का अर्थ देता है; वह अर्थ स्वराज्य शब्द में नहीं है। [यंग इंडिया, १९-३-१९३१, पृ. ३८]

जिस प्रकार हर देश खाने-पीने और साँस लेने के लायक है, उसी प्रकार हर राष्ट्र को अपना कारबार चलाने का पूरा अविकार है, फिर वह कितनी ही बुरी तरह क्यों न चलावे। [यंग इंडिया, १५-१०-१९३१, पृ. ३०५]

स्वराज्य से मेरा अभिप्राय है लोक-सम्मति के अनुसार होने वाला भारत वर्ष का शासन। लोक-संमति का निश्चय देश के बालिग लोगों की बड़ी से बड़ी तादाद के मत के द्वारा हो, फिर वे चाहे स्त्रियाँ हों या पुरुष, इसी देश के हों या इस देश में आकर बस गए हों। ये लोग ऐसे हों जिन्हों ने अपने शारीरिक श्रम के द्वारा राज्य की कुछ सेवा की हो और जिन्हों ने मतदाताओं की सूची में अपना नाम लिखवा लिया हो। . . . सच्चा स्वराज्य थोड़े लोगों के द्वारा सत्ता प्राप्त कर लेने से नहीं, बल्कि जब सत्ता का दुरुपयोग होता हो तब सब लोगों के द्वारा उसका प्रतिकार करने की क्षमता प्राप्त करके हासिल किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, स्वराज्य जनता में इस बात का ज्ञान पैदा करके प्राप्त किया जा सकता है कि सत्ता पर अधिकार कस्ने और उसका नियमन करने की क्षमता उसमें हैं। [हिन्दी नवजीवन, २९-१-१९२५, पृ. १९८]

राजनीतिक स्वतंत्रता से मेरा यह मतलब नहीं कि हम ब्रिटेन की लोकसभा की, या रूस के सोवियट शासन की, या इटली के फासिस्ट शासन की अथवा जर्मनी के नाजी शासन की नकल करें। उन देशों की शासन पद्धतियाँ उनकी अपनी प्रकृति के अनुरूप हैं। हमारी शासन-पद्धति हमारी प्रजा की प्रकृति के अनुरूप होनी चाहिए। वह पद्धति क्या हो सकती है, यह कहना मेरे लिए कठिन है। मैंने उसे रामराज्य कहा है। राम-राज्य का अर्थ है शुद्ध नैतिक सत्ता के आधार पर स्थापित जनता की सार्वभौम सत्ता। [हरिजन, २-१-१९३७, पृ. ३७४]

आखिर स्वराज्य निर्भर करता है हमारी आंतरिक शक्ति पर, बड़ी से बड़ी कठिनाइयों से जूझने की हमारी ताकत पर। सच पूछो तो वह स्वराज्य, जिसे पाने के लिए अनवरत प्रयत्न और सुरक्षित रखने के लिए सतत जागृति नहीं चाहिए, स्वराज्य कहलाने के लायक ही नहीं है। जैसा कि आपको मालूम है, मैंने वचन और कार्य से यह दिखलाने की कोशिश की है कि स्त्री-पुरुषों के विशाल समूह का राजनीतिक स्वराज्य एक एक शख्स के अलग-अलग स्वराज्य से कोई ज़्यादा अच्छी चीज़ नहीं है और इसलिए उसे पाने का तरीका वही है जो एक एक आदमी के आत्म-स्वराज्य या आत्म-संयम का है। [हिन्दी नवजीवन, ८-१२-१९२७, पृ. १२६]

स्वराज्य का अर्थ है सरकारी नियंत्रण से मुक्त होने के लिए लगातार प्रयत्न करना, फिर वह नियंत्रण विदेशी सरकार का हो या स्वदेशी सरकार का। यदि स्वराज्य हो जाने पर लोग अपने जीवन की हर छोटी बात के नियमन के लिए सरकार का मुँह ताकना शुरू कर दें, तो वह स्वराज्य-सरकार किसी काम की नहीं होगी। [यंग इंडिया, ६-८-१९२५, पृ. २७६]

मेरा स्वराज्य तो हमारी सभ्यता की आत्मा को अक्षुण्ण रखना है। मैं बहुत सी नई चीज़ें लिखना चाहता हूँ, पर वे तमाम हिन्दुस्तान की स्लेट पर लिखी जानी चाहिए। हाँ, मैं पश्चिम से भी खुशी से उधार लूँगा, पर तभी जब कि मैं उसे अच्छे सूद के साथ वापस कर सकूँ। [यंग इंडिया, २६-६-१९२४, पृ. २१०]

स्वराज्य की रक्षा केवल वहीं हो सकती है, जहाँ देशवासियों की ज़्यादा बड़ी संख्या ऐसे देशभक्तों की हो, जिनके लिए दूसरी सब चीज़ों से – अपने निजी लाभ से भी – देश की भलाई का ज़्यादा महत्त्व हो। स्वराज्य का अर्थ है देश की बहुसंख्यक जनता का शासन। जाहिर है कि जहाँ बहुसंख्यक जनता नीतिभ्रष्ट हो या स्वार्थी हो, वहाँ उसकी सरकार अराजकता की ही स्थिति पैदा कर सकती है, दूसरा कुछ नहीं। [यंग इंडिया, २८-७-१९२१, पृ. २३८]

मेरे. . . हमारे. . . सपनों के स्वराज्य में जाति (रेस) या धर्म के भेदों को कोई स्थान नहीं हो सकता। उस पर शिक्षितों या धनवानों का एकाधिपत्य नहीं होगा। वह स्वराज्य सब के लिए – सबके कल्याण के

लिए होगा । सबकी गिनती में किसान तो आते ही हैं, किन्तु लूले, लंगड़े, अँधे और भूख से मरने वाले लाखों-करोड़ों मेहनतकश मज़दूर भी अवश्य आते हैं। [यंग इंडिया, १-५-१९३०, पृ. १४९]

कुछ लोग ऐसा कहते है कि भारतीय स्वराज्य तो ज़्यादा संख्या वाले समाज का यानी हिन्दुओं का ही राज्य होगा। इस मान्यता से ज़्यादा बड़ी कोई दूसरी गलती नहीं हो सकती। अगर यह सही सिद्ध हो तो अपने लिए मैं ऐसा कह सकता हूँ कि मैं उसे स्वराज्य मानने से इनकार कर दूँगा और अपनी सारी शक्ति लगाकर उसका विरोध करूँगा। मेरे लिए हिंद स्वराज्य का अर्थ सब लोगों का राज्य, न्याय का राज्य है। [यंग इंडिया, १६-४-१९३१, पृ. ७८]

अगर स्वराज्य का अर्थ हमें सभ्य बनाना और हमारी सभ्यता को अधिक शुद्ध तथा मज़बूत बनाना न हो, तो वह, किसी क़ीमत का नहीं होगा। हमारी सभ्यता का मूल तत्त्व ही यह है कि हम अपने सब कामों में, वे निजी हों या सार्वजनिक, नीति के पालन को सर्वोच्च स्थान देते हैं। [यंग इंडिया, २३-१-१९३०, पृ. २६]

पूर्ण स्वराज्य – 'पूर्ण' कहने में आशय यह है कि वह जितना किसी राजा के लिए होगा उतना ही किसान के लिए, जितना किसी धनवान ज़मींदार लिए होगा उतना ही भूमिहिन खेतिहर के लिए, जितना हिन्दुओं के लिए होगा उतना ही मुसलमानों के लिए, जितना जैन, यहूदी और सिख लोगों के लिए होगा उतना ही पारसियों और ईसाइयों के लिए। उसमें जाति-पांति, धर्म या दरजे के भेदभाव के लिए कोई स्थान नहीं होगा। [यंग इंडिया, ५-३-१९३१, पृ. १]

स्वराज्य शब्द का अर्थ स्वयं और उसकी प्राप्ति के साधन अर्थात् सत्य और अहिंसा – जिनका पालन करने के लिए हम प्रतिज्ञाबद्ध हैं – ऐसी किसी संभावना को असंभव सिद्ध करते हैं कि हमारा स्वराज्य किसीके लिए तो अधिक होगा और किसीके लिए कम, किसीके लिए लाभकारी होगा और किसीके लिए हानिकारी या कम लाभकारी। [यंग इंडिया, ५-३-१९३१, पृ. १]

मेरे सपने का स्वराज्य तो गरीबों का स्वराज्य होगा। जीवन की जिन आवश्यकताओं का उपभोग राजा और अमीर लोग करते हैं, वही आपको भी सुलभ होनी चाहिए; इसमें किसी फर्क के लिए स्थान नहीं हो सकता। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि हमारे पास उनके जैसे महल होने चाहिए। सुखी जीवन

के लिए महलों की कोई आवश्यकता नहीं। हमें महलों में रख दिया जाए तो हम धबड़ा जाएँ। लेकिन आपको जीवन की वे सामान्य सुविधाएँ अवश्य मिलनी चाहिए, जिनका उपभोग अमीर आदमी करता है। मुझे इस बात में बिलकुल संदेह नहीं है कि हमारा स्वराज्य तब तक पूर्ण स्वराज्य नहीं होगा, जब तक वह आपको ये सारी सुविधाएँ देने की पूरी व्यवस्था नहीं कर देता। [यंग इंडिया, २६-३-१९३१, पृ. ४६-४७]

पूर्ण स्वराज्य का अर्थ है भारत के नर-कंकालों का उद्धार। पूर्ण स्वराज्य ऐसी स्थिति का द्योतक है, जिसमें गूंगे बोलने लगते हैं और लंगड़े चलने लगते हैं। [यंग इंडिया, २६-३-१९३१, पृ. ५१]

सत्य और अहिंसा के जरिए संपूर्ण स्वतंत्रता की प्राप्ति का मतलब है जात-पांत, वर्ण या धर्म के भेद से रहित राष्ट्र के प्रत्येक घटक की और उसमें भी उसके गरीब से गरीब व्यक्ति की स्वतंत्रता की सिद्धि। इस स्वतंत्रता से किसी को भी दूर या अलग नहीं रखा जा सकता। इसलिए अपने राष्ट्र से बाहर के दूसरे राष्ट्रों के साथ और राष्ट्र की जनता के भीतर उसके अलग अलग वर्गो के परस्परावलम्बन के साथ इस स्वतंत्रता का पूरा पूरा मेल रहेगा। अलबत्ता, जिस तरह हमारी खींची हुई कोई भी लकीर युक्लिड की शास्त्रीय व्याख्या की लकीर की तुलना में अधूरी रहेगी, उसी तरह तात्विक सिद्धांत की अपेक्षा उसका व्यावहारिक अमल अधूरा रहता है। इसलिए जिस हद तक हम सत्य और अहिंसा का अपने दैनिक जीवन में अमल करेंगे, उसी हद तक हमारी प्राप्त की हुई संपूर्ण स्वतंत्रता भी पूर्ण होगी। [रचनात्मक कार्यक्रम, १९५९, पृ. ९-१०]

यह सब इस बात पर निर्भर है कि पूर्ण स्वराज्य से हमारा आशय क्या है और उसके द्वारा हम पाना क्या चाहते है। अगर हमारा आशय यह है कि जनता में जागृति होनी चाहिए, उन्हें अपने सच्चे हित का ज्ञान होना चाहिए और सारी दुनिया के विरोध का सामना करके भी उस हित की सिद्धि के लिए कोशिश करने की योग्यता होनी चाहिए; और यदि पूर्ण स्वराज्य के द्वारा हम सुमेल, भीतरी या बाहरी आक्रमण से रक्षा और जनता की आर्थिक स्थिति में उत्तरोत्तर सुधार चाहते हों, तो हम अपना उद्देश्य राजनीतिक सत्ता के बिना ही, सत्ता जिनके हाथ में हो उन पर अपना सीधा प्रभाव डालकर, सिद्ध कर सकते हैं। [यंग इंडिया, १८-६-१९३१, पृ. १४७]

स्वराज्य की मेरी कल्पना के विषय में किसीको कोई गलतफहमी नहीं होनी चाहिए। उसका अर्थ विदेशी नियंत्रण से पूरी मुक्ति और पूर्ण आर्थिक स्वतंत्रता है। उसके दो दूसरे उद्देश्य भी हैं। एक छोर पर है नैतिक और सामाजिक उद्देश्य और दूसरे छोर पर इसी कक्षा का दूसरा उद्देश्य है धर्म। यहाँ धर्म शब्द का सर्वोच्च अर्थ अभीष्ट है। उसमें हिन्दू धर्म, इस्लाम धर्म, ईसाई धर्म आदि सब का समावेश होता है, लेकिन वह इन सब से ऊँचा है। . . . इसे हम स्वराज्य का समचतुर्भुज कह सकते हैं; यदि उसका एक भी कोण विषम हुआ, तो उसका रूप विकृत हो जाएगा। [हरिजन, २-१-१९३७, पृ. ३७४]

मेरी कल्पना का स्वराज्य तभी आएगा जब हमारे मन में यह बात अच्छी तरह जम जाए कि हमें अपना स्वराज्य सत्य और अहिंसा के शुद्ध साधनों द्वारा ही प्राप्त करना है, उन्हीं के द्वारा हमें उसका संचालन करना है और उन्हीं के द्वारा हमें उसे कायम रखना है। सच्ची लोकसत्ता या जनता का स्वराज्य कभी भी असत्यमय और हिंसक साधनों से नहीं आ सकता। कारण स्पष्ट और सीधा है: यदि असत्यमय और हिंसक उपायों का प्रयोग किया गया, तो उसका स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि सारा विरोध या तो विरोधियों को दबाकर या उनका नाश करके खतम कर दिया जाएगा। ऐसी स्थिति में वैयक्तिक स्वतंत्रता की रक्षा नहीं हो सकती। वैयक्तिक स्वतंत्रता को प्रगट होने का पूरा अवकाश केवल विशुद्ध अहिंसा पर आधारित शासन में ही मिल सकता है। [हरिजन, २७-५-१९६९ पृ. १४३]

अहिंसा पर आधारित स्वराज्य में लोगों को अपने अधिकारों का ज्ञान न हो तो कोई बात नहीं, लेकिन उन्हें अपने कर्तव्यों का ज्ञान अवश्य होना चाहिए। हरएक कर्तव्य के साथ उसकी तौलका अधिकार जुड़ा हुआ होता ही है, और सच्चे अधिकार तो वे ही है जो अपने कर्तव्यों का योग्य पालन करके प्राप्त किए गए हों। इसलिए नागरिकता के अधिकार सिर्फ उन्हीं को मिल सकते हैं जो जिस राज्य में रहते हों उसकी सेवा करते हों। और सिर्फ वे ही इन अधिकारों के साथ पूरा न्याय कर सकते हैं। हरएक आदमी को झूठ बोलने और गुंडागिरी करने का अधिकार है, किन्तु इस अधिकार का प्रयोग उस आदमी और समाज, दोनों के लिए हानिकर है। लेकिन जो व्यक्ति सत्य और अहिंसा का पालन करती है उसे प्रतिष्ठा मिलती है और इस प्रतिष्ठा के फलस्वरूप उसे अधिकार मिल जाते हैं। और जिन लोगों को अधिकार अपने कर्तव्यों के पालन के फलस्वरूप मिलते हैं, वे उनका उपयोग समाज की सेवा के लिए ही करते हैं, अपने लिए कभी नहीं। किसी राष्ट्रीय समाज के स्वराज्य का अर्थ उस समाज के

विभिन्न व्यक्तियों के स्वराज्य (अर्थात् आत्म-शासन) का योग ही है। और ऐसा स्वराज्य व्यक्तियों द्वारा नागरिकों के रूप में अपने कर्तव्य के पालन से ही आता है। उसमें कोई अपने अधिकारों की बात नहीं सोचता। जब उनकी आवश्यकता होती है तब वे उन्हें अपने-आप मिल जाते हैं और इसलिए मिलते हैं कि वे अपने कर्तव्य का संपादन ज़्यादा अच्छी तरह कर सकें। [हरिजन, २५-३-१९३९, पृ. ६४]

अहिंसा पर आधारित स्वराज्य में कोई किसी का शत्रु नहीं होता, सारी जनता की भलाई का सामान्य उद्देश्य सिद्ध करने में हरएक अपना अभीष्ट योग देता है, सब लिख-पढ़ सकते हैं और उनका ज्ञान दिन-दिन बढ़ता रहता है। बिमारी और रोग कमसे कम हो जाएँ ऐसी व्यवस्था की जाती है। कोई कंगाल नहीं होता और मज़दूरी करना चाहने वाले को काम अवश्य मिल जाता है। ऐसी शासन-व्यवस्था में जुआ, शराबखोरी और दुराचार को या वर्ग-विद्वेष को कोई स्थान नहीं होता। अमीर लोग अपने धन का उपयोग बुद्धिपूर्वक उपयोगी कार्यो में करेंगे; अपनी शान-शौकत बढ़ाने में या शारीरिक सुखों की वृद्धि में उसका अपव्यय नहीं करेंगे। उसमें ऐसा नहीं हो सकता, होना नहीं चाहिए, कि चंद अमीर तो रत्न-जडित महलों में रहें और लाखों-करोड़ों ऐसी मनहूस झोंपड़ियों में, जिनमें हवा और प्रकाश का प्रवेश न हो। अहिंसक स्वराज्य में न्यायपूर्ण अधिकारों का किसी के भी द्वारा कोई अतिक्रमण नहीं हो सकता और इसी तरह किसीको कोई अन्यायपूर्ण अधिकार नहीं हो सकते। सुसंघटित राज्य में किसीके न्याय अधिकार का किसी दूसरे के द्वारा अन्यायपूर्वक छीना जाना असंभव होना चाहिए और कभी ऐसा हो जाए तो अपहर्ता को अपदस्थ करने के लिए हिंसा का आश्रय लेने की ज़रूरत नहीं होनी चाहिए। [हरिजन, २५-३-१९३९, पृ. ६५]

२. आदर्श समाज का चित्र

[एक बार भंगीबस्ती, नई दिल्ली, की एक सायंकालीन प्रार्थना में एक भजन गाया गया था। उसमें गांधीजी को अपने स्वतंत्र भारत की मूलभूत बातों का चित्र उपस्थित होता दिखाई दिया, इस कारण वह भजन उन्हें बहुत पसंद आया था। उसका अंग्रेजी अनुवाद स्वयं करके उन्होंने लोर्ड पैथिक लोरिन्स को भेजा था। उस भजन का आशय इस प्रकार है :]

हम ऐसे देश के निवासी है, जहाँ न तो शोक है और न कष्ट है; जहाँ न मोह है, न संताप है; न भ्रम है, न चाह है। जहाँ प्रेम की गंगा बहती है और सारी सृष्टि आनंदित रहती है। जहाँ सब लोगों के मन एक दिशा में काम करते हैं। जहाँ न दिन है, न रात है; न सन् है, न माह है। जहाँ सब लोगों की आवश्यकताएँ पूरी हो जाती हैं। जहाँ सारा सौदा न्यायपूर्ण होता है। जहाँ सब कोई एक ही साँचे में ढले हुए हैं। जहाँ न तो कोई अभाव है, न किसी तरह की चिंता है। जहाँ किसी प्रकार का स्वार्थ नहीं है। न ऊँच-नीच के भेद हैं और न मालिक-गुलाम के भेद है। जहाँ सर्वत्र प्रकाश फैला रहता है, परन्तु वह किसी को जलाता नहीं। वह देश तेरे अंतर में है – वही स्वराज्य है, वही स्वदेशी हैं। जो उसकी चाह रखता है, वही उसका साक्षात्कार करता है। उस देश की जय हो, जय हो, जय हो! [महात्मा गांधी – दि लास्ट फेज़ १९५६, खंड १, पृ. १९०-९१]

[भजन के उपर्युक्त विचार गांधीजी के सपनों के भारत का चित्र प्रस्तुत करते हैं।]

यह उस जाति-विहीन और वर्ग-विहीन समाज का चित्र है, जिसमें न कोई ऊँचा है और न कोई नीचा है; सारे काम एकसे हैं और सारे कामों की मज़दूरी भी एकसी है; जिन लोगों के पास अधिक है वे अपने लाभ का उपयोग खुद के लिए नहीं करते, परन्तु उसे पवित्र धरोहर मानकर ऐसे लोगों की सेवा में उसका उपयोग करते हैं जिनके पास कम है। ऐसे समाज में धंधों के चुनाव में प्रेरक बल व्यक्तिगत उन्नति नहीं होती, बल्कि समाज की सेवा करके आत्माभिव्यक्ति और आत्म-साक्षात्कार करना ही उसका प्रेरक हेतु होता है।

चूँकि ऐसे समाज में सब तरह के कामों का समान आदर होता है और उनके लिए एकसा वेतन मिलता है, इसलिए वंश-परंपरागत कुशलताएँ एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में सुरक्षित रहती हैं और

व्यक्तिगत लाभ के प्रलोभन के लिए उनकी कुरबानी नहीं की जाती। समाज-सेवा का सिद्धांत अनियंत्रित, आत्मीयता-रहित प्रतिस्पर्धा का स्थान लेता है। ऐसे समाज में हरएक व्यक्ति कड़ा परिश्रम करता है, जिसे काफ़ी फुरसत रहती है, उन्नति का अवसर मिलता है और शिक्षा तथा संस्कृति के विकास के लिए आवश्यक सुविधाएँ मिलती हैं। वह कुटीर-उद्योगों की तथा छोटे पैमाने पर चलने वाली सघन सहकारी खेती की आकर्षक दुनिया होती है –ऐसी दुनिया जिसमें सांप्रदायिकता अथवा जातिवाद के लिए कोई स्थान नहीं होता। अंत में, वह स्वदेशी की दुनिया है, जिसमें आर्थिक व्यवहार की सीमाएँ तो अधिक निकट आ जाती हैं, परन्तु व्यक्तिगत स्वतंत्रता की सीमाएँ अधिक से अधिक विस्तृत हो जाती हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपने आसपास के वातावरण के लिए जिम्मेदार होता है और सारे व्यक्ति समाज के लिए जिम्मेदार होते हैं। उसमें अधिकारों और कर्तव्यों का नियमन परस्परावलम्बन के सिद्धांत से तथा परस्पर के आदान-प्रदान से होता है। ऐसे समाज में उसके अंगभूत व्यक्तियों तथा संपूर्ण समाज के बीच कोई संघर्ष नहीं होता; और न तो राष्ट्रवाद के संकुचित, स्वार्थी या आक्रामक बनने का खतरा रहता, न आंतर-राष्ट्रीयता वाद के निरा आदर्श बन जाने का खतरा रहता। [महात्मा गांधी – दि लास्ट फेज़, १९५६, खंड १, पृ. ५३९-४०]

ऐसे आदर्श समाज में न कोई गरीब होगा, न भिखारी; न कोई ऊँचा होगा, न नीचा। न कोई करोड़पति मालिक होगा, न आधा भूखा नौकर। न शराब होगी, न कोई दूसरी नशीली चीज़। सब अपने-आप खुशी से और गर्व से अपनी रोटी कमाने के लिए मेहनत करेंगे। वहाँ स्त्रियों की भी वही इज्जत होगी जो पुरुषों की, और स्त्रियों तथा पुरुषों के शील और पवित्रता की रक्षा की जाएगी। अपनी पत्नी के सिवा हरएक स्त्रीको उसकी उम्र के अनुसार हर धर्म के पुरुष माँ, बहन और बेटी समझेंगे। वहाँ अस्पृश्यता नहीं होगी और सब धर्मों के प्रति समान आदर रखा जाएगा। मैं आशा करता हूँ कि जो यह सब सुनेंगे या पढ़ेंगे, वे मुझे क्षमा करेंगे कि जीवन देने वाले सूर्य देवता की धूप में पड़े पड़े मैं इस काल्पनिक आनंद की लहर में बह गया। [हरिजनसेवक, १८-१-१९४८, पृ. ४६६]

३. आशा का एकमात्र मार्ग

उद्योगवाद

मुझे भय है कि उद्योगवाद मानव-जाति के लिए अभिशाप बन जाने वाला है। उद्योगवाद सर्वथा इस बात पर निर्भर है कि आपमें शोषण करने की कितनी शक्ति है, विदेशी मंडियाँ आपके लिए कहाँ तक खुली हैं और प्रतिस्पर्धियों का कितना अभाव है। इंग्लैंड के लिए ये बातें दिनोंदिन कम हो रही हैं, इसीलिए वहाँ बेकारों की संख्या रोज बढ़ रही है। भारतीय बहिष्कार तो केवल मामूली-सी बात है। और जब इंग्लैंड की यह हालत है तब भारत जैसे विशाल देश को तो उद्योगीकरण से लाभ होने की आशा ही नहीं की जा सकती। सच तो यह है कि भारत जब दूसरे राष्ट्रों का शोषण करने लगेगा – और भारत में उद्योगीकरण हो गया तो वह ज़रूर शोषण करेगा – तब वह अन्य राष्ट्रों के लिए शाप और संसार के लिए एक खतरा बन जाएगा। तब दूसरे राष्ट्रों का शोषण करने के लिए भारत में कल-कारखाने बढ़ाने का मैं क्यों विचार करूँ? क्या आप यह करुण स्थिति नहीं देख रहे कि हम अपने ३० करोड़ बेकारों के लिए काम जुटा सकते हैं, परन्तु इग्लैंण्ण अपने ३० लाख के लिए कोई काम नहीं जुटा सकता; और उसके सामने ऐसी समस्या खड़ी है, जिसके आगे इंग्लैंड के बड़े से बड़े बुद्धिमान चक्कर खा रहे हैं? उद्योगवाद का भविष्य अंधकारमय है। अमेरिका, जापान, फ्रांस और जर्मनी इंग्लैंड के सफल प्रतिस्पर्धी हैं। भारत की मुट्ठीभर मिलें भी उसकी प्रतिद्वंद्वी हैं। और जैसे भारत में जागृति हो गई है वैसे ही दक्षिण अफ्रीका में भी जागृति होगी। और वहाँ तो प्राकृतिक, खनिज और मानवीय साधन भी कहीं अधिक विपुल मात्रा में हैं। अफ्रीका की बलवान जातियों के सामने कदावर अंग्रेज बिलकुल पिद्दी जैसे दिखाई देते हैं। आप कहेंगे कि अंत में तो अफ्रीका के लोग भले जंगली ही हैं। वे भले ज़रूर हैं, परन्तु जंगली नहीं; और शायद कुछ ही साल में पश्मिमी राष्ट्रों को अफ्रीका में अपने माल का सस्ता बाजार मिलना बंद हो सकता है। और यदि उद्योगवाद का भविष्य पश्चिम के लिए अंधकारमय है, तो क्या भारत के लिए वह और भी अंधकारमय नहीं होगा? [यंग इंडिया, १२-११-१९३१, पृ.३५५]

'आज की इस अराजकता और अंधाधुंधी का क्या कारण है?' मैं कहूँगा कि बलवान राष्ट्रों द्वारा निर्बल राष्ट्रों का शोषण नहीं, परन्तु एक ही परिवार के राष्ट्रों द्वारा आपस में एक-दूसरे का शोषण इस

अराजकता और अंधाधुंधी का कारण है। और यंत्रों के मेरे बुनियादी विरोध का आधार यह सत्य है कि यंत्रों ने ही इन राष्ट्रों को दूसरे राष्ट्रों का शोषण करने की शक्ति दी है। यंत्र अपने-आप में एक जड़ चीज़ है और उसका अच्छा या बुरा दोनों प्रकार का उपयोग हो सकता है। लेकिन हम जानते हैं कि उसका बुरा उपयोग आसानी से कर लिया जाता है। [यंग इंडिया, २२-१०-१९३१,पृ.३१८]

निःसंदेह पश्चिमी देशों में उद्योगवाद और दूसरी प्रजाओं के शोषण की हद हो चुकी है। हकीकत यह है कि यह औद्योगिक सभ्यता इसलिए एक रोग है कि उसमें निरी बुराई ही बुराई है। मनोहर नारों और शब्दों से हमें भ्रम में न पड़ जाना चाहिए। मेरा तार या जहाज़ से कोई विरोध नहीं है। वे उद्योगवाद तथा उससे संबंध रखने वाले समस्त कारखानों और धंधो के सहारे के बिना अगर टिक सकें तो भले रहें। वे स्वयं अपने-आपमें लक्ष्य नहीं है। वे मानव-जाति के स्थायी कल्याण के लिए किसी भी प्रकार से अनिवार्य नहीं हैं। चूँकि हम भाप और बिजली का उपयोग जानते हैं, इसलिए उचित अवसर आने पर तथा उद्योगवाद से बचना सीख जाने पर हमें उनका उपयोग करने योग्य बन जाना चाहिए। इसलिए हमारी चेष्टा किसी भी क़ीमत पर उद्योगवाद को नष्ट करने की होनी चाहिए। [हिन्दी नवजीवन, ७-१०-१९२६, पृ. ६०]

दुनिया में ऐसे विवेकी पुरुषों की संख्या लगातार बढ़ रही है, जो इस सभ्यता को – जिसके एक छोर पर तो भौतिक समृद्धि की कभी तृप्त न होने वाली आकांक्षा है और दूसरे छोर पर उसके फलस्वरूप पैदा होने वाला युद्ध है – अविश्वास की निगाह से देखते हैं। लेकिन यह सभ्यता अच्छी हो या बूरी, भारत का पश्चिम जैसा उद्योगीकरण करने की कोई ज़रूरत नहीं है। पश्चिमी सभ्यता शहरी सभ्यता है। इंग्लैंड और इटली जैसे छोटे देश अपनी व्यवस्थाओं का शहरीकरण कर सकते हैं। अमेरिका बड़ा देश है, किन्तु उसकी आबादी बहुत कम है। इसलिए उसे भी शायद वैसा ही करना पड़ेगा। लेकिन कोई भी आदमी सोचेगा तो यह मानेगा कि भारत जैसे बड़े देश को, जिसकी आबादी बहुत ज़्यादा बड़ी है और ग्राम्य-जीवन की ऐसी पुरानी परंपरा में पोषित हुई है जो उसकी आवश्यकताओं को बराबर पूरा करती आई है, उद्योगों के पश्चिमी नमूने की नकल करने की कोई ज़रूरत नहीं है और न उसे ऐसी नकल करनी चाहिए। विशेष परिस्थितियों वाले किसी एक देश के लिए जो बात अच्छी है, वह भिन्न परिस्थितियों वाले किसी दूसरे देश के लिए भी अच्छी हो यह ज़रूरी नहीं है। जो चीज़ किसी एक आदमी के लिए

पोषक आहार का काम देती है, वही दूसरे के लिए ज़हर जैसी सिद्ध होती है। किसी देश की संस्कृति को निर्धारित करने में उसके प्राकृतिक भूगोल का प्रमुख हिस्सा होता है। ध्रुव-प्रदेश के निवासी के लिए ऊनी कोट ज़रूरी हो सकता है, लेकिन भूमध्य-रेखावर्ती प्रदेशों के निवासियों का तो उससे दम ही घुट जाएगा। [यंग इंडिया, २५-७-१९२९ पृ. २४४]

हमारा वर्तमान दुःख बेशक असह्य है। दरिद्रता तो किसी भी हालत में जानी ही चाहिए। लेकिन उसका इलाज उद्योगवाद नहीं है। बुराई बैलगाड़ी के उपयोग में नहीं है। बुराई हमारे स्वार्थ में है और अपने पड़ोसी के प्रति उदारता के अभाव में है। यदि हममें पड़ोसियों के प्रति प्रेम नहीं है, तो किसी भी प्रकार का परिवर्तन – वह कैसा भी क्रांतिकारी क्यों न हो – हमें लाभ नही पहुँचा सकता। [हिन्दी नवजीवन, ७-१०-१९२६, पृ. ६०]

अगर मुझमें शक्ति होती तो इस पद्धति को मैं आज ही नष्ट कर देता। अगर मुझे विश्वास होता कि अत्यंत संहारक अस्त्रों से इसका नाश संभव है, तो मैं उन अस्त्रों का प्रयोग करता। उन अस्त्रों का व्यवहार मैं यह सोचकर ही नहीं करता कि वे इस पद्धति को कायम रखेंगे, भले आज के शासकों का नाश वे कर दें। जो लोग पद्धतियों के बदले उनके नियामकों का नाश करना चाहते हैं, वे खुद उनके पंजे में पड़कर उन लोगों से बुरे बन जाते हैं, जिनका वे इस गलत विश्वास के कारण नाश करते हैं कि आदमियों के साथ उनकी नीति भी मर जाती है। वे पाप के मूल को नहीं पहचानते। [हिन्दी नवजीवन, १७-३-१९२७, पृ. २४५]

बड़े पैमाने पर उद्योगीकरण करने का अनिवार्य परिणाम यह होगा कि ज्यों-ज्यों प्रतिस्पर्धा और बाजार की समस्याएँ खड़ी होंगी, त्यों-त्यों गाँवों का प्रगट या अप्रगट शोषण होगा। इसलिए हमें अपनी शक्ति इसी प्रयत्न पर केन्द्रित करनी चाहिए कि गाँव स्वयंपूर्ण बनें और वस्तुओं का निर्माण और उत्पादन अपने उपयोग के लिए करें। यदि उत्पादन की यह पद्धति स्वीकार कर ली जाए तो फिर गाँव वाले ऐसे आधुनिक यंत्रों और औजारों का उपयोग खुशी से करें, जिन्हें वे बना सकते हों और जिनका उपयोग उन्हें आर्थिक दृष्टि से पुसा सकता हो। उस पर आपत्ति नहीं की जा सकती। अलबत्ता, उनका उपयोग दूसरों का शोषण करने के लिए नहीं होना चाहिए। [हरिजन, २९-८-१९३६, पृ. २२६]

मैं नहीं मानता कि उद्योगीकरण हर हालत में किसी भी देश के लिए ज़रूरी है। भारत के लिए तो वह और भी कम ज़रूरी है। मेरा विश्वास है कि आज़ाद भारत दुःख से कराहती हुई दुनिया के प्रति अपना कर्तव्य अपने लाखों गाँवों का विकास करके और दुनिया के प्रति मित्रता का व्यवहार करके सादा परन्तु उदात्त जीवन अपनाकर ही पूरा कर सकता है। घन की पूजाने हमारे ऊपर भौतिक समृद्धि के जिस जटिल और शीघ्रगामी जीवन को लाद दिया है, उसके साथ 'उच्च चिंतन' का मेल नहीं बैठता। जीवन का संपूर्ण सौंदर्य तभी खिल सकता है, जब हम उच्च कोटि का जीवन जीना सीखें।

किसी अलग अलग रहने वाले देश के लिए, भले वह भूविस्तार और जनसंख्या की दृष्टि से कितना भी बड़ा क्यों न हो, ऐसी दुनिया में जो शस्त्रास्त्रों से सिससे पाँव तक लदी है और जिसमें सर्वत्र वैभव-विलास का ही वातावरण नज़र आता है, ऐसा सादा जीवन जीना संभव है या नहीं—यह ऐसा सवाल है जो संशयशील आदमी के मन में अवश्य उठ सकता है। लेकिन इसका उत्तर सीधा है। यदि सादा जीवन जीने योग्य है तो यह प्रयत्न भी करने योग्य है, चाहे वह प्रयत्न किसी एक ही व्यक्ति या किसी एक ही समुदाय द्वारा क्यों न किया जाए। [हरिजन, १-९-१९४६, पृ. २८५]

बेशक, यूरोपीय सभ्यता यूरोप वालों के लिए अच्छी है, लेकिन अगर हम उसकी नकल करेंगे तो वह भारत को बरबाद कर देगी। मेरा यह मतलब नहीं कि उस सभ्यता में जो कुछ अच्छा हो और हमारे पचाने लायक हो, उसे अपना कर हम न पचाएँ; न मेरे कहने का यह मतलब है कि यूरोप की सभ्यता में जो कुछ बुराई पैठ गई है उसका यूरोप के लोगों को त्याग नहीं करना पड़ेगा। भौतिक सुख-सुविधाओं की निरंतर खोज और उनकी वृद्धि यूरोपीय सभ्यता में घुसी हुई ऐसी ऐक बुराई है; और मैं यह कहने का साहस करता हूँ कि यूरोप के लोग जिन सुख-सुविधाओं के गुलाम बनते जा रहे हैं उनके बोझ के नीचे दबकर यदि उन्हें नष्ट नहीं होना है, तो उनको अपने आज के दृष्टिकोण में सुधार करना होगा। संभव है मेरी यह राय गलत हो, परन्तु मैं जानता हूँ कि भारत के लिए इस सुनहली माया के पीछे दौड़ना निश्चित मृत्यु को निमंत्रण देना होगा। हम एक पश्चिमी दार्शनिक के इस जीवन-सूत्र को अपने हृदय पर अंकित कर लें: 'सरल जीवन और उच्च विचार |' आज इतना निश्चित है कि भारत के करोड़ों लोग ऊँचे रहन-सहन वाला जीवन नहीं जी सकते और हम मुट्ठीभर लोग, जो आम जनता के लिए सोचने-विचारने का

दावा करते हैं, उच्च स्तर के जीवन की मिथ्या शोध में उच्च विचार को भी भूलने के खतरे में पड़ जाएँगे। [यंग इंडिया, ३०-४-१९३१, पृ. ८८]

मैंने अपने कई देशबँधुओं को यह कहते सुना है कि हम अमेरिका का धन तो प्राप्त करेंगे, परन्तु उसकी पद्धतियों को नहीं अपनाएँगे। मैं यह कहने की हिंमत करता हूँ कि अगर ऐसा प्रयत्न किया गया, तो वह ज़रूर असफल होगा। हम एक ही क्षण में बुद्धिमान, शांत और क्रोधी नहीं हो सकते। . . . ऐसी भूमि में देवों के निवास की कल्पना नहीं की जा सकती, जो मिलों और कारखानों के धुएँ और शोरगुल से घृणा के लायक बना दी गई है और जिसके मार्गो पर मुसाफिरों की भीड़ से भरी बेशुमार मोटर-गाड़ियों की खींचने वाले इंजन हमेशा तेजी से दौड़ते रहते हैं। ये मुसाफिर ऐसे होते हैं जो अधिकतर यह नहीं जानते कि उन्हें जीवन में क्या करना है, जो हमेशा असावधान रहते हैं और जिनके स्वभाव में इसलिए कोई सुधार नहीं होता कि उन्हें सन्दूकों में भरी हुई मछलियों की तरह मोटर-गाड़ियों में बुरी तरह ठूँस दिया जाता है; और ये ऐसे अजनबी लोगों के बीच अपने को पाते हैं, जो बस चले तो इन्हें गाड़ी से बाहर निकाल देंगे और जिन्हें ये भी बदले में इसी तरह बाहर निकाल देंगे। मैं इन बातों का जिक्र इसलिए करता हूँ कि ये सब चीज़ें भौतिक प्रगति की निशानियाँ मानी जाती हैं। लेकिन वास्तव में ये हमारे सुख को रत्तीभर भी नहीं बढ़ातीं। [स्पीचेज़ एण्ड राइटिंग्स ओफ महात्मा गांधी, पृ. ३५३-५४]

पंडित नेहरू उद्योगीकरण इसलिए चाहते है कि उनके खयाल से अगर वह समाजवादी ढंग का हो जाए, तो वह पूँजीवाद की बुराईयों से मुक्त रहेगा। मेरी खुद की दृष्टि यह है कि उद्योगवाद में ये बुराइयाँ जन्मजात हैं और उद्योगों पर समाज के स्वामित्व का कितना ही विस्तार क्यों न किया जाए, तो भी ये बुराइयाँ दूर नहीं की जा सकतीं। [हरिजन, २९-९-१९४०, पृ. २९९]

रूस की ओर जब मैं दृष्टिपात करता हूँ तो वहाँ का जीवन मुझे आकर्षक नहीं लगता। बाइबल के शब्दों में कहूँ तो 'मनुष्य सारी दुनिया को जीत ले, परन्तु यदि अपनी आत्मा को खो दे, तो उससे उसका क्या कल्याण हो सकता है?' आधुनिक भाषा में कहें तो मनुष्य अपना व्यक्तित्व खो दे और यंत्र की एक जड़ कील की भाँति बन जाए, तो उसके मानवीय गौरव के लिए यह चीज़ कलंकरूप होगी। मैं चाहता हूँ कि हरएक व्यक्ति समाज का पूर्ण संस्कारी, पूर्ण विकसित सदस्य बन जाएँ। गाँवों के स्वावलम्बी और

स्वयंपूर्ण बनना ही चाहिए। यदि अहिंसा के मार्ग से काम लेना है, तो कोई दूसरा हल मैं देखता ही नहीं। मेरे मन में तो इस विषय में लेशमात्र भी संदेह नहीं। [हरिजनसेवक, ४-३-१९३९, पृ. १८]

ईश्वर हिन्दुस्तान को पश्चिम के तरीके से यंत्रयुग में प्रवेश करने और यंत्रमय बनने से बचाएँ! आज एक छोटे से द्वीप (इंग्लैंड) के आर्थिक साम्राज्यवाद ने सारे संसार को गुलामी की जंजीरों में बाँध रखा है। यदि ३३ करोड़ लोगों का समुदाय भी इस आर्थिक शोषण का मार्ग अपना ले, तो वह संसार को पूरी तरह तबाह कर देगा। [हिन्दी नवजीवन, २०-१२-१९२८, पृ. १४३]

भारतवर्ष का भविष्य पश्चिम के उस रक्तरंजित मार्ग पर आधार नहीं रखता, जिस पर चलते चलते आज वह थका हुआ-सा मालूम होता है; किन्तु शांति के उस अहिंसक मार्ग पर आधार रखता है, जिसकी प्राप्ति केवल सादगी और धार्मिक जीवन से होती है। भारतवर्ष के सामने इस समय उसकी आत्मा के नाश का खतरा मुँह बाएँ खड़ा है। आत्मा को खोकर वह जीवित नहीं रह सकता। इसलिए आलसी के समान निरुपाय होकर वह ऐसा नहीं कह सकता कि 'पश्चिम की इस बाढ़ से मैं बच नहीं सकता।' अपनी और संसार की भलाई के लिए उस बाढ़ को रोकने योग्य शक्तिशाली उसे बनना ही होगा। [हिन्दी नवजीवन, ७-१०-१९२६, पृ. ६१]

यंत्र

‘आदर्श के रूप में क्या आप यंत्रों का सर्वथा त्याग करना न चाहेंगे?’

आदर्श के रूप में तो मैं स्वीकार करता हूँ कि यंत्र का सर्वथा त्याग होना चाहिए, जिस तरह आदर्श के रूप में शरीर का भी सर्वथा त्याग आवश्यक है। क्योंकि शरीर भी यदि मोक्ष के लिए बाधक सिद्ध हो, तो वह त्याज्य ही है। इस दृष्टि से तो अत्यंत सादे यंत्र का भी हल या सुई जैसे का भी – मैं त्याग करूँगा। परन्तु ये यंत्र तो रहेंगे, क्योंकि शरीर की तरह वे भी अनिवार्य हैं। जैसा कि मैंने आपसे कहा, शरीर स्वयं एक अत्यंत शुद्ध यंत्र है; परन्तु यदि वह आत्मा की ऊँची से ऊँची उड़ान में बाधक बन जाए, तो उसका भी त्याग करना होगा। [हिन्दी नवजीवन, २-११-१९२४, पृ. ९४]

मशीनों का अपना स्थान है; उन्होंने अपनी जड़ें जमा ली है। परन्तु उन्हें ज़रूरी मानव-श्रम का स्थान नहीं लेने देना चाहिए। सुधरा हुआ हल अच्छी चीज़ है। परन्तु यदि संयोग से कोई एक आदमी

अपने किसी यांत्रिक आविष्कार द्वारा भारत की सारी भूमि जोत सके और खेती की तमाम पैदावार पर नियंत्रण कर ले और यदि करोड़ों लोगों के पास कोई और धंधा न हो, तो वे भूखों मरेंगे और निकम्मे हो जाने के कारण जड़ बन जाएँगे – जैसे कि आज भी अनेक लोग बन गए हैं। हर क्षण यह डर बना रहता है कि और भी अनेक लोगों की वैसी ही दुर्दशा हो जाएगी।

मैं गृह-उद्योगों की मशीनों में हर प्रकार के सुधार का स्वागत करूँगा। परन्तु मैं जानता हूँ कि विद्युत-शक्ति से चलने वाले तकुए जारी करके हाथ से कातने वाले लोगों को हटा देना निर्दयता है, यदि इसके साथ करोड़ों किसानों को उनके घरों में धंधा देने की हमारी तैयारी न हो। [यंग इंडिया, ५-११-१९२५, पृ. ३७७]

यंत्रों का वही उपयोग उचित है, जिससे सब का भला हो। [यंग इंडिया, १५-४-१९२६, पृ. १४२]

मैं अधिक से अधिक विकसित यंत्रों के उपयोग का भी समर्थन करूँगा, यदि उससे भारत की दरिद्रता और उससे पैदा होने वाला आलस्य मिट सके। मैंने सुझाया है कि हाथ-कताई ही दरिद्रता को भगाने का तथा काम और धन के अभाव को असंभव बनाने का एकमात्र सुलभ उपाय है। चरखा स्वयं एक क़ीमती मशीन है और मैंने अपने नम्र ढंग से भारत की विशेष परिस्थिति के अनुसार उसमें सुधार करने का प्रयत्न किया है। [यंग इंडिया ३-११-१९२१, पृ. ३५०]

'क्या आप यंत्रमात्र के विरुद्ध है?'

मेरा दृढ़ उत्तर है – नहीं। परन्तु मैं उनकी विवेकहीन वृद्धि के खिलाफ़ हूँ। मैं यंत्रों की बाहती विजय से प्रभावित होने से इनकार करता हूँ। मैं तमाम नाशकारी यंत्रों का कट्टर विरोधी हूँ। परन्तु सीधे-सादे औजारों और ऐसे यंत्रों का, जिनसे व्यक्ति का परिश्रम बचता हो और लाखों झोंपड़ियों का भार हलका होता हो, मैं स्वागत करूँगा। [यंग इंडिया १७-६-१९२६, पृ. २१८]

मुझे आपत्ति स्वयं मशीनों पर नहीं, बल्कि उनके लिए पागल बनने पर है। यह पागलपन श्रम बचाने वाले यंत्रों के लिए है। लोग श्रम बचाने में' लगे रहते हैं, यहाँ तक कि हज़ारों लोगों को बेकार करके भूख से मरने के लिए खुली सड़को पर छोड़ दिया जाता है। मैं भी समय और श्रम बचाना चाहता हूँ, मगर मानव-समाज के एक अंश के लिए नहीं बल्कि सब के लिए। मैं भी धन इकट्ठा करना चाहता हूँ, मगर थोड़े से आदमियों के हाथों में नहीं बल्कि सब के हाथों में। आज तो मशीनें मुट्ठीभर लोगों को

करोड़ों की पीठ पर सवार होने में ही मदद करती हैं। इस सबके पीछे प्रेरक शक्ति श्रम बचाने की उदात्त भावना नहीं बल्कि लोभ है। मैं ऐसी रचना के विरुद्ध ही अपनी सारी शक्ति लगाकर लड़ रहा हूँ।

'तो आप यंत्रों के विरुद्ध नहीं लड़ रहे हैं; परन्तु उनकी जो बुराइयाँ आज इतनी अधिक प्रगट हो रही है उनके विरुद्ध लड़ रहे हैं?'

मैं निःसंकोच कहूँगा 'हाँ'; परन्तु मैं इतना और कहूँगा कि सबसे पहले वैज्ञानिक सत्यों और आविष्कारों को निरे लोभ के साधन नहीं रहना चाहिए। तब मज़दूरों को हद से ज़्यादा काम नहीं करना पड़ेगा और मशीनें बाधक बनने के बजाय सहायक होंगी। मेरा उद्देश्य यंत्रों का सर्वथा नाश नहीं, परन्तु उनकी सीमा बाँधना है।

'क्या इस विषय के अंत तक जाने पर यह न कहना पड़ेगा कि बिजली से चलने वाले सारे पेचीदा यंत्र खतम हो जाने चाहिए?'

यह संभव है। मगर मैं एक बात साफ कर देता हूँ। मुख्य विचार मनुष्य के कल्याण का है। हमें यह देखना होगा कि मशीन मनुष्य को बिलकुल पंगु न बना दे। उदाहरणार्थ, मैं समझदारी के साथ कुछ अपवाद रखूँगा। सिंगर की सीने की मशीन को ही लीजिए। जो थोड़ीसी उपयोगी चीज़ें आविष्कृत हुई हैं उनमें से एक यह भी है। और उसकी योजना के बारे में एक प्रेमकथा है। सिंगर ने अपनी पत्नी को हाथों से सीने और बखिया लगाने की नीरस क्रिया पर परिश्रम करते देखा और केवल उसके प्रति अपने प्रेम के कारण उसने सीने की मशीन का आविष्कार किया, ताकि पत्नी अनावश्यक परिश्रम से बच जाए। परन्तु उसने न केवल उसकी पर्त्न का परिश्रम बचाया, बल्कि ऐसे प्रत्येक व्यक्ति का परिश्रम बचा दिया, जो सीने की मशीन खरीद सकता है।

'परन्तु उस हालत में इन सिंगर मशीनों को बनाने के लिए कारखान खड़ा करना होगा। और उसमें बिजली से चलने वाली आज की सामान्य मशीनें रखनी होंगी।'

हाँ, परन्तु मैं यह कहने जितना समाजवादी ज़रूर हूँ कि ऐसे कारखाने राष्ट्र की संपत्ति या राज्य के नियंत्रण में होने चाहिए। उनका काम अत्यंत आकर्षक और आदर्श परिस्थितियों में होना चाहिए। वह मुनाफे के लिए नहीं परन्तु मानव-जाति के लाभ के लिए होना चाहिए और उसका हेतु लोभ के स्थान पर प्रेम होना चाहिए। मैं केवल मज़दूरों की काम करने की हालतों में परिवर्तन चाहता हूँ। धन के लिए

चलने वाली यह पागल दौड़धूप बंद होनी चाहिए और मज़दूर को न सिर्फ जीवन-वेतन का ही बल्कि ऐसे दैनिक काम का भी, जो केवल नीरस बेगार न हो, आश्वासन मिलना चाहिए। ऐसी परिस्थिति में यंत्र उस पर काम करने वाले मनुष्य के लिए उतना ही सहायक होगा, जितना वह राज्य के लिए और अपने मालिक के लिए होगा। वर्तमान छीनाझपटी बंद हो जाएगी और, जैसा मैंने कहा है, मज़दूर आकर्षक और आदर्श स्थितियों में काम करेगा। मेरे ध्यान में जो अपवाद है, उनमें से यह केवल एक है। सीने की मशीन के पीछे प्रेम था। व्यक्ति का खयाल सबसे ज़्यादा रखा जाना चाहिए। व्यक्ति के परिश्रम की बचत मशीन का लक्ष्य होना चाहिए और प्रामाणिक मानव-कल्याण का विचार, न कि लोभ, उसका हेतु होना चाहिए। लोभ के स्थान पर प्रेम को बिठा दीजिए, फिर सब-कुछ ठीक हो जाएगा। [यंग इंडिया, १३-११-१९२४ पृ. ३७८]

‘मैं समझा, आप इस यंत्रयुग के विरुद्ध हैं।'

यह कहना मेरे विचारों को तोड़-मरोड़कर रखना है। मैं यंत्रमात्र के विरुद्ध नहीं हूँ। परन्तु जो यंत्र हमारा स्वामी बन जाए उसका मैं सख्त विरोधी हूँ।

‘क्या आप भारत में उद्योगीकरण नहीं करेंगे?’

मैं अपने अर्थ में ज़रूर करूँगा। ग्राम-समाजों को पुनर्जीवित करना चाहिए। भारत के देहात भारतीय शहरों और कस्बों को उनकी ज़रूरत की तमाम चीज़ें पैदा करके देते थे। हमारे शहर जब विदेशी मँडियां बन गए और विदेशों से ला-लाकर सस्ता और भद्दा माल यहाँ भरकर देहात का धन चूसने लगे तब भारत निर्धन हो गया।

'तो क्या आप फिर से प्राकृतिक अर्थ-व्यवस्था कायम करना चाहेंगे?’

हाँ। नहीं तो मुझे वापस शहर में ही चले जाना चाहिए। बड़े व्यापार या उद्योग धंधों का संचालन करने की मुझ में पूरी शक्ति है, लेकिन इस लालसा को मैंने जान-बूझकर छोड़ दिया है। और उसे मैंने त्याग की भावना से नहीं छोड़ा है, बल्कि मेरे हृदय में उसके खिलाफ़ जो विद्रोह उठा उसकी वजह से छोड़ा है। क्योंकि दिन प्रतिदिन होने वाली राष्ट्र की लूँट में मुझसे भाग लिया ही नहीं जा सकता था। गाँवों में उद्योग का प्रसार मैं भी करना चाहता हूँ, लेकिन भिन्न प्रकार से। [हरिजन, २७-२-१९३७ पृ. १८]

क्षणभर के लिए मान लीजिए कि यंत्रों से मानव-जाति की सारी ज़रूरतें पूरी हो सकती हैं, फिर भी उनके कारण विशेष प्रदेशों में उत्पादन केन्द्रित हो जाएगा। और फिर आपको वितरण का नियमन करने के लिए द्राविड़ी प्राणायाम करना होगा। इसके विपरीत, यदि उत्पादन और वितरण दोनों उन्हीं क्षेत्रों में हों जहाँ उन चीज़ों की ज़रूरत है, तो वितरण का नियमन अपने-आप हो जाता है; उसमें धोखेबाजी को कम मौका मिलता है और सट्टे को तो बिलकुल नहीं मिलता।. . . जब उत्पादन और उपभोग दोनों स्थानीय बन जाते हैं, तब अनिश्चित मात्रा में और किसी भी मूल्य पर उत्पादन की गति बढ़ाना बंद हो जाता है। तब हमारी वर्तमान व्यवस्था से उपस्थित होने वाली तमाम असंख्य कठिनाइयाँ और समस्याएँ खत्म हो जाएँगी। . . . मैं विपुल मात्रा में उत्पादन की कल्पना ज़रूर करता हूँ, परन्तु वैयक्तिक आधार पर लोगों के अपने घरों में। यदि आप वैयक्तिक उत्पादन को लाखों गुना बढ़ा दें, तो क्या वह विशाल पैमाने पर विशाल मात्रा का उत्पादन नहीं हो जाएगा? . . . मेरे यंत्र अत्यंत प्रारंभिक ढंग के ही होंगे, जो लाखों के घरों में रखे जा सकेंगे। [हरिजन, २-११-१९३४, पृ. ३०१-०२]

मैं जानता हूँ कि मनुष्य उद्योग-धंधे के बिना जी नहीं सकता। इसलिए मैं उद्योगीकरण का विरोध नहीं कर सकता। लेकिन यंत्रोद्योग दाखिल करने के बारे में बहुत चिंतित हूँ। यंत्र अत्यधिक तेज गति से माल उत्पन्न करता है और अपने साथ ऐसी अर्थ-व्यवस्था लाता है, जिसे मैं समझ नहीं पाता। मैं ऐसी किसी वस्तु को स्वीकार नहीं करना चाहता, जिसके बुरे परिणाम मुझे साफ दिखाई देते हैं और जिनका पलड़ा उसके अच्छे परिणामों से कहीं ज़्यादा भारी है। मैं चाहता हूँ कि हमारे देश के लाखों-करोड़ों मूक मानव स्वस्थ और सुखी बनें और मैं चाहता हूँ कि उनकी आध्यात्मिक उन्नति हो। और इस हेतु को सिद्ध करने के लिए अभी हमें यंत्र की ज़रूरत नहीं है। हमारे देश में अनेक, असंख्य लोग बेकार हैं। लेकिन हमारी समझ बढ़ने पर अगर हमें यंत्रों की ज़रूरत महसूस हुई, तो हम ज़रूर यंत्रों से काम लेंगे। हम उद्यम चाहते हैं; हमें उद्यमशील बनना चाहिए। हम अधिक आत्म-निर्भर बन जाएँ; उसके बाद हम दूसरे लोगों के नेतृत्व का इतना ज़्यादा अनुसरण नहीं करेंगे। यदि हमें यंत्रों की आवश्यकता होगी तो समय आने पर हम अपने देश में यंत्र दाखिल करेंगे। एक बार हम अहिंसा के अनुसार अपना जीवन बना लेंगे, तो उसके बाद हम यंत्र पर नियंत्रण रखने की कला सीख लेंगे। [टुवर्ड्स न्यू होराइज़न्स, १९५९, पृ. ४५-४६]

४. शहर और गाँव

आज संसार में दो प्रकार की विचारधाराएँ प्रचलित हैं। एक विचारधारा जगत को शहरों में बाँटना चाहती है और दूसरी उसे गाँवों में बाँटना चाहती है। गाँवों की सभ्यता और शहरों की सभ्यता दोनों एक-दूसरे से बिलकुल भिन्न हैं। शहरों की सभ्यता यंत्रों पर और उद्योगीकरण पर निर्भर करती है; और गाँवों की सभ्यता हाथ-उद्योगों पर निर्भर करती है। हमने दूसरी सभ्यता को पसंद किया है।

आखिर में, तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाए तो इस उद्योगीकरण और बड़े पैमाने पर माल उत्पन्न करने की पद्धति का जन्म कुछ ही समय पहले हुआ है। हम यह तो नहीं जानते कि इन चीज़ों ने हमारे सुख को कहाँ तक बढ़ाया है, लेकिन इतना हम ज़रूर जानते हैं कि उन्होंने इस जमाने के विश्वयुद्धों को जन्म दिया है। दूसरे विश्वयुद्ध का अभी अंत नहीं हुआ है; और अगर उसका अंत आ भी गया, तो हम तीसरे विश्वयुद्ध की बातें सुन रहे हैं। हमारा देश आज जितना दुःखी है उतना पहले कभी नहीं था। शहर के लोगों को उच्छा मुनाफा और अच्छी तनखाहें मिलती होंगी, लेकिन यह सब गाँवों का खून चूस कर उन्हें खोखला बना देने से ही संभव हुआ है। हम लाखों और करोड़ों की संपत्ति इकट्ठी नहीं करना चाहते। हम अपने काम के लिए हमेशा पैसे पर निर्भर नहीं रहना चाहते। अगर हम अपने ध्येय के लिए प्राणों का बलिदान देने के लिए तैयार हों, तो फिर पैसे का कोई महत्त्व नहीं रह जाता। हमें अपने काम में श्रद्धा रखनी चाहिए और अपने प्रति सच्चे रहना चाहिए। अगर हम में ये दो गुण हों तो हम अपनी ३० लाख रुपये की पूँजी को इस तरह गाँवों में फैला सकेंगे कि उससे ३०० करोड़ रुपये की राष्ट्रीय संपत्ति पैदा हो जाए। यह मुख्य ध्येय सिद्ध करने के लिए आवश्यकता इस बात की है कि हम अपने गाँवों को स्वयंपूर्ण और आत्मनिर्भर बना दें। लेकिन इस बात का ध्यान रखिए कि स्वयंपूर्णता का मेरा विचार संकुचित नहीं है। मेरी स्वयंपूर्णता में स्वार्थ और अहंकार के लिए कोई स्थान नहीं है। [हिन्दुस्तान स्टैण्डर्ड, ६-१२-१९४४]

भारत के शहरों में जो धन दिखाई देता है, उससे हमें धोखे में नहीं पड़ना चाहिए। वह धन इंग्लैंड या अमेरिका से नहीं आता। वह देश के गरीब से गरीब लोगों के खून से आता है। कहा जाता है कि भारत में सात लाख गाँव हैं। उनमें से कुछ गाँव तो इस धरती पर से बिलकुल मिट चुके हैं। बंगाल,

कर्णाटक और देश के अन्य भागों में जो हजारों आदमी भुखमरी और रोगों के कारण मृत्यु के शिकार हो गए, उनका कोई लेखा किसीके पास नहीं है। सरकारी रजिस्टर इस बात की कोई कल्पना हमें नहीं करा सकते कि हमारे ग्रामवासी आज किन मुसीबतों में से गुजर रहे हैं। लेकिन मैं खुद गाँव में रहता हूँ, इसलिए मैं गाँवों की दुर्दशा को जानता हूँ। मैं गाँव के अर्थशास्त्र को जानता हूँ। में आपसे कहता हूँ कि ऊँचे कहे जाने वाले लोगों का बोझ नीचे के लोगों को कुचल रहा है।

आज ज़रूरत इस बात की है कि ऊपर के लोग नीचे दबने वाले लोगों की पीठ पर से उतर जाएँ। [अमृत बाजार पत्रिका, ३०-६-१९४४]

बम्बई की मिलों में जो मज़दूर काम करते हैं, वे गुलाम बन गए हैं। जो स्त्रियाँ उनमें काम करती हैं, उनकी हालत को देखकर कोई भी काँप उठेगा। जब मिलों की वर्षा नहीं हुई थी तब वे स्त्रियाँ भूखों नहीं मरती थीं। मशीने की यह हवा अगर ज़्यादा चली, तो हिन्दुस्तान की दुर्दशा होगी। मेरी बात कुछ मुश्किल मालूम होती होगी। लेकिन मुझे कहना चाहिए कि हम हिन्दुस्तान में मिलें कायम करें, उसके बजाय हमारा भला इसीमें है कि हम मैन्चेस्टर को अधिक रुपये भेजकर उसका सड़ा कपड़ा इस्तेमाल करें। क्योंकि उसका कपड़ा इस्तेमाल करने से सिर्फ हमारे पैसे ही जाएँगे। हिन्दुस्तान में अगर हम भैन्चेस्टर कायम करेंगे तो पैसा हिन्दुस्तान में ही रहेगा, लेकिन वह पैसा हमारा खून चूसेगा; क्योंकि वह हमारी नीति को बिलकुल खतम कर देगा। जो लोग मिलों में काम करते हैं उनकी नीति कैसी है, यह उन्हीं से पूछा जाए। उनमें से जिन्होंने रुपये जमा किए हैं उनकी नीति दूसरे पैसे वालों से अच्छी नहीं हो सकती। अमेरिका के रोकफेलरों से हिन्दुस्तान के रोकफेलर कुछ कम है, ऐसा मानना निरा अज्ञान है। गरीब हिन्दुस्तान तो गुलामी से छूट सकेगा, लेकिन अनीति से पैसे वाला बना हुआ हिन्दुस्तान गुलामी से कभी नहीं छूटेगा।

मुझे तो लगता है कि हमें यह स्वीकार करना होगा कि अंग्रेजी राज्य को यहाँ टिकाए रखने वाले ये धनवान लोग ही हैं। ऐसी स्थिति में ही उनका स्वार्थ सधेगा। पैसा आदमी को दीन बना देता है। ऐसी दूसरी वस्तु दुनिया में विषय-भोग है। ये दोनों विषय विषमय हैं। उनका डंक साँप के डंक से भी बुरा है। जब साँप काटता है तो हमारा शरीर लेकर हमें छोड़ देता है। जब पैसा या विषय काटता है तब वह देह,

ज्ञान, मन सब-कुछ ले लेता है, तो भी हमारा छुटकारा नहीं होता। इसलिए हमारे देश में मिलें कायम हों, इसमें खुश होने जैसा कुछ नहीं है। [हिन्द स्वराज्य, १९५९, पृ. ७८-७९]

विदेशी नौकरशाही और देश के रहने वाले – शहरी लोग – गाँव के गरीबों का शोषण करते हैं। गाँव वाले अन्न पैदा करते हैं और खुद भूखों मरते हैं। वे दूध पैदा करते हैं और उनके बच्चों को दूध की एक बूँद भी मयस्सर नहीं होती। यह कितना शर्मनाक है! हरएक को पौष्टिक भोजन, रहने के लिए उम्दा मकान, बच्चों की शिक्षा के लिए हर तरह की सुविधा और दवा-दारू की मदद मिलनी चाहिए। [हरिजनसेवक, ३१-३-१९४६, पृ. ६३]

आज के मुट्ठीभर शहर भारत के अनावश्यक अंग है और केवल देहातों का जीवन-रक्त चूसने के मलिन हेतु के लिए ही हैं। . . . अपने उद्धततापूर्ण अन्यायों और अत्याचारों के कारण शहर गाँवों के जीवन और स्वतंत्रता के लिए हमेशा खतरा बने रहते हैं। [हिन्दी नवजीवन, १७-३-१९२७, पृ. २४६]

सारी दुनिया में युद्ध के लिए शहरी लोग ही जिम्मेदार हैं, देहाती हरगिज़ नहीं। [ग्लीनिंग्स, पृ. १७]

मेरी निगाह में शहरों की वृद्धि एक बुरी चीज़ है। यह मनुष्यजाति का और दुनिया का दुर्भाग्य है, इंग्लैंड का दुर्भाग्य है और हिन्दुस्तान का दुर्भाग्य तो है ही; क्योंकि अंग्रेजों ने हिन्दुस्तान को उसके शहरों द्वारा ही चूसा है। शहरों ने गाँवों को चूसा है। गाँवों का खून वह सीमेन्ट है, जिससे शहरों की बड़ी बड़ी इमारतें बनी हैं। मैं चाहता हूँ कि जिस खून ने आज शहरों की नाड़ियों को फुला रखा है, वह फिर से गाँवों की नाड़ियों में बहने लगे। [हरिजनसेवक, २३-६-१९४६, पृ. १९८]

'आपने शहरों को भारत की राज्यसंस्था पर उठे हुए फोड़े-फुन्सी कहा है। इनका क्या किया जाए?'

अगर आप किसी डोक्टर से पूछेंगे, तो वह आपको फोड़े का इलाज़ यही बताएगा कि उसे चीरकर अथवा पलस्तर और पुल्टिस बाँध कर अच्छा करना होगा। एडवर्ड कारपेन्टर ने सभ्यता को एक रोग कहा है, जिसका इलाज होना चाहिए। बहुत बड़े बड़े शहरों का होना इस रोग का एक लक्षण-मात्र है। कुदरती उपचार में मानने वाले के नाते मैं तो यही कहूँगा कि प्रचलित व्यवस्था को पूरी तरह शुद्ध किया जाए और इस तरह कुदरती तौर पर उसका इलाज हो। अगर शहर वालों के दिल गाँव में जमे रहें और

वे गाँव की दृष्टि अपना लें, तो बाकी चीज़ें सब अपने-आप हो जाएँगी और फोड़ा जल्दी ही बैठ जाएगा। [हरिजनसेवक, २५-८-१९४६, पृ. २८२]

मेरा यह विश्वास रहा है और मैंने इस बात को असंख्य बार दुहराया है कि भारत अपने कुछ शहरों में नहीं बल्कि सात लाख गाँवों में बसा हुआ है। लेकिन हम शहरवासियों का खयाल है कि भारत शहरों में ही है और गाँवों का निर्माण शहरों की ज़रूरतें पूरी करने के लिए ही हुआ है। हमने कभी यह सोचने की तकलीफ ही नहीं उठाई कि उन गरीबों को पेट भरने जितना अन्न और शरीर ढँकने जितना कपड़ा मिलता है या नहीं और धूप तथा वर्षा से बचने के लिए उनके सिर पर छप्पर है या नहीं। [हरिजन, ४-४-१९३६, पृ. ६३]

मैंने पाया है कि शहरवासियों ने आम तौर पर ग्रामवासियों का शोषण किया है; सच तो यह है कि वे गरीब ग्रामवासियों की ही मेहनत पर जीते हैं। भारत के निवासियों की हालत पर कई ब्रिटिश अधिकारियों ने बहुत-कुछ लिखा है। जहाँ तक मैं जानता हूँ, किसीने भी यह नहीं कहा है कि भारतीय ग्रामवासियों को भरपेट अन्न मिलता है। उलटे, उन्होंने यह स्वीकार किया है कि अधिकांश आबादी लगभग भुखमरी की हालत में रहती है, दस प्रतिशत अधभूखी रहती है और लाखों लोग चुटकीभर नमक और मिर्च के साथ मशीन का पालिश किया हुआ निःसत्त्व चावल या रूखा-सूखा अनाज खाकर अपना गुजारा चलाते हैं।

आप विश्वास कीजिए कि यदि वैसे भोजन पर हम लोगों में से किसी को रहने के लिए कहा जाए, तो हम एक माह से ज़्यादा जीने की आशा नहीं कर सकते; या फिर हमें यह डर रहेगा कि ऐसा भोजन खाने से कहीं हमारी दिमागी शक्तियाँ नष्ट न हो जाएँ। लेकिन हमारे ग्रामवासियों को तो इस हालत में से रोज-रोज गुजरना पड़ता है। [हरिजन, ४-४-१९३६, पृ. ६३-६४]

हमारी आबादी का पचहत्तर प्रतिशत से अधिक माग कृषिजीवी है। लेकिन यदि हम उनसे उनकी मेहनत का सारा फल खुद छीन लें या दूसरों को छीन लेने दें, तो यह नहीं कहा जा सकता कि हम में स्वराज्य की भावना काफ़ी मात्रा में है। [स्पीचेज़ एण्ड राइटिंग्स ओफ महात्मा गांधी, पृ. ३२३]

शहर अपनी रक्षा आप कर सकते है। हमें तो अपना ध्यान गाँवों की ओर लगाना चाहिए। हमें गाँवों को उनकी संकुचित दृष्टि, उनके पूर्वग्रहो और वहमों आदि से मुक्त करना है और यह सब करने का इसके सिवा कोई तरीका नहीं है कि हम उनके साथ उनके बीच में रहें, उनके सुख-दुःख में हिस्सा लें और उनमें शिक्षा तथा उपयोगी ज्ञान का प्रचार करें। [यंग इंडिया, ३०-४-१९३१, पृ. ९४]

हमें आदर्श ग्रामवासी बनना है; ऐसे ग्रामवासी नहीं जिन्हें सफाई की या तो कोई समझ ही नहीं है और है तो बहुत विचित्र प्रकार की, और जो इस बात का कोई विचार ही नहीं करते कि वे क्या खाते हैं और कैसे खाते हैं। उनमें से ज़्यादातर लोग किसी भी तरह खाना पका लेते हैं, किसी भी तरह खा लेते हैं और किसी भी तरह रह-बस लेते हैं। वैसा हमें नहीं करना है। हमें चाहिए कि हम उन्हें आदर्श आहार बतलाएँ। आहार के चुनाव में हमें अपनी रुचियों और अरुचियों का विचार नहीं करना चाहिए। बल्कि खाद्य-पदार्थों के पोषक तत्त्वों पर ही नज़र रखनी चाहिए। [हरिजन, १-३-१९३५, पृ. २१]

जिनकी पीठ पर जलता हुआ सूरज अपनी किरणों के तीर बरसाता है और उस हालत में भी जो कठिन परिश्रम करते रहते हैं, उन ग्रामवासियों से हमें एकता साधनी है। हमें सोचना है कि जिस पोखर में वे नहाते हैं और अपने कपड़े तथा बरतन धोते हैं और जिसमें उनके पशु लोटते और पानी पीते हैं, उसीमें से यदि हमें भी उनकी तरह पीने का पानी लेना पड़े तो हमें कैसा लगेगा। तभी हम उस जनता का ठीक प्रतिनिधित्व कर सकेंगे और तब वह हमारे कहने पर ज़रूर ध्यान देगी। [यंग इंडिया, ११-९-१९२४, पृ. ३००]

हमें ग्रामवासियों को बताना है कि वे अपनी साग-भाजियाँ अधिक पैसा खर्च किए बिना खुद उगा सकते हैं और अपने स्वास्थ्य की रक्षा कर सकते हैं। हमें उन्हें यह भी सिखाना है कि पत्ता-भाजियों को वे जिस तरह पकाते हैं, उसमें उनके अधिकांश विटामिन नष्ट हो जाते हैं। [हरिजन, १-३-१९३५; पृ. २१]

हमें उन्हें यह सिखाना है कि वे समय, स्वास्थ्य और पैसे की बचत कैसे कर सकते हैं। लिओनेल कार्टिसने हमारे गाँवों का वर्णन करते हुए उन्हें 'घूरे के ढेर' कहा है। हमें उन्हें आदर्श गाँवों में बदलना है। हमारे ग्रामवासियों को शुद्ध हवा नहीं मिलती, यद्यपि वे शुद्ध हवा से घिरे हुए रहते हैं; उन्हें ताजा

अन्न नहीं मिलता, यद्यपि उनके चारों ओर ताजे से ताज़ा अन्न होता है। इस अन्न के मामले में मैं मिशनरी की तरह इसीलिए बोलता हूँ कि मैं गाँवों को सुंदर और दर्शनीय वस्तु बना देने की आकांक्षा रखता हूँ। [हरिजन, १-३-१९३५; पृ. २१]

क्या भारत के गाँव हमेशा वैसे ही थे जैसे वे आज हैं, इस प्रश्न की छान-बीन करने से कोई लाभ नहीं होगा। अगर वे कभी भी इससे अच्छे नहीं थे तो इससे हमारी पुरानी सभ्यता का, जिस पर हम इतना अभिमान करते हैं, एक बड़ा दोष प्रगट होता है। लेकिन यदि वे कभी अच्छे नहीं थे तो सदियों से चली आ रही नाश की क्रिया को, जो हम अपने आसपास आज भी देख रहे हैं, वे कैसे सह सके?. . . हरएक देशप्रेमी के सामने आज जो काम है वह यह है कि इस नाश की क्रिया को कैसे रोका जाए या दूसरे शब्दों में भारत में गाँवों का पुनर्निर्माण कैसे किया जाए, ताकि किसी के लिए भी उनमें रहना उतना ही आसान हो जाय जितना आसान शहरों में रहना माना जाता है। सचमुच हरएक देशभक्त के सामने आज यही काम है। संभव है कि ग्रामवासियों का पुनरुद्धार अशक्य हो और यही सच हो कि ग्राम-सभ्यता के दिन अब बीत गए हैं और सात लाख गाँवों की जगह अब केवल सात सौ सुव्यवस्थित शहर ही रहेंगे और उनमें ३० करोड़ आदमी नहीं, केवल तीन ही करोड़ आदमी रहेंगे। अगर भारत के भाग्य में यही लिखा हो तो भी यह स्थिति एक दिनमें तो नहीं आएगी; आखिर गाँवों और ग्रामवासियों की इतनी बड़ी संख्या के मिटने में और जो बचे रहेंगे उनका शहरों और शहरवासियों में परिवर्तन करने में समय तो लगेगा ही। [हरिजन, ७-३-१९३६, पृ. ३०]

ग्राम-सुधार आंदोलन में केवल ग्रामवासियों के ही शिक्षण की बात नहीं है; शहरवासियों को भी उससे उतना ही शिक्षण लेना है। इस काम को उठाने के लिए शहरों से जो कार्यकर्ता आएँ, उन्हें ग्राम-मानस का विकास करना है और ग्रामवासियों की तरह रहने की कला सीखनी है। इसका यह अर्थ नहीं कि उन्हें ग्रामवरासियों की तरह भूखे मरना है; लेकिन इसका यह अर्थ ज़रूरी है कि जीवन की उनकी पुरानी पद्धति में आमूल परिवर्तन होना चाहिए। [हरिजन, ११-४-१९३६, पृ. ६८]

इसका एक ही उपाय है: हम जाकर उनके बीच बैठ जाएँ और उनके आश्रयदाताओं की तरह नहीं बल्कि उनके सेवकों की तरह दृढ़ निष्ठा से उनकी सेवा करें; हम उनके भंगी बन जाएँ और उनके स्वास्थ्य की रक्षा करने वाले परिचारक बन जाएँ। हमें अपने सारे पूर्वग्रह भुला देने चाहिए। एक क्षण के लिए हम

स्वराज्य को भी भूल जाएँ और अमीरों की बात तो भूल ही जाएँ, यद्यपि उनका होना हमें हर कदम पर खटकता है। वे तो अपनी जगह हैं ही। दूसरे कई लोग हैं जो इन बड़े सवालों को सुलझाने में लगे हुए हैं। हमें तो गाँवों के सुधार के इस छोटे काम में लग जाना चाहिए, जो आज भी ज़रूरी है और तब भी ज़रूरी होगा जब हम अपना उद्देश्य प्राप्त कर चुकेंगे। सच तो यह है कि ग्रामकार्य की यह सफलता स्वयं हमें अपने उद्देश्य के निकट ले जाएगी। [हरिजन, १६-५-१९३६, पृ. ११२]

गाँवों और शहरों के बीच स्वस्थ और नीतियुक्त संबंध का निर्माण तभी होगा जब शहरों को अपने इस कर्तव्य का ज्ञान हो जाए कि उन्हें गाँवों का अपने स्वार्थ के लिए शोषण करने के बजाय गाँवों से जो शक्ति और पोषण वे प्राप्त करते हैं उसका पर्याप्त बदला गाँवों को देना चाहिए। और यदि समाज के पुनर्निर्माण के इस महान और उदात्त कार्य में शहर के बालकों को अपना हिस्सा अदा करना है, तो जिन उद्योगों के द्वारा उन्हें शिक्षा दी जाती है वे गाँवों की ज़रूरतों से सीधे संबंधित होने चाहिए। [हरिजन, ९-१०-१९३७, पृ. २९३]

हमें ग्रामीण सभ्यता विरासत में मिली है। हमारे देश की विशालता, उसकी विराट जनसंख्या, उसकी भौगोलिक स्थिति तथा उसका जलवायु सबको देखते हुए लगता है कि ग्रामीण सभ्यता ही उसके भाग्य में लिखी है। उसके दोषों को सब कोई अच्छी तरह जानते हैं, परन्तु एक भी दोष ऐसा नहीं है जो दूर न किया जा सके। ग्रामीण सभ्यता का नाश करके उसके स्थान पर शहरी सभ्यता को बैठाना मुझे असंभव मालूम होता है। यह तभी संभव हो सकता है कि जब हम किसी तीव्र उपाय से अपनी जनसंख्या को ३० करोड़ से घटाकर ३० लाख अथवा कमसे कम ३ करोड़ तक ले जाने को तैयार हों। इसलिए मैं इस बात को स्वीकार करके ही कोई उपाय सुझा सकता हूँ कि हमें वर्तमान ग्रामीण सभ्यता को जीवित रखना है और उसके माने हुए दोषों को दूर करने का प्रयत्न करना है। [यंग इंडिया, ७-११-१९२९, पृ. २६४]

५. ग्राम-स्वराज्य

गाँवों का स्थान

हमारे गाँवों की सेवा करने से ही सच्चे स्वराज्य की स्थापना होगी। अन्य सब प्रयत्न निरर्थक सिद्ध होंगे। [यंग इंडिया, २६-१२-१९२९, पृ. ४२०]

अगर गाँव नष्ट हो जाएँ, तो हिन्दुस्तान भी नष्ट हो जाएगा। वह हिन्दुस्तान ही नहीं रह जाएगा। दुनिया में उसका अपना 'मिशन' ही खतम हो जाएगा। [हरिजन, २९-८-१९३६, पृ. २२६]

सच तो यह है कि हमें गाँवों वाला भारत और शहरों वाला भारत, इन दो में से एक को चुन लेना है। गाँव उतने ही पुराने है जितना कि यह भारत पुराना है। शहरों को विदेशी आधिपत्यने बनाया है। जब यह आधिपत्य मिट जाएगा तब शहरों को गाँवों के मातहत होकर रहना पड़ेगा। आज तो शहरों का बोलबाला है और वे गाँवों की सारी दौलत खींच लेते हैं। इससे गाँवों का ह्रास और नाश हो रहा है। गाँवों का शोषण खुद एक संगठित हिंसा है। अगर हमें स्वराज्य की रचना अहिंसा के आधार पर करनी है, तो गाँवों को उनका उचित स्थान देना ही होगा। [हरिजनसेवक, २०-१-१९४०, पृ. ३९२]

मैं यह मानता हूँ कि अगर हिन्दुस्तान को सच्ची आज़ादी पानी है और हिन्दुस्तान की मारफत दुनिया को भी, तब आज नहीं तो कल देहातों में रहना होगा; झोंपड़ियों में, महलों में नहीं। कई अरब आदमी शहरों में और महलों में सुख से और शांति से कभी रह नहीं सकते, न एक-दूसरों का खून करके यानी – हिंसा से, न झूठसे – यानी असत्य से! सिवाय इस जोड़ी के (यानी सत्य और अहिंसा) मनुष्य-जाति का नाश ही है, उसमें मुझे जरा भी शक नहीं हैं। उस सत्य और अहिंसा का दर्शन हम देहातों की सादगी में ही कर सकते हैं। वह सादगी चरखे में और चरखे में जो चीज़ भरी है उसी पर निर्भर है। मुझे कोई डर नहीं है कि दुनिया उलटी ओर ही जा रही दीखती है। यों तो पतंगा जब अपने नाश की ओर जाता है तब सबसे ज़्यादा चक्कर खाता है और चक्कर खाते खाते जल जाता है। हो सकता है कि हिन्दुस्तान इस पतंगे के चक्कर में से न बच सके। मेरा फर्ज है कि आखिर दम तक उसमें से उसे और उसकी मारफत जगत को बचाने की कोशिश करूँ। [बंच ओफ ओल्ड लेटर्स, १९५८, पृ. ५०६-०७ (५-१०-१९४५)]

ग्राम-स्वराज्य

ग्राम-स्वराज्य की मेरी कल्पना यह है कि वह एक ऐसा पूर्ण प्रजातंत्र होगा, जो अपनी महत्त्व की ज़रूरतों के लिए अपने पड़ोसी पर भी निर्भर नहीं करेगा; और फिर भी बहुतेरी दूसरी ज़रूरतों के लिए – जिनमें दूसरों का सहयोग अनिवार्य होगा – वह परस्पर सहयोग से काम लेगा। इस तरह हरएक गाँव का पहला काम यह होगा कि वह अपनी ज़रूरत का तमाम अनाज और कपड़े के लिए कपास खुद पैदा कर ले। उसके पास इतनी फाजिल ज़मीन होनी चाहिए, जिसमें ढोर चर सकें और गाँव के बड़ों व बच्चों के लिए मनबहलाव के साधनों और खेलकूद के मैदान बगैरा का बंदोबस्त हो सके। इसके बाद भी ज़मीन बची तो उसमें वह ऐसी उपयोगी फसलें बोयेगा, जिन्हें बेचकर वह आर्थिक लाभ उठा सके; यों वह गांजा, तम्बाकू, अफीम बगैरा की खेती से बचेगा। हरएक गाँव में गाँव की अपनी एक नाटकशाला, पाठशाला और सभा-भवन रहेगा। पानी के लिए उसका अपना इन्तजाम होगा – वाटरवर्क्स होंगे – जिससे गाँव के सभी लोगों को शुद्ध पानी मिला करेगा। कुओं और तालाबों पर गाँव का पूरा नियंत्रण रखकर यह काम किया जा सकता है। बुनियादी तालीम के आखिरी दर्जे तक शिक्षा सबके लिए लाजिम होगी। जहाँ तक हो सकेगा, गाँव के सारे काम सहयोग के आधार पर किए जाएँगे। जात-पांत और क्रमागत अस्पृश्यता के जैसे भेद आज हमारे समाज में पाये जाते हैं वेसे इस ग्राम-समाज में बिलकुल न रहेंगे। सत्याग्रह और असहयोग के शास्त्र के साथ अहिंसा की सत्ता ही ग्रामीण समाज का शासन-बल होगी। गाँव की रक्षा के लिए ग्राम-सैनिकों का एक ऐसा दल रहेगा, जिसे लाजिमी तौर पर बारी-बारी से गाँव के चौकी-पहरे का काम करना होगा। इसके लिए गाँव में ऐसे लोगों का रजिस्टर रखा जाएगा। गाँव का शासन चलाने के लिए हर साल गाँव के पाँच आदमियों की एक पंचायत चुनी जाएगी। इसके लिए नियमानुसार एक खास निर्धारित योग्यता वाले गाँव के बालिग स्त्री-पुरुषों का अधिकार होगा कि वे अपने पंच चुन लें। इन पंचायतों को सब प्रकार की आवश्यकता सत्ता और अधिकार रहेंगे। चूँकि इस ग्राम-स्वराज्य में आज के प्रचलित अर्थो में सजा या दंड का कोई रिवाज नहीं रहेगा, इसलिए यह पंचायत अपने एक साल के कार्यकाल में स्वयं ही धारासभा, न्यायसभा और व्यवस्थापिका सभा का सारा काम संयुक्त रूप से करेगी। आज भी अगर कोई गाँव चाहे तो अपने यहाँ इस तरह का प्रजातंत्र कायम कर सकता है। उसके इस काम में मौजूदा सरकार भी ज़्यादा दस्तंदाजी नहीं करेगी। क्योंकि उसका गाँव से

जो भी कारगर संबंध है वह सिर्फ मालगुजारी वसूल करने तक ही सीमित है। यहाँ मैंने इस बात का विचार नहीं किया है कि इस तरह के गाँव का अपने पास-पड़ोस के गाँवों के साथ या केन्द्रीय सरकार के साथ, अगर वैसी कोई सरकार हुई, कया संबंध रहेगा। मेरा हेतु तो ग्राम-शासन की एक रूपरेखा पेश करने का ही है। इस ग्राम-शासन में व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर आधार रखने वाला संपूर्ण प्रजातंत्र काम करेगा। व्यक्ति ही अपनी इस सरकार का निर्माता भी होगा। उसकी सरकार और वह दोनों अहिंसा के नियम के वश होकर चलेंगे। अपने गाँव के साथ वह सारी दुनिया की शक्ति का मुकाबला कर सकेगा। क्योंकि हरएक देहाती के जीवन का सबसे बड़ा नियम यह होगा कि वह अपनी और अपने गाँव की इज्जत की रक्षा के लिए मर मिटे।

जो चित्र यहाँ उपस्थित किया गया है, उसमें असंभव जैसी कोई बात नहीं है। संभव है, ऐसे गाँव को तैयार करने में एक आदमी की पूरी जिंदगी खतम हो जाए। सच्चे प्रजातंत्र का और ग्राम-जीवन का कोई भी प्रेमी एक गाँव को लेकर बैठ सकता है और उसीको अपनी सारी दुनिया मानकर उसके काम में डूब सकता है। निश्चय ही उसे इसका अच्छा फल मिलेगा। वह गाँव में बैठते ही एकसाथ गाँव के भंगी, कतवैये, चौकीदार, वैद्य और शिक्षक का काम शुरू कर देगा। अगर गाँव का कोई आदमी उसके पास न फटके, तो भी वह संतोष के साथ सफाई और कताई के काम में जुटा रहेगा। [हरिजनसेवक, २-८-१९४२, पृ. २४३-४४]

आदर्श गाँव

आदर्श भारतीय गाँव इस तरह बसाया और बनाया जाना चाहिए, जिससे वह सम्पूर्णतया नीरोग रह सके। उसके झोंपड़ों और मकानों में काफ़ी प्रकाश और वायु आ-जा सके। ये ऐसी चीज़ों के बने हों जो पाँच मील की सीमा के अंदर उपलब्ध हो सकती है। हर मकान के आसपास या आगे-पीछे इतना बड़ा आँगन हो, जिसमें गृहस्थ अपने लिए साग-भाजी लगा सकें और अपने पशुओं को रख सकें। गाँव की गलियों और रास्तों पर जहाँ तक हो सके धूल न हो। अपनी ज़रूरत के अनुसार गाँव में कुएँ हों, जिनसे गाँव के सब आदमी पानी भर सकें। सबके लिए प्रार्थना-घर या मंदिर हों, सार्वजनिक सभा वगैरा के लिए एक अलग स्थान हो, गाँव की अपनी गोचर-भूमि हो, सहकारी ढंग की एक गोशाला हो, ऐसी प्राथमिक और माध्यमिक शालाएँ हों जिनमें औद्योगिक शिक्षा सर्वप्रधान वस्तु हो और गाँव के अपने

मामलों का निपटारा करने के लिए एक ग्राम-पंचायत भी हो। अपनी ज़रूरतों के लिए अनाज, साग-भाजी, फल, खादी वगैरा खुद गाँव में ही पैदा हों। एक आदर्श गाँव की मेरी अपनी यह कल्पना है। . . . मुझे तो यह निश्चय हो गया है कि अगर ग्रामवासियों को उचित सलाह और मार्गदर्शन मिलता रहे, तो गाँव

की – मैं व्यक्तियों की बात नहीं करता – आय बराबर दूनी हो सकती है। व्यापारी दृष्टि से काम में आने लायक साधन-सामग्री हर गाँव में भले ही न हो, पर स्थानीय उपयोग और लाभ के लिए तो लगभग हर गाँव में हैं। पर सबसे बड़ी बदकिस्मती तो यह है कि अपनी दशा सुधारने के लिए गाँव के लोग खुद कुछ नहीं करना चाहते। [हरिजन, ९-१-१९३७ पृ. ३८३]

मेरे काल्पनिक देहात में देहाती जड़ नहीं होगा – शुद्ध चैतन्य होगा। वह गंदगी में, अँधेरे कमरे में जानवर की जिंदगी बसर नहीं करेगा; मर्द और औरत दोनों आज़ादी से रहेंगे और सारे जगत के साथ मुकाबला करने को तैयार रहेंगे। वहाँ न हैजा होगा, न प्लेग होगा, न चेचक होगी। कोई आलस्य में रह नहीं सकता है। न कोई ऐश-आराम में रहेगा। सबको शारीरिक मेहनत करनी होगी। . . . शायद रेलवे भी होगी, डाक-घर भी होंगे। [बंच ओफ ओल्ड लेटर्स, १९५८, पृ. ५०६-०७ (५-१०-१९४५)]

६. ग्राम-स्वराज्य के बुनियादी सिद्धांत

१. मानव का सर्वोच्च स्थान - पूरा काम

हम जो भी काम करें उसमें मुख्य विचार मानव के कल्याण का ही होना चाहिए। [यंग इंडिया, १३-११-१९२४, पृ. ३७८]

इसका ध्येय है लोगों को सुखी बनाना और इसके साथ उनकी बौद्धिक और नैतिक उन्नति भी करना। नैतिक उन्नति से मेरा मतलब यहाँ आध्यात्मिक उन्नति से हैं। यह ध्येय विकेन्द्रीकरण से सध सकता है। केन्द्रीकरण की पद्धति अहिंसक समाज-रचना से भिन्न है। [हरिजनसेवक, १८-१-१९४२, पृ. ६]

मेरी राय में भारत की – न सिर्फ भारत की बल्कि सारी दुनिया की – अर्थ रचना ऐसी होनी चाहिए, जिसमें किसी को भी अन्न और वस्त्र के अभाव की तकलीफ न सहनी पड़े। दूसरे शब्दों में, हरएक को इतना काम अवश्य मिल जाना चाहिए कि वह अपने खाने-पहनने की ज़रूरतें पूरी कर सके। और यह आदर्श निरपवाद रूप से तभी कार्यान्वित किया जा सकता है जब जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं के उत्पादन के साधन जनता के नियंत्रण में रहें। वे हरएक को बिना किसी बाधा के उसी तरह उपलब्ध होने चाहिए, जिस तरह कि भगवान की दी हुई हवा और पानी हमें उपलब्ध हैं; किसी भी हालत में वे दूसरों के शोषण के लिए चलाए जाने वाले व्यापार का वाहन न बनें। किसी भी देश, राष्ट्र या समुदाय का उन पर एकाधिकार अन्यायपूर्ण होगा। हम आज न केवल अपने इस दुखी देश में बल्कि दुनिया के दूसरे हिस्सों में भी जो गरीबी और भुखमरी देखते हैं, उसका कारण इस सरल सिद्धांत की उपेक्षा ही है। [यंग इंडिया, १५-११-१९२८, पृ. ३८१]

वह अर्थशास्त्र गलत है, जो नैतिक सिद्धांतों की उपेक्षा या अवज्ञा करता है। अहिंसा धर्म का अर्थ अपने व्यापक रूप में यह है कि अंतर्राष्ट्रीय व्यापार को नियमित बनाने में नैतिक सिद्धांतों को पूरा महत्त्व दिया जाए। [हिन्दी नवजीवन, २६-१२-१९२४, पृ. १५५]

प्रत्येक मनुष्य को जीवित रहने का अधिकार है और इसलिए अपने भोजन की तथा जहाँ आवश्यक हो वहाँ कपड़ों और मकान की व्यवस्था का साधन जुटाने का अधिकार है। [स्पीचेज़ एण्ड राइटिंग्स ओफ महात्मा गांधी, पृ. ३५०]

'कल की चिंता मत करो' यह एक ऐसा आदेश है, जिसकी प्रतिध्वनि हमें जगत के लगभग सारे धर्मग्रंथों में सुनाई देती है। सुव्यवस्थित समाज में मनुष्य के लिए आजीविका प्राप्त करना दुनिया की आसान से आसान बात होनी चाहिए और होती है। बेशक, किसी देश की सुव्यवस्थितता की कसौटी यह नहीं है कि उसमें कितने मनुष्य लखपति और करोड़पति हैं, बल्कि यह है कि उसकी आम जनता में कोई भुखमरी का शिकार नहीं होता। [स्पीचेज़ एण्ड राइटिंग्स ओफ महात्मा गांधी, पृ. ३५०]

देश के कच्चे माल का उपयोग करने वाली और ज़्यादा शक्तिशाली मानवों की परवाह न करने वाली कोई भी योजना न तो देश में संतुलन कायम रख सकती है और न सब मनुष्यों को समान दर्जा दे सकती है।

सच्ची योजना तो वह होगी, जो हिन्दुस्तान की समूची मनुष्य-शक्ति का अच्छे से अच्छा उपयोग करे। [हरिजनसेवक, २३-३-१९४७, पृ. ७०]

जब तक एक भी सशक्त आदमी ऐसा हो जिसे काम न मिलता हो या भोजन न मिलता हो, तब तक हमें आराम करने या भरपेट भोजन करने में शर्म आनी चाहिए। [यंग इंडिया, ६-१०-१९२१, पृ. ३१४]

जीवन की मुख्य आवश्यकताएँ प्राप्त करना प्रत्येक मानव का समान अधिकार है। यह अधिकार तो पशुओं और पक्षियों को भी है। और चूँकि प्रत्येक अधिकार के साथ एक संबंधित कर्तव्य जुड़ा हुआ है और उस अधिकार पर कहीं से कोई आक्रमण हो तो उसका वैसा ही इलाज भी है, इसलिए हमारी समस्या का रूप यह है कि हम उस प्रारंभिक बुनियादी समानता को सिद्ध करने के लिए उस समानता के अधिकार से जुड़े हुए कर्तव्य और इलाज ढूँढ़ निकालें। वह कर्तव्य यह है कि हम अपने हाथ-पाँवों से मेहनत करें और वह इलाज यह है कि जो हमें अपनी मेहनत के फल से वंचित करे उसके साथ हम असहयोग करें। [यंग इंडिया, २६-३-१९३१, पृ. ४९]

२. शरीर-श्रम

शरीर-श्रम न करने वाले को खाने का कया अधिकार हो सकता है? [मंगल-प्रभात, १९५८, पृ. ३५]

हर स्त्री-पुरुष जिंदा रहने के लिए शरीर-श्रम करे। . . . इसका मतलब यह है कि हर स्वस्थ आदमी को अपनी रोटी के लिए शरीर-श्रम करना ही चाहिए। मनुष्य को अपनी बुद्धि की शक्ति का उपयोग आजीविका या उससे भी ज़्यादा प्राप्त करने के लिए नहीं, बल्कि सेवा के लिए, परोपकार के लिए करना चाहिए। इस नियम का पालन सारी दुनिया करने लगे, तो सहज ही सब लोग बराबर हो जाएँ, कोई भूखों न मरे और जगत बहुत से पापों से बच जाए। . . . इस नियम का पालन करने वाले पर इसका चमत्कारी असर होता है; क्योंकि उसे परम शांति मिलती है, उसकी सेवाशक्ति बढ़ती है और उसकी तंदुरुस्ती बढ़ती है। . . . गीता का अध्ययन करने पर मैं इसी नियम को गीता के तीसरे अध्याय में यज्ञ के रूप में देखता हूँ। . . . . 'यज्ञ से बचा हुआ अन्न' (श्लोक १३) वही है, जो मेहनत करने के बाद मिलता है। आजीविका के लिए पर्याप्त श्रम को गीताने यज्ञ कहा है। . . .

यह मानना कि किताबों से ही, मेज-कुर्सी पर बैठने से ही ज्ञान मिलता है, बुद्धि का विकास होता है, घोर अज्ञान और भारी वहम है। हमें तो इसमें से निकल ही जाना चाहिए। जीवन में वाचन के लिए स्थान ज़रूर है, मगर वह अपनी जगह पर ही शोभा देता है। शरीर-श्रम को हानि पहुँचाकर उसे बढ़ाया जाए, तो उसके खिलाफ़ विद्रोह करना कर्तव्य हो जाता है। शरीर-श्रम के लिए दिन का ज़्यादा समय देना चाहिए और वाचन वगैरा के लिए थोड़ा। आजकल इस देश में, जहाँ अमीर लोग या ऊँचे वर्ण के माने जाने वाले लोग शरीर-श्रम का अनादर करते हैं, शरीर-श्रम को ऊँचा दरजा देने की बड़ी ज़रूरत है। और बुद्धिशक्ति को सच्चा वेग देने के लिए भी शरीर-श्रम की यानी किसी भी उपयोगी शारीरिक धंधे में शरीर को लगाने की ज़रूरत है। [सत्याग्रह आश्रम का इतिहास १९५९, पृ. ४०-४४]

लाखों भूख से पीड़ित व्यक्ति केवल एक ही कविता चाहते है और वह है जीवन देने वाला भोजन। यह भोज़न उन्हें दिया नहीं जा सकता। उन्हें स्वयं इसे पाना होगा। यह केवल कड़े श्रम द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। [यंग इंडिया, १३-१०-१९२१, पृ. ३२६]

बौद्धिक कार्य शारीरिक कार्य जितना ही महत्त्वपूर्ण है और जीवन की योजना में उसका निश्चित स्थान है। परन्तु मेरा आग्रह शरीर-श्रम की आवश्यकता पर है, मेरा दावा है कि किसी भी मनुष्य को इस दायित्व से मुक्त नहीं होना चाहिए। [हरिजन २३-२-१९४७, पृ. ३६]

ईश्वर ने मनुष्य का निर्माण श्रम द्वारा अपना भोजन प्राप्त करने के लिए किया और कहा कि श्रम किए बिना जो खाते हैं वे चोर हैं। [यंग इंडिया, १३-१०-१९२१, पृ. ३२५]

३. समानता

हरएक को अपने विकास के और अपने जीवन को सफल बनाने के समान अवसर मिलते रहने चाहिए। यदि अवसर दिया जाए, तो हर आदमी समान रूप से अपना आध्यात्मिक विकास कर सकता है। [हरिजनसेवक, १०-११-१९४६, पृ. ३८७]

जिस तरह सच्चे नीतिधर्म में और कल्याणकारी अर्थशास्त्र में कोई विरोध नहीं होता, उसी तरह सच्चा अर्थशास्त्र कभी भी नीतिधर्म के ऊँचे से ऊँचे आदर्श का विरोधी नहीं होता। जो अर्थशास्त्र धन की पूजा करना सिखाता है और बलवानों को निर्बलों का शोषण कर के धन का संग्रह करने की सुविधा देता है, उसे शास्त्र का नाम नहीं दिया जा सकता। वह तो एक झूठी चीज़ है, जिससे हमें कोई लाभ नहीं हो सकता। उसे अपनाकर हम मृत्यु को न्योता देंगे। सच्चा अर्थशास्त्र तो सामाजिक न्याय की हिमायत करता है; वह समान भाव से सब की भलाई का – जिनमें कमजोर भी शामिल है – प्रयत्न करता है और सभ्यजनोचित सुंदर जीवन के लिए अनिवार्य है। [हरिजन, ९-१०-१९३७ पृ. २९२]

मैं ऐसी स्थिति लाना चाहता हूँ, जिसमें सबका सामाजिक दरजा समान माना जाय। [हरिजन, १५-१-१९३८, पृ. ४१६]

मेरा आदर्श तो समान वितरण की ही है, लेकिन जहाँ तक मैं देखता हूँ वह पूरा होने वाला नहीं है। इसीलिए में न्यायपूर्ण वितरण के लिए कार्य कर रहा हूँ। [यंग इंडिया, १७-३-१९२७, पृ. ८६]

रचनात्मक काम का यह अंग अहिंसापूर्ण स्वराज्य की मुख्य चाबी है। आर्थिक समानता के लिए काम करने का मतलब है पूंजी और मजदूरी के बीच के झगड़ों को हमेशा के लिए मिटा देना। इसका अर्थ यह होता है कि एक ओर से जिन मुट्ठीभर पैसे वाले लोगों के हाथ में राष्ट्र की संपत्ति का बड़ा भाग

इकट्ठा हो गया है उनकी संपत्ति को कम करना और दूसरी ओर ते जो करोड़ों लोग अधपेट खाते और नंगे रहते हैं उनकी संपत्ति में वृद्धि करना। जब तक मुट्ठीभर धनवानों और करोड़ों भूखे रहने वालों के बीच ज़मीन-आसमान का अंतर बना रहेगा, तब तक अहिंसा की बुनियादी पर चलने वाली राज्य-व्यवस्था कायम नहीं हो सकती। आज़ाद हिन्दुस्तान में देश के बड़े-से-बड़े धनवानों के हाथ में हकूमत का जितना हिस्सा रहेगा उतना ही गरीबों के हाथ में भी होगा; और तब नई दिल्ली के महलों और उनकी बगल में बसी हुई गरीब मज़दूर-बस्तियों के टूटे-फूटे झोंपड़ों के बीच जो दर्दनाक फर्क आज नज़र आता है वह एक दिन को भी नहीं टिकेगा। अगर धनवान लोग अपने धन को और उसके कारण मिलने वाली सत्ता को खुद राजी-खुशी से छोड़कर और सब के कल्याण के लिए सब के साथ मिलकर बरतने को तैयार न होंगे, तो यह तय समझिए कि हमारे देश में हिंसक और खूंखार क्रांति हुए बिना न रहेगी। ट्रस्टीशिप के मेरे सिद्धांत का बहुत मजाक उड़ाया गया है, फिर भी मैं उस पर डटा हुआ हूँ। यह सच है कि उस तक पहुँचने यानी उसका पूरा-पूरा अमल करने का काम कठिन है। क्या अहिंसा की भी यही हालत नहीं है? फिर भी १९२० में हमने यह सीधी चढ़ाई चढ़ने का निश्चय किया ही था। [रचनात्मक कार्यक्रम, १९५९, पृ. ४०-४१]

४. संरक्षकता

आर्थिक समानता की जड़ में धनिक का ट्रस्टीपन निहित है। इस आदर्श के अनुसार धनिक को अपने पड़ोसी से एक कौड़ी भी ज़्यादा रखने का अधिकार नहीं। तब उसके पास जो ज़्यादा है वह क्या उससे छीन लिया जाए? ऐसा करने के लिए हिंसा का आश्रय लेना पड़ेगा। और हिंसा के द्वारा ऐसा करना संभव हो, तो भी समाज को उससे कुछ फायदा होने वाला नहीं है। क्योंकि द्रव्य इकट्ठा करने की शक्ति रखने वाले एक आदमी की शक्ति को समाज खो बैठेगा। इसलिए अहिंसक मार्ग यह हुआ कि जितनी मान्य हो सकें उतनी आवश्यकताएँ पूरी करने के बाद जो पैसा बाकी बचे उसका वह प्रजा की ओर से ट्रस्टी बन जाए। अगर वह प्रामाणिकता से संरक्षक बनेगा, तो जो पैसा पैदा करेगा उसका सद्व्यय भी करेगा। जब मनुष्य अपने-आपको समाज का सेवक मानेगा, समाज के ख़ातिर धन कमाएगा, समाज के कल्याण के लिए उसे खर्च करेगा, तब उसकी कमाई में शुद्धता आएगी। उसके साहस में भी अहिंसा

होगी। इस प्रकार की कार्य-प्रणाली का आयोजन किया जाए, तो समाज में बगैर संघर्ष के मूक क्रांति पैदा हो सकती है।

किंतु महाप्रयत्न करने पर भी धनिक संरक्षक न बनें और भूखों मरते हुए करोड़ों को अहिंसा के नाम से और अधिक कुचलते जाएँ, तब क्या किया जाए? इस प्रश्न का उत्तर ढूँढ़ने में ही अहिंसक कानून-भंग प्राप्त हुआ। कोई धनवान गरीबों के सहयोग के बिना धन नहीं कमा सकता। मनुष्य को अपनी हिंसक शक्ति का भान है, क्योंकि वह उसे लाखों वर्षों से विरासत में मिली हुई है। जब उसे चार पैर की जगह दो पैर और दो हाथ वाले प्राणी का आकार मिला, तब उसमें अहिंसक शक्ति भी आई। अहिंसा-शक्ति का भान भी धीरे-धीरे, किन्तु अचूक रीति से रोज-रोज बढ़ने लगा। वह भान गरीबों में प्रसार पा जाएँ, तो वे बलवान बनें और आर्थिक असमानता को, जिसके वे शिकार बने हुए हैं, अहिंसक तरीके से दूर करना सीख लें। [हरिजन, २५-८-१९४०, पृ. २६०]

५. विकेन्द्रीकरण

मेरी सूचना है कि यदि भारत को अपना विकास अहिंसा की दिशा में करना है, तो उसे बहुत सी चीज़ों का विकेन्द्रीकरण करना पड़ेगा। केन्द्रीकरण किया जाए तो फिर उसे कायम रखने के लिए और उसकी रक्षा के लिए हिंसाबल अनिवार्य है। जिनमें चोरी करने या लूँटने के लिए कुछ है ही नहीं ऐसे सादे घरों की रक्षा के लिए पुलिस की ज़रूरत नहीं होती। लेकिन धनवानों के महलों के लिए अवश्य बलवान रक्षक होने चाहिए, जो डाकुओं से उनकी रक्षा करें। यही बात बड़े-बड़े कारखानों की है। गाँवों को केन्द्र में रखकर जिस भारत का निर्माण होगा उसे शहर-प्रधान भारत की अपेक्षा – शहर-प्रधान भारत जल, थल और वायुसेनाओं से सुसज्जित होगा तो भी – विदेशी आक्रमण का कम खतरा रहेगा। [हरिजन, ३०-१२-१९३९, पृ. ३९१]

आप कारखानों की सभ्यता पर अहिंसा का निर्माण नहीं कर सकते; लेकिन वह स्वावलम्बी और स्वाश्रयी ग्रामों के आधार पर निर्माण की जा सकती है। मेरी कल्पना की ग्रामीण अर्थ-रचना शोषण का सर्वथा त्याग करती है; और शोषण हिंसा का सार है। [हरिजन, ४-११-१९३९ पृ. ३३१]

६. स्वदेशी

स्वदेशी एक सार्वभौम धर्म है। हर मनुष्य का पहला कर्तव्य अपने पड़ोसियों के प्रति है। इसमें परदेशी के प्रति द्वेष नहीं है और स्वदेशी के लिए पक्षपात नहीं है। शरीरधारी की सेवा करने की शक्ति की मर्यादा होती है। वह अपने पड़ोसियों के लिए भी मुश्किल से अपना धर्म पूरा कर सकता है। अगर पड़ोसी के प्रति सब कोई अपना धर्म अच्छी तरह पाल सकें, तो दुनिया में मदद के बिना कोई दुःख न भोगे। इसलिए यह कहा जा सकता है कि मनुष्य पड़ोसी की सिवा करके दुनिया की सेवा करता है। असल में तो इस स्वदेशी-धर्म में अपने-पराये का भेद ही नहीं है। पड़ोसी के प्रति धर्म-पालन करने का अर्थ है जगत के प्रति धर्म-पालन। और किसी तरह से दुनिया की सेवा हो ही नहीं सकती। जिसकी दृष्टि में सारा जगत ही कुटुम्ब है, उसमें अपनी जगह पर रहकर भी सबकी सेवा करने की शक्ति होनी चाहिए। वह तो पड़ोसी की सेवा के द्वारा ही हो सकती है। टोल्स्टोय तो इससे भी आगे बढ़कर कहते हैं कि अभी तो हम एक-दूसरे के कन्धे पर चढ़े बैठे हैं। दूसरों के कन्धे से हम उतर जाएँ तो बस है। यह कथन उसी बात को दूसरी तरह पेश करता है। अपनी सेवा किए बिना कोई दूसरों की सेवा करता ही नहीं। और दूसरे की सेवा किए बिना जो अपनी ही सेवा करने के इरादे से कोई काम शुरू करता है, वह अपनी और संसार की हानि करता है। कारण स्पष्ट है। हम सभी जीव एक-दूसरे के साथ इतने ज़्यादा ओतप्रोत हैं कि जो कुछ एक आदमी करता है उसका अच्छा-बुरा असर सारे जगत पर पड़ता ही है। हमारी अति मर्यादित दृष्टि के कारण भले ही हम न देख सकें, भले ही एक व्यक्ति के काम का असर इस संसार-सागर में नहीं के बराबर हो, पर वह होता ज़रूर है। अपनी ज़िम्मेदारी समझने के लिए इतना ज्ञान हमारे लिए काफ़ी होना चाहिए।

इसलिए शुद्ध स्वदेशी-धर्म विदेशी के विरुद्ध नहीं है। फिर भी स्वदेशी सर्वदेशी नहीं है। नहीं इसलिए कि ऐसा होना असंभव है। 'सबका' करने जाएँ तो वह होता नहीं और 'अपना' भी चला जाता हैं। 'अपना' करते रहने में 'सबका' होता ही रहता है। 'सबका' करने का यह एक उपाय है। ‘मेरे लिए सब बराबर है’ यह कहने का अधिकार उसीको है, जिसने पड़ोसी के प्रति अपना धर्म पाला हो। 'मेरे लिए सब बराबर है’ यह कहकर जो पड़ोसी का तिरस्कार करता है और अपने शौक पूरे करता है, वह

स्वेच्छाचारी स्वच्छंद है। वह अपने ही लिए जीता है। [सत्याग्रह आश्रम का इतिहास, १९५९, पृ. ४४-४६]

७. स्वावलम्बन

समाज का घटक एक गाँव या लोगों का ऐसा छोटा समूह होना चाहिए, जिसकी व्यवस्था हो सके और जो आदर्श की दृष्टि से (जीवन की मुख्य आवश्यकताओं के बारे में) स्वयंपूर्ण और आत्म-निर्भर हो। [टुवर्ड्स न्यू होराइज़न्स, १९५९, पृ. ८]

हर गाँव का पहला काम यह होगा कि वह अपनी ज़रूरत का सारा अनाज और कपड़े के लिए कपास खुद पैदा कर ले। [हरिजनसेवक, २-८-१९४२, पृ. २४३]

खादी का मुख्य काम है हर गाँव को अनाज और कपड़े के बारे में आत्म-निर्भर बनाना। [हरिजन, १७-७-१९२४, पृ. २३४]

खुद कत्तिनों द्वारा या लगभग हर गाँव में कपास उगाएँ बिना स्वावलम्बी खादी कभी सफल नहीं होगी। इसका अर्थ यह है कि जहाँ तक स्वावलम्बी खादी का संबंध है कमसे कम वहाँ तक कपास की खेती को विकेन्द्रित किया जाए। [हरिजन, २७-७-१९३५, पृ. १८८]

हरएक गाँव को अपने पाँव पर खड़ा होना होगा – अपनी ज़रूरतें खुद पूरी कर लेनी होंगी, ताकि वह अपना सारा कारोबार स्वयं चला सके। यहाँ तक कि वह सारी दुनिया से अपनी रक्षा स्वयं कर सके। [हरिजनसेवक, २८-७-१९४६, पृ. २३६]

८. सहयोग

मनुष्यों को सहयोग से रहना चाहिए और सब की भलाई के लिए काम करना चाहिए। [हरिजन, २-२-१९४७, पृ. ३]

जहाँ तक संभव होगा, गाँव के सारे काम सहयोग के आधार पर किए जाएँगे। [हरिजनसेवक, २-८-१९४२, पृ. २४३]

सहकारिता की पद्धति . . . . किसानों के लिए ही ज़्यादा ज़रूरी है। ज़मीन सरकार की है। इसलिए जब उसे सहकारिता के आधार पर जोता जाएगा, तो उससे किसान को ज़्यादा से ज़्यादा आमदनी होगी।

यह याद रखना चाहिए कि सहकारिता का आधार पूर्ण अहिंसा पर होगा। [हरिजनसेवक, ह. से,, ९-३-१९४७, पृ. ४६]

९. सत्याग्रह

सत्याग्रह और असहयोग के शास्त्र के साथ अहिंसा की सत्ता ही ग्रामीण समाज का शासन-बल होगी। [हरिजनसेवक, २-८-१९४२, पृ. २४३]

१०. सब धर्मो की समानता

सारे धर्म मूल में एक ही है, यद्यपि वे पेड़ के पत्तों की तरह ब्योरे में और बाह्य रूप में एक-दूसरे से अलग अलग हैं। हर पत्ते का अपना अलग अस्तित्व होता है, लेकिन वे सब एक ही तनेसे फूटते हैं और उसीसे उनका संबंध होता है। इसके अलावा, कोई भी दो पत्ते एकसे नहीं होते। फिर भी, वे आपस में कभी नहीं लड़ते। इसके बजाय वे उसी हवा में खुशी से नाचते हैं और एकसाथ एकसा मीठा स्वर निकालते हैं। [हरिजनसेवक, २२-२-१९४८, पृ. ४३]

संसार में जितने भी प्रचलित प्रख्यात धर्म हैं, वे सब सत्य को प्रकट करते हैं। लेकिन वे सब अपूर्ण मनुष्य द्वारा व्यक्त हुए हैं, इसलिए उन सबमें असत्य का भी मिश्रण हो गया है। इसका मतलब यह कि हममें जितना अपने धर्म के लिए मान हो, उतना ही मान दूसरों के धर्मों के लिए भी होना चाहिए। [सत्याग्रह आश्रम का इतिहास १९५९, पृ. ७७]

ग्राम-स्वराज्य में हरएक धर्म की अपनी पूरी और बराबरी की जगह होगी | हम सब एक ही आलीशान पेड़ के पत्ते हैं। इस पेड़ की जड़ हिलाई नहीं जा सकती, क्योंकि वह पाताल तक पहुँची हुई है। जबरदस्त से जबरदस्त आँधी भी उसे हिला नहीं सकती। [हरिजनसेवक, २८-७-१९४६, पृ. २३६]

११. पंचायत राज

गाँव का शासन चलाने के लिए हर साल गाँव के पाँच आदमियों की एक पंचायत चुनी जाएगी। इसके लिए नियमानुसार एक खास निर्धारित योग्यता वाले गाँव के वयस्क स्त्री-पुरुषों को अधिकार होगा कि वे अपने पंच चुन लें। [हरिजनसेवक, २-८-१९४२, पृ. २४४]

चूँकि इस ग्राम-स्वराज्य में आज के प्रचलित अर्थों में सजा अथवा दंड की कोई प्रथा नहीं रहेगी, इसलिए यह पंचायत अपने एक वर्ष के कार्यकाल में स्वयं ही धारासभा, न्यायसभा और व्यवस्थापिका सभा का सारा काम संयुक्त रूप से करेगी। [हरिजनसेवक, २-८-१९४२, पृ. २४४]

गाँव के अथवा ग्राम-मनोवृत्ति वाले पाँच वयस्क पुरुषों या स्त्रियों की बनी हुई हरएक पंचायत एक इकाई बनेगी। पास पास की ऐसी हर दो पंचायतों का, उन्हीं में से चुने हुए एक नेता के मार्गदर्शन में, एक कार्यकारी मंडल बनेगा।

जब ऐसी सौ पंचायतें बन जाएँगी, तब पहले दर्जे के पचास नेता अपने में से दूसरे दर्जे का एक नेता चुनेंगे और इस तरह पहले दर्जे के नेता दूसरे दर्जे के नेता के अधीन काम करेंगे। दो सौ पंचायतों के ऐसे समानान्तर मंडल बनाना तब तक जारी रखा जाएगा जब तक वे पूरे हिन्दुस्तान को न ढँक लें। और बाद में कायम की गई पंचायतों का हरएक मंडल पहले की तरह दूसरे दर्जे का नेता चुनता जाएगा। दूसरे दर्जे के सारे नेता संपूर्ण हिन्दुस्तान के लिए सम्मिलित रीति से काम करेंगे और अपने अपने प्रदेशों के लिए अलग अलग काम करेंगे। जब ज़रूरत महसूस हो तब दूसरे दर्जे के नेता अपने में से एक मुखिया चुनेंगे और वह मुखिया, चुनने वाले चाहें तब तक, सब मंडलों की व्यवस्था करेगा और उन पर शासन करेगा। [टुवर्ड्स न्यू होराइज़न्स १९५९, पृ. १९४]

१२. नई तालीम

शिक्षा से मेरा अभिप्राय यह है कि बालक की या प्रौढ़ की शरीर, मन तथा आत्मा की उत्तम क्षमताओं का सर्वांगीण विकास किया जाए और उन्हें प्रकाश में लाया जाए। अक्षर-ज्ञान न तो शिक्षा का अंतिम लक्ष्य है और न उसका आरंभ है। वह तो मनुष्य की शिक्षा के कई साधनों में केवल एक साधन है। अक्षर-ज्ञान अपने-आप में शिक्षा नहीं है। इसलिए मैं बच्चे की शिक्षा का श्री गणेश उसे कोई दस्तकारी सिखाकर

और जिस क्षण से वह अपनी शिक्षा का आरंभ करे उसी क्षण से उसे उत्पादन के योग्य बनाकर करूँगा। इस प्रकार प्रत्येक स्कूल आत्म-निर्भर हो सकता है। शर्त सिर्फ यह है कि इन स्कूलों की बनी चीज़ें राज्य खरीद लिया करे। [हरिजनसेवक, ३१-७-१९३७, पृ. १९१]

७. शरीर-श्रम

रोटी के लिए हरएक मनुष्य को श्रम करना चाहिए, शरीर को (कमर को) झुकाना चाहिए, यह ईश्वर का कानून है। यह मूल खोज़ टोल्स्टोय की नहीं है, लेकिन उससे बहुत कम प्रसिद्ध रशियन लेखक टी॰ एम॰ बोन्दरेव्ह की है। टोल्स्टोय ने उसका प्रचार और प्रसार किया और उसे अपनाया। इसकी झाँकी मेरी आँखे भगवद्गीता के तीसरे अध्याय में करती हैं। यज्ञ किए बिना जो खाता है वह चोरी का अन्न खाता है, ऐसा कठिन शाप यज्ञ नहीं करने वाले को गीता में दिया गया है। यहाँ यज्ञ का अर्थ शरीर-श्रम या रोटी-मज़दूरी ही उचित हो सकता है।

बुद्धि भी उस चीज़ की ओर हमें ले जाती है। जो श्रम नहीं करता उसे खाने का क्या हक है? बाइबल कहती है : 'अपनी रोटी तू अपना पसीना बहाकर कमा और खा !' करोड़पति भी अगर अपने पलंग पर लोटता रहे और उसके मुँह में कोई खाना डाले तभी खाए, तो वह ज़्यादा समय तक खा नहीं सकेगा; इसमें उसको आनंद भी नहीं आएगा। इसलिए वह कसरत बगैरा करके भूख पैदा करता है और खाता तो है अपने ही हाथ-मुँह हिलाकर। अगर यों किसी न किसी रूप में अंगों की कसरत राय-रंक सबको करनी ही पड़ती है, तो रोटी पैदा करने की कसरत ही सब क्यों न करे? यह सवाल कुदरती तौर पर उठता है। किसान को हवाखोरी या कसरत करने के लिए कोई नहीं कहता है और दुनिया के ९० फीसदी से भी ज़्यादा लोगों का निर्वाह खेती पर होता है। बाकी के दस फीसदी लोग अगर इनकी नकल करें, तो जगत में कितना सुख, कितनी शांति और कितनी तंदुरुस्ती फैल जाए!

आज मालिक-मज़दूर का भेद सर्व-व्यापक और स्थायी हो गया है और गरीब धनवान से जलता है। अगर सब रोटी के लिए श्रम करें, तो ऊँच-नीच का भेद न रहे; और फिर भी धनिक वर्ग रहेगा तो वह खुद को मालिक नहीं बल्कि उस धन का रक्षक या ट्रस्टी मानेगा और उसका ज़्यादातर उपयोग सिर्फ लोगों की सेवा के लिए ही करेगा।

जिसे अहिंसा का पालन करना है, सत्य की भक्ति करनी है, ब्रह्मचर्य को कुदरती बनाना है, उसके लिए तो शरीर-क्षम रामबाण-सा हो जाता है। यह श्रम सचमुच तो खेती में ही होता है। लेकिन सब लोग खेती नहीं कर सकते, ऐसी आज तो हालत है ही। इसलिए खेती के आदर्श को ख़याल में रखकर खेती

के बदले में आदमी भले दूसरा श्रम करे – जैसे कताई, बुनाई, बढ़ईगिरी, लुहारी बगैरा बगैरा। सबको खुद के भंगी तो बनना ही चाहिए। जो खाता है वह टट्टी तो फिरेगा ही। जो टट्टी फिरता है वही अपनी टट्टी ज़मीन में गाड़ दे, यह उत्तम रिवाज़ है। अगर यह नहीं ही हो सके तो प्रत्येक कुटुम्ब अपना यह कर्तव्य पाले।

जिस समाज में भंगी का अलग धंधा माना गया है वहाँ कोई बड़ा दोष पैठ गया है, ऐसा मुझे तो बरसों से लगता रहा है। इस ज़रूरी और तंदुरुस्ती बढ़ाने वाले काम को सबसे नीचा काम पहले-पहल किसने माना, इसका इतिहास हमारे पास नहीं है। जिसने माना उसने हम पर उपकार तो नहीं ही किया। हम सब भंगी हैं यह भावना हमारे मन में बचपन से ही जम जानी चाहिए; और उसका सबसे आसान तरीका यह है कि जो लोग समझ गए हैं वे शरीर-श्रम का आरंभ पाखाना-सफाई से करें। जो मनुष्य समझ-बूझकर, ज्ञानपूर्वक यह करेगा, वह उसी क्षण से धर्म को निराले ढंग से और सही तरीके से समझने लगेगा। [मंगल-प्रभात, १९५८, पृ. ४१-४४]

यदी सब लोग अपने ही परिश्रम की कमाई खावें, तो दुनिया में अन्न की कभी कमी न रहे और सबको काफ़ी अवकाश भी मिले। तब न किसी को जनसंख्या की वृद्धि की शिकायत रहे, न कोई बीमारी आवे और न किसी मनुष्य को कष्ट या क्लेश ही सतावे। वह श्रम ऊँचेसे ऊंचे प्रकार का यज्ञ होगा। इसमें संदेह नहीं कि मनुष्य अपने शरीर या बुद्धि के द्वारा और भी अनेक काम करेंगे, पर उनका वह सब श्रम लोक-कल्याण के लिए किया जाने वाला प्रेम का श्रम होगा। उस अवस्था में न कोई राव होगा न कोई रंक, न कोई ऊँच होगा न कोई नीच, न कोई स्पृश्य रहेगा न कोई अस्पृश्य।

भले ही यह एक अलभ्य आदर्श हो, पर इस कारण हमें अपना प्रयत्न बंद कर देने की ज़रूरत नहीं। यज्ञ के संपूर्ण नियम को अर्थात् अपने 'जीवन के नियम' को पूरा किए बिना भी अगर हम अपने नित्य के निर्वाह के लिए पर्याप्त शारीरिक श्रम करेंगे, तो उस आदर्श के बहुत कुछ निकट तो हम पहुँच ही जाएँगे।

यदि हम ऐसा करेंगे तो हमारी आवश्यकताएँ बहुत कम हो जाएँगी और हमारा भोजन भी सादा बन जाएगा। तब हम जीने के लिए खाएँगे, न कि खाने के लिए जीएँगे। इस बात की यथार्थता में जिसे

शंका हो वह अपने परिश्रम की कमाई खाने का प्रयत्न करे। अपने पसीने की कमाई खाने में उसे कुछ और ही स्वाद मिलेगा, उसका स्वास्थ्य भी अच्छा रहेगा और उसे यह मालूम हो जाएगा कि जो बहुत सी विलास की चीज़ें उसने अपने ऊपर लाद रखी थीं वे सब बिलकुल ही अनावश्यक थीं। [हरिजनसेवक, ५-७-१९३५, पृ. १६०]

क्या मनुष्य अपने बौद्धिक श्रम से अपनी आजीविका नहीं कमा सकते? नहीं। शरीर की आवश्यकताएँ शरीर द्वारा ही पूरी होनी चाहिए। केवल मानसिक और बौद्धिक श्रम आत्मा के लिए और स्वयं अपने ही संतोष के लिए हैं। उसका पुरस्कार कभी नहीं माँगा जाना चाहिए। आदर्श राज्य में डोक्टर, वकील और ऐसे ही दूसरे लोग केवल समाज के लाभ के लिए काम करेंगे; अपने लिए नहीं। शारीरिक श्रम के धर्म का पालन करने से समाज की रचना में एक शांत क्रांति हो जाएगी। मनुष्य की विजय जीवन-संग्राम स्थान पर परस्पर सेवा के संग्राम की स्थापना कर देने में होगी। पशु धर्म के स्थान पर मानव-धर्म स्थापित हो जाएगा। [हरिजन, २९-६-१९३५, पृ. १५६]

मुझे गलत नहीं समझा जाए। मैं बौद्धिक श्रम के मूल्य की अवगणना नहीं करता हूँ; लेकिन बौद्धिक श्रम कितनी ही मात्रा में क्यों न किया जाए, उससे शरीर-श्रम की थोड़ी भी क्षतिपूर्ति नहीं होती, जो कि हम में से हरएक सबकी भलाई के लिए करने को पैदा हुआ है। बौद्धिक श्रम शरीर-श्रम से निश्चित रूप में श्रेष्ठ हो सकता है, अकसर होता है, लेकिन वह शरीर-श्रम का स्थान कभी नहीं लेता और न कभी ले सकता है; जैसे बौद्धिक भोजन हम जो अन्न खाते हैं उसकी अपेक्षा कहीं ज़्यादा उत्तम है, परन्तु वह अन्न का स्थान कभी नहीं ले सकता। सचमुच, पृथ्वी की उपज के अभाव में बुद्धि की उपज होना असंभव है। [हिन्दी नवजीवन, ५-११-१९२५, पृ. ९५]

बुद्धिपूर्वक किया हुआ शरीर-श्रम समाज-सेवा का सर्वोत्कृष्ट रूप है।

यहाँ शरीर-श्रम शब्द के साथ 'बुद्धिपूर्वक्ष किया हुआ' विशेषण यह दिखाने के लिए जोड़ा गया है कि किए हुए शरीर-श्रम के पीछे समाज-सेवा का निश्चित उद्देश्य हो तभी उसे समाज-सेवा का दरजा मिल सकता है। ऐसा न हो तब तो कहा जाएगा कि हरएक मज़दूर समाज सेवा करता ही है। वैसे, एक अर्थ में यह कथन सही भी है, लेकिन यहाँ उससे कुछ ज़्यादा अभीष्ट है। जो आदमी सब लोगों के

सामान्य कल्याण के लिए परिश्रम करता है, वह ज़रूर समाज की सेवा करता है और उसकी आवश्यकताएँ पूरी होनी ही चाहिए। इसलिए ऐसा शरीर-श्रम समाज-सेवा से भिन्न नहीं है। [हरिजन, १-६-१९३५, पृ. १२५]

गाँवों में लौट जाने का अर्थ यह है कि शरीर-श्रम के धर्म को उसके तमाम अंगो के साथ हम निश्चित रूप में स्वेच्छापूर्वक स्वीकार करते हैं। परन्तु आलोचक कहते हैं : 'भारत की करोड़ों संतानें आज भी गाँवों में रहती हैं, फिर भी उन्हें पेटभर भोजन नसीब नहीं होता।' अफसोस के साथ कहना पड़ता है कि यह बिलकुल सच बात है। सौभाग्य से हम जानते हैं कि उनका शरीर-श्रम के धर्म का पालन स्वेच्छापूर्ण नहीं है। उनका बस चले तो वे शरीर-श्रम कभी न करें और नज़दीक के शहर में कोई व्यवस्था हो जाए तो वहाँ दौड़ कर चले जाएँ। मजबूर होकर किसी मालिक की आज्ञा पालना गुलामी की स्थिति है; स्वेच्छा से अपने पिता की आज्ञा मानना पुत्रत्व का गौरव है। इसी प्रकार शरीर-श्रम के नियम का विवश होकर पालन करने से दरिद्रता, रोग और असंतोष उत्पन्न होते हैं। यह गुलामी की दशा है। शरीर-श्रम के नियम का स्वेच्छापूर्वक पालन करने से संतोष और स्वास्थ्य मिलता है। और स्वास्थ्य ही सच्ची संपत्ति है, न कि सोने-चाँदी के टुकड़े। [हरिजन, २९-६-१९३५, पृ. १५६]

भीख माँगना

मेरी अहिंसा किसी ऐसे स्वस्थ आदमी को मुफ्त खाना देने का विचार बरदास्त नहीं करेगी, जिसने उसके लिए ईमानदारी से कुछ न कुछ काम न किया हो; और मेरा वश चले तो जहाँ मुफ्त भोजन मिलता है वे सब सदाव्रत मैं बंद कर दूँ। इससे राष्ट्र का पतन हुआ है और आलस्य, बेकारी, दंभ और अपराधों को प्रोत्साहन मिला है। इस प्रकार का अनुचित दान देश के भौतिक या आध्यात्मिक धन की कुछ भी वृद्धि नहीं करता और दाता के मन में पुण्यात्मा होने का झूठा भाव पैदा करता है। क्या ही अच्छी और बुद्धिमानी की बात हो, यदि दानी लोग ऐसी संस्थाएँ खोलें जहाँ उनके लिए काम करने वाले स्त्री-पुरुषों को स्वास्थ्यप्रद और स्वच्छ वातावरण में भोजन दिया जाए। मेरा खुद का तो यह विचार है कि चरखा या उससे संबंधित क्रियाओं में से कोई भी कार्य आदर्श होगा। परन्तु उन्हें यह स्वीकार न हो तो वे कोई भी दूसरा काम चुन सकते है। जो भी हो, नियम यह होना चाहिए कि 'मेहनत नहीं तो खाना भी नहीं।' [यंग इंडिया, १३-८-१९६५, पृ. २८२]

भीख माँगने को प्रोत्साहन देना बेशक बुरा है, लेकिन मैं किसी भिखारी को काम और भोजन दिए बिना नहीं लौटाऊँगा। हाँ, वह काम करना मंजूर न करे तो मैं उसे भोजन के बिना ही चला जाने दूँगा। जो लोग शरीर से लाचार हैं, जैसे लँगड़े या विकलांग, उनका पोषण राज्य को करना चाहिए | लेकिन बनावटी या सच्ची अँधता की आड़ में भी काफ़ी धोखा-घड़ी चल रही है। कितने ही ऐसे अँधे हैं जिन्होंने अपनी अँधता का लाभ उठाकर काफ़ी पैसा जमा कर लिया है। वे इस तरह अपनी अँधता का अनुचित लाभ उठाएँ, इसके बजाय यह ज़्यादा अच्छा होगा कि उन्हें अपाहिजों की देखभाल करने वाली किसी संस्था में रख दिया जाए | [हरिजन, ११-५-१९३५, पृ. ९९]

आपको अपने पसीने की रोटी कमाना पसंद होना चाहिए और भीख माँगने या दान लेने से बिलकुल दूर रहना चाहिए। [हरिजनसेवक, ९-६-१९४६, पृ. १६९]

८. समानता

समाज की मेरी कल्पना यह है कि जहाँ हम सब समान पैदा हुए है – अर्थात् हमें समान अवसर प्राप्त करने का अधिकार है, वहाँ सबकी योग्यता एकसी नहीं है। यह कुदरती तौर पर असंभव है। उदाहरणार्थ, सबकी ऊँचाई, रंग या बुद्धि की मात्रा वगैरा एकसी नहीं हो सकती; इसलिए कुदरत की रचना ही ऐसी है कि कुछ लोगों में अधिक कमाने की और दूसरों में उनसे कम कमाने की योग्यता होगी। बुद्धिशाली लोग अधिक कमाएँगे और वे इस काम के लिए अपनी बुद्धि का उपयोग करेंगे। यदि वे अपनी बुद्धि का उपयोग दयाभाव से करें, तो वे राज्य का ही काम करेंगे। ऐसे लोग संरक्षक बनकर जीते हैं, अन्य किसी तरह नहीं। मैं बुद्धिशाली मनुष्य को अधिक कमाने दूँगा और उसकी बुद्धि को कुंठित नहीं करूँगा। परन्तु जैसे पिता के सारे कमाऊ बेटों की कमाई परिवार के सम्मिलित कोष में जाती है, ठीक वैसे ही बुद्धिशाली की अधिकांश कमाई राज्य की भलाई में काम आनी चाहिए। [यंग इंडिया, २६-११-१९३१, पृ. ३६८]

आर्थिक समानता का सच्चा अर्थ है जगत के सब मनुष्यों के पास एक समान संपत्ति का होना, यानी सबके पास इतनी संपत्ति का होना जिससे वे अपनी कुदरती आवश्यकताएँ पूरी कर सकें। कुदरतने ही एक आदमी का हाजमा अगर नाजुक बनाया हो और वह केवल पाँच ही तोला अन्न खा सके और दूसरे को बीस तोला अन्न खाने की आवश्यकता हो, तो दोनों को अपनी-अपनी पाचन-शक्ति के अनुसार अन्न मिलना चाहिए। सारे समाज की रचना इस आदर्श के आधार पर होनी चाहिए। अहिंसक समाज को दूसरा आदर्श नहीं रखना चाहिए। पूर्ण आदर्श तक हम शायद नहीं पहुँच सकते, मगर उसे नज़र में रखकर विधान बनाएँ और व्यवस्था करें। जिस हद तक इस आदर्श को हम पहुँच सकेंगे, उसी हद तक सुख और संतोष प्राप्त करेंगे और उसी हद तक सामाजिक अहिंसा सिद्ध हुई कही जा सकेगी। [हरिजन, २५-८-१९ ४०, पृ. २६०]

आयकी समानता

अपनी बुद्धि को रुपये-आने पाई में बदलने के बदले आप उसे देश की सेवा में लगाइएँ। यदि आप डोक्टर हैं तो भारत में इतनी बीमारियाँ हैं कि आपके सारे चिकित्सा-कौशल की उसमें ज़रूरत है। अगर आप वकील है तो हिन्दुस्तान में काफ़ी मतभेद और झगड़े-टंटे हैं। अधिक झगड़े खड़े करने के बजाय आप

उन झगड़ों को निपटाइए और मुकदमेबाजी बंद कीजिए। यदि आप इंजीनियर हैं तो हमारे गरीब लोगों की हैसियत और ज़रूरत के अनुसार स्वास्थ्यप्रद और शुद्ध हवा वाले नमूनेदार मकान बनाइए। आपकी सीखी हुई कोई चीज़ ऐसी नहीं है, जिसका उपयोग न किया जा सके। (जिस भाईने गांधीजी से यह प्रश्न पूछा था, वह एक चार्टर्ड अकाउन्टेन्ट था। गांधीजीने आगे उससे कहा था :) सब जगह काँग्रेस और उससे संबंधित संस्थाओं के हिसाब जाँचने के लिए हिसाब-परीक्षकों की सख्त ज़रूरत है | आप भारत में आ जाइए – मैं आपको काफ़ी काम दूँगा और ४ आने रोज पारिश्रमिक भी दूँगा, जो भारत के लाखों लोगों की आमदनी से अवश्य ही बहुत ज़्यादा है। [यंग इंडिया, ५-११-१९३१, पृ. ३८४]

वकालत का पेशा करने का यह मतलब नहीं होना चाहिए कि एक देहाती बढ़ई या दूसरे कारीगर की मज़दूरी से ज़्यादा पैसा लिया जाए। [हरिजन, १३-७-१९४०, पृ. २०५]

अगर भारत को स्वाधीनता का ऐसा आदर्श जीवन व्यतीत करना है। जिससे संसार ईर्ष्या करे, तो तमाम भँगियों, डोक्टरों, वकीलों, शिक्षकों, व्यापारियों और दूसरे लोगों को दिनभर के प्रामाणिक काम का एकसा वेतन या एकसी मज़दूरी मिलनी चाहिए। संभव है भारतीय समाज यह ध्येय कभी सिद्ध न कर सके। परन्तु यदि भारत वर्ष को सुखी देश बनना है, तो प्रत्येक भारतीय का कर्तव्य है कि वह इस लक्ष्य की ओर बढ़ने का प्रयत्न करे। [हरिजन, १६-३-१९४७, पृ. ६७]

९. संरक्षकता का सिद्धांत

मान लीजिए कि विरासत के या उद्योग-व्यवसाय के द्वारा मुझे प्रचुर संपत्ति मिल गई। तब मुझे यह जानना चाहिए कि वह सब संपत्ति मेरी नहीं है, बल्कि मेरा तो उस पर इतना ही अधिकार है कि जिस तरह दूसरे लाखों आदमी गुजर करते हैं उसी तरह मैं भी इज्जत के साथ अपना गुजर भर करूँ। मेरी शेष संपत्ति पर राष्ट्र का अधिकार है। और उसी के हितार्थ उसका उपयोग होना आवश्यक है। इस सिद्धांत का प्रतिपादन मैंने तब किया था जब कि ज़मींदारों और राजाओं की संपत्ति के संबंध में समाजवादी सिद्धांत देश के सामने आया था। समाजवादी इन सुविधा-प्राप्त वर्गों को खतम कर देना चाहते हैं, जब कि मैं यह चाहता हूँ कि वे (जमींदार और राजा-महाराजा) अपने लोभ और स्वामित्व की भावना को छोड़ दें और उन लोगों के समकक्ष बन जाएँ, जो मेहनत करके रोटी कमाते हैं। मज़दूरों को भी यह महसूस करना होगा कि मज़दूर का अपनी काम करने की शक्ति पर जितना अधिकार है, मालदार आदमी का अपनी संपत्ति पर उससे भी कम अधिकार है।

यह दूसरी बात है कि इस तरह के सच्चे ट्रस्टी कितने हो सकते हैं। अगर सिद्धांत ठीक हैं तो यह बात गौण है कि उनका पालन अनेक लोग कर सकते हैं या केवल एक ही आदमी कर सकता है। यह प्रश्न अंतर की श्रद्धा का है। अगर आप अहिंसा के सिद्धांत को स्वीकार करें, तो आपको उसके अनुसार आचरण करने की कोशिश करनी चाहिए, चाहे उसमें आपको सफलता मिले या असफलता। आप यह तो कह सकते हैं कि इस पर अमल करना कठिन है, लेकिन इस सिद्धांत में ऐसी कोई बात नहीं है जिसके लिए कहा जा सके कि वह बुद्धिग्राह्य नहीं है। [हरिजनसेवक, ३-६-१९३९, पृ. १२३]

आप कह सकते हैं कि ट्रस्टीशिप तो कानून-शास्त्र की एक कल्पनामात्र है, व्यवहार में उसका कहीं कोई अस्तित्व दिखाई नहीं पड़ता। लेकिन यदि लोग उस पर सतत विचार करें और उसे आचरण में उतारने की कोशिश भी करते रहें, तो मनुष्य-जाति के जीवन की नियामक शक्ति के रूप में प्रेम आज जितना प्रभावशाली दिखाई देता हैं, उससे कहीं अधिक प्रभावशाली दिखाई पड़ेगा। बेशक, पूर्ण ट्रस्टीशिप तो युक्लिड की बिंदु की व्याख्या की तरह एक कल्पना ही है और उतनी ही अप्राप्य भी है। लेकिन यदि उसके लिए कोशिश की जाए, तो दुनिया में समानता की स्थापना की दिशा में हम दुसरे

किसी उपाय से जितनी दूर तक जा सकते हैं, उसके बजाय इस उपाय से अधिक दूर तक जा सकेंगे। . . . मेरा दृढ़ विश्वास है कि यदि राज्य ने पूँजीवाद को हिंसा के द्वारा दबाने की कोशिश की, तो वह खुद ही हिंसा के जाल में फँस जाएगा और फिर कभी वह अहिंसा का विकास नहीं कर सकेगा। राज्य हिंसा का एक केन्द्रित और संघटित रूप ही है। व्यक्ति में आत्मा होती है; परन्तु चूँकि राज्य एक जड़ यंत्रमात्र है, इसलिए उसे हिंसा से कभी नहीं छुड़ाया जा सकता। क्योंकि हिंसा से ही तो उसका जन्म होता है। इसीलिए मैं ट्रस्टीशिप के सिद्धांत को तरजीह देता हूँ। यह डर हमेशा बना रहता है कि कहीं राज्य उन लोगों के खिलाफ, जो उससे मतभेद रखते हैं, बहुत ज़्यादा हिंसा का उपयोग न करे। लोग यदि स्वेच्छासे ट्रस्टियों की तरह व्यवहार करने लगें, तो मुझे सचमुच बड़ी खुशी होगी। लेकिन यदि वे ऐसा न करें तो मेरा खयाल है कि हमें राज्य के द्वारा भरसक कम हिंसा का आश्रय लेकर उनसे उनकी संपत्ति ले लेनी पड़ेगी। . . . (यही कारण है कि मैंने गोलमेज परिषद में यह कहा था कि सभी निहित हित वालों की संपत्ति की जाँच होनी चाहिए और जहाँ आवश्यक मालूम हो वहाँ उनकी संपत्ति राज्य को . . . . मुआवजा देकर या मुआवजा दिए बिना ही, जहाँ जैसा उचित हो, अपने हाथ में कर लेनी चाहिए।) व्यक्तिगत तौर पर तो मैं यह चाहूँगा कि राज्य के हाथों में शक्ति का ज़्यादा केन्द्रीकरण न हो; उसके बजाय ट्रस्टीशिप की भावना का विस्तार हो। क्योंकि मेरी राय में राज्य की हिंसा की तुलना में वैयक्तिक मालिकी की हिंसा कम हानिकर है। लेकिन यदि राज्य की मालिकी अनिवार्य ही हो, तो मैं राज्य की कमसे कम मालिकी की सिफारिश करूँगा। [द्वि माडर्न रिव्यू, १९३५, पृ. ४१२]

आजकल यह कहना एक फैशन हो गया है कि समाज को अहिंसा के आधार पर न तो संघटित किया जा सकता है और न चलाया जा सकता है। मैं इस कथन का विरोध करता हूँ। परिवार में जब पिता अपने पुत्र को अपराध करने पर थप्पड़ मार देता है, तो पुत्र उसका बदला लेने की बात नहीं सोचता। वह अपने पिता की आज्ञा इसलिए स्वीकार कर लेता है कि इस थप्पड़ के पीछे वह अपने पिता के प्यार को आहत हुआ देखता है, इसलिए नहीं कि थप्पड़ उसे वैसा अपराध दुबारा करने से रोकता है। मेरी राय में समाज की व्यवस्था इस तरह होनी चाहिए; यह उसका एक छोटा रूप है। जो बात परिवार के लिए सही है, वही समाज के लिए भी सही है; क्योंकि समाज एक बड़ा परिवार ही है। [हरिजन, ३-१२-१९३८, पृ. ३५८]

मेरी धारणा यह है कि अहिंसा केवल वैयक्तिक गुण नहीं है। वह एक सामाजिक गुण भी है और अन्य गुणों की तरह उसका भी विकास किया जाना चाहिए। यह तो मानना ही होगा कि समाज के पारस्परिक व्यवहारों का नियमन बहुत हद तक अहिंसा के द्वारा होता है। मैं इतना ही चाहता हूँ कि इस सिद्धांत का विशाल, राष्ट्रीय और आंतर-राष्ट्रीय क्षेत्र में भी विस्तार किया जाए। [हरिजन, ७-१-१९३९, पृ. ४१७]

मेरा ट्रस्टीशिप का सिद्धांत कोई ऐसी चीज़ नहीं है, जो काम निकालने के लिए आज गढ़ लिया गया हो। अपनी मंशा को छिपाने के लिए खड़ा किया गया आवरण तो वह हरगिज़ नहीं है। मेरा विश्वास है कि दूसरे सिद्धांत जब नहीं रहेंगे तब भी वह रहेगा। उसके पीछे तत्त्वज्ञान और धर्म के समर्थन का बल है। धन के मालिकों ने इस सिद्धांत के अनुसार आचरण नहीं किया है, इस बात से यह सिद्ध नहीं होता कि वह सिद्धांत झूठा है; इससे धन के मालिकों की कमजोरी ही सिद्ध होती है। अहिंसा के साथ किसी दूसरे सिद्धांत का मेल ही नहीं बैठता। अहिंसक मार्ग की खूबी यह है कि अन्यायी यदि अपना अन्याय दूर नहीं करता, तो वह अपना नाश खुद ही कर डालता है। क्योंकि अहिंसक असहयोग के कारण या तो वह अपनी गलती देखने और सुधारने के लिए मजबूर हो जाता है या वह बिलकुल अकेला पड़ जाता है। [हरिजन, १६-१२-१९३९, पृ. ३७६]

मैं इस मत के साथ नि:संकोच अपनी संमति प्रकट करता हूँ कि आम तौर पर धनवान – केवल धनवान ही क्यों, बल्कि ज़्यादातर लोग – इस बात का विशेष विचार नहीं करते कि वे पैसा किस तरह कमाते हैं। अहिंसक उपाय का प्रयोग करते हुए हमारा यह विश्वास तो होना ही चाहिए कि कोई आदमी कितना ही पतित क्यों न हो, यदि उसका इलाज कुशलतापूर्वक और सहानुभूति के साथ किया जाए तो उसे सुधारा जा सकता है। हमें मनुष्यों में रहने वाले दैवी अंश को प्रभावित करना चाहिए और अपेक्षा रखनी चाहिए कि उसका अनुकूल परिणाम निकलेगा। यदि समाज का हरएक सदस्य अपनी शक्तियों का उपयोग वैयक्तिक स्वार्थ साधने के लिए नहीं बल्कि सब के कल्याण के लिए करे, तो क्या इससे समाज की सुख-समृद्धि में वृद्धि नहीं होगी? हम ऐसी जड़ समानता का निर्माण नहीं करना चाहते, जिसमें कोई मनुष्य अपनी योग्यताओं का पूरा पूरा उपयोग कर ही न सके। ऐसा समाज अंत में नष्ट हुए बिना नहीं रह सकता। इसलिए मेरी यह सलाह बिलकुल ठीक है कि धनवान लोग चाहे करोड़ों कमाएँ

(बेशक, ईमानदारी से), लेकिन उनका उद्देश्य वह सारा पैसा सब के कल्याण में समर्पित कर देने का होना चाहिए। 'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः' मंत्र में असाधारण ज्ञान भरा पड़ा है। मौजूदा जीवन पद्धति के स्थान पर, जिसमें हरएक आदमी पड़ोंसी की परवाह किए बिना केवल अपने ही लिए जीता है, सर्व-कल्याणकारी नई जीवन-पद्धति का विकास करना हो, तो उसका सबसे निश्चित मार्ग यही है। [हरिजन, २२-२-१९४२, पृ. ४९]

१०. स्वदेशी की भावना

स्वदेशी की भावना का अर्थ है हमारी वह भावना, जो हमें दूर के क्षेत्र को छोड़कर अपने समीपवर्ती प्रदेश का ही उपयोग और सेवा करना सिखाती है। उदाहरण के लिए, इस परिभाषा के अनुसार धर्म के संबंध में यह कहा जाएगा कि मुझे अपने पूर्वजों से प्राप्त धर्म का ही पालन करना चाहिए। अपने समीपवर्ती धार्मिक वातावरण का उपयोग इसी तरह हो सकेगा। यदि मैं उसमें दोष पाऊँ तो मुझे उन दोषों को दूर करके उसकी सेवा करनी चाहिए। इसी तरह राजनीति के क्षेत्र में मुझे स्थानीय संस्थाओं का उपयोग करना चाहिए और उनके जाने-माने दोषों को दूर करके उनकी सेवा करनी चाहिए। अर्थ के क्षेत्र में मुझे अपने पड़ोसियों द्वारा बनाई गई वस्तुओं का ही उपयोग करना चाहिए और उन उद्योगों की कमियाँ दूर करके, उन्हें ज़्यादा संपूर्ण और सक्षम बनाकर, उनकी सेवा करनी चाहिए। मुझे लगता है कि यदि स्वदेशी की ऐसी भावना को व्यवहार में उतारा जाए, तो मानवता के स्वर्णयुग की अवतारणा की जा सकती है।

ऊपर स्वदेशी की जिन तीन शाखाओं का उल्लेख हुआ है, उन पर अब हम थोड़ा विचार करें। हिंदू धर्म उसकी बुनियाद में निहित इस स्वदेशी की भावना के कारण ही स्थितिशील और उसके फलस्वरूप अत्यंत शक्तिशाली बन गया। चूँकि वह दूसरे धर्मों के अनुयायियों को अपने दायरे में खींचने की न तो इच्छा ही रखता है और न प्रयत्न ही करता है, इसलिए वह सब से ज़्यादा सहिष्णु है और आज भी अपना विस्तार करने की वैसी ही योग्यता रखता है जैसी कि वह भूतकाल में दिखा चुका है। कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि उसने बौद्ध धर्म को खदेड़कर भारत के बाहर निकाल दिया। यह धारणा गलत है। उलटे उसने बौद्ध धर्म को आत्मसात् कर लिया है। स्वदेशी की भावना के ही कारण हिन्दू अपने धर्म का परिवर्तन करने से इनकार करता है। इसका यह अर्थ नहीं कि वह उसे सर्वश्रेष्ठ मानता है, लेकिन वह जानता है कि वह उसमें ज़रूरी सुधार कर सकता है और उसे संपूर्ण बना सकता है। और जो कुछ मैंने हिन्दू धर्म के बारे में कहा है, वह सब मेरे विचार से दुनिया के दूसरे बड़े धर्मो के लिए भी सही है। अंतर केवल यह है कि हिन्दू धर्म के लिए यह विशेष रूप से सही है। यहाँ मुझे एक बात कहनी है। भारत में काम करने वाली मिशनरी संस्थाओं ने भारत के लिए बहुत-कुछ किया है और श्रमी भी वे कर रही हैं और भारत इसके लिए उनका कृतज्ञ है। लेकिन मैंने जो कुछ कहा है उसमें यदि कोई सत्य है तो क्या

यह ज़्यादा अच्छा न होगा कि वे धर्म-परिवर्तन का कार्य छोड़ दें और केवल परोपकार की ही प्रवृत्तियाँ जारी रखें? क्या इस तरह वे ईसाई धर्म के आंतरिक तत्त्व की अधिक सेवा नहीं करेंगी?

स्वदेशी की भावना की खोज़ करते हुए जब मैं देश की संस्थाओं पर नज़र डालता हूँ, तो मुझे ग्राम-पंचायतें बहुत ज़्यादा आकर्षित करती हैं। भारत वस्तुतः प्रजातंत्र का उपासक देश है; और वह प्रजातंत्र का उपासक है इसीलिए वह उन सब चोटों को सह सका है, जो आज तक उस पर की गई हैं। राजाओं और नवाबों ने, वे भारतीय रहे हों या विदेशी, प्रजासे सिर्फ कर वसूल किया है; उसके सिवा प्रजा के साथ उनका कोई संपर्क शायद ही रहा है। और प्रजाने राजा को उसका प्राप्य देकर अपना बाकी जीवन-व्यवहार अपनी इच्छा के अनुसार चलाया है। वर्ण और जातियों का विशाल संघटन न केवल समाज की धार्मिक आवश्यकताएँ पूरी करता था, बल्कि उसकी राजनीतिक आवश्यकताओं की पूर्ति भी करता था। गाँव वाले अपना आंतरिक कामकाज जाति-संघटन के द्वारा चलाते थे और उसी के द्वारा वे राजकीय शक्ति के अत्याचारों का भी मुकाबला करते थे | जाति-संघटन के द्वारा अपनी संघटन-शक्ति का ऐसा अच्छा परिचय जिस राष्ट्रने दिया है, उसकी संघटन-शक्ति की क्षमता से इनकार नहीं किया जा सकता। आप हरिद्वार के कुंभ मेले को देखें। . . . आपको पता चल जाएगा कि जो संघटन लगभग अनायास ही लाखों तीर्थयात्रियों की व्यवस्था कर सकता है, वह कितना कौशलपूर्ण न होगा? फिर भी यह कहने की फैशन हो गई है कि हम लोगों में संघटन की योग्यता नहीं है। हाँ, यह बात उनके बारे में अमुक हद तक सही हो सकती है, जो नई परंपराओं में पले और बड़े हुए हैं।

स्वदेशी की भावना से हट जाने के कारण हमें भयंकर विघ्न-बाधाओं से गुजरना पड़ा है। हम शिक्षित वर्ग के लोगों को अपनी शिक्षा विदेशी भाषा के माध्यम से मिली है। इसलिए आम जनता को हम तनिक भी प्रभावित नहीं कर सके हैं। हम लोगों का प्रतिनिधित्व करना चाहते हैं, पर हम उसमें असफल सिद्ध होते हैं। वे किसी अंग्रेज अधिकारी को जितना जानते-पहचानते हैं, उससे अधिक हमें नहीं जानते-पहचानते। उनके दिल में क्या है, इसे न अंग्रेज शासक जानते हैं, न हम लोग। उनकी आकांक्षाएँ हमारी आकांक्षाएँ नहीं हैं। इसलिए हमारा और उनका संबंध-सूत्र टूट-सा गया है। हम प्रजा का संघटन करने में असफल सिद्ध हुए हैं, यह बात सच नहीं है; सच बात यह है कि प्रतिनिधियों में और प्रजा में आपस का नाता ही नहीं है । अगर पिछले पचास वर्षो में हमें अपनी ही भाषाओं के माध्यम से

शिक्षा मिली होती, तो हमारे बड़े-बूढ़े, घर के नौकर और पड़ोसी, सब हमारे उस ज्ञान में हिस्सा लेते। बोस और राय जैसे वैज्ञानिकों के आविष्कार रामायण और महाभारत की तरह ही हरएक घरमें प्रवेश कर जाते। आज तो स्थिति ऐसी है कि जनता के लिए ये आविष्कार विदेशी वैज्ञानिकों द्वारा किए गए आविष्कारों जैसे ही हैं। यदि विविध पाठ्य-विषयों की शिक्षा देशी भाषाओं द्वारा दी गई होती, तो मैं यह कहने का साहस करता हूँ कि हमारी ये भाषाएँ आश्चर्यजनक रूप से समृद्ध बन गई होती, गाँवों की स्वच्छता आदि के सवाल वर्षो पहले हल हो गए होते, ग्राम-पंचायते जीवित शक्ति के रूप में काम कर रही होतीं, भारत को जैसा स्वराज्य चाहिए वैसा स्वराज्य वह भोगता होता और उसे अपनी पुनीत भूमि पर संघटित हत्या का अपमानकारी दृश्य न देखना पड़ता। खैर, अभी भी अवसर है कि हम अपनी भूलें सुधार लें।

अब हम स्वदेशी की अंतिम शाखा पर विचार करें। यहाँ भी जनता की अधिकांश गरीबी का कारण यह है कि आर्थिक और औद्योगिक जीवन में हमने स्वदेशी के नियम का भंग किया है। अगर भारत में व्यापार की कोई भी वस्तु विदेशों से न लाई गई होती, तो हमारी भूमि में दूध और शहद की नदियाँ बहती होतीं। लेकिन यह तो होना नहीं था। हमें लोभ था और इंग्लैंड को भी लोभ था। इंग्लैंड और भारत का संबंध स्पष्टतया गलती पर आधारित था। लेकिन यहाँ रहने में वह गलती नहीं कर रहा है। यहाँ रहने में उसकी घोषित नीति यह है कि वह भारत को अपनी संपत्ति नहीं मानता। वह उसे जनता की धरोहर के रूप में उसी के भले के लिए अपने पास रख रहा है। अगर यह सही है तो लंकाशायर को भारत में व्यापार करने का लोभ छोड़ देना चाहिए। और यदि स्वदेशी का सिद्धांत सही है, तो इसके कारण लंकाशायर की कोई हानि नहीं होगी। अलबत्ता, शुरू में कुछ समय के लिए उसे कुछ अटपटा-सा लगेगा। मैं स्वदेशी को बदला लेने के लिए चलाया जाने वाला बहिष्कार-आंदोलन नहीं मानता। मैं उसे ऐसा धार्मिक सिद्धांत मानता हूँ, जिसका पालन सब लोगों को करना चाहिए। मैं अर्थशास्त्री नहीं हूँ, लेकिन मैंने ऐसी कुछ किताबें पढ़ी है जिनमें बतलाया गया है कि इंग्लैंड आसानी अपनी सारी ज़रूरतें खुद पैदा करने वाला आत्मनिर्भर देश बन सकता था। हो सकता है कि यह बात हास्यास्पद हो; और वह सच नहीं हो सकती, इसका सबसे बडा प्रमाण यह है कि इंग्लैंड दुनिया के उन देशों में है, जो बाहर से सबसे ज़्यादा माल आयात करते हैं। लेकिन जब तक भारत अपने जीवन का उत्तम निर्वाह करने योग्य नहीं हो

जाता, तब तक उससे यह आशा नहीं की जा सकती कि वह लंकाशायर के अथवा किसी दूसरे देश के लिए जिए | और वह अपने जीवन का उत्तम निर्वाह तभी कर सकता है जब वह – अपने प्रयत्न से या दूसरों की मदद लेकर – अपनी आवश्यकता की सारी वस्तुएँ अपनी ही सीमा में उत्पन्न करने लगे। उसे नाशकारी प्रतिस्पर्धा के उस चक्कर में नहीं पड़ना चाहिए, जो आपसी लड़ाई-झगड़ों, ईर्ष्या और अन्य अनेक बुराइयों को जन्म देता है। लेकिन उसके बड़े सेठों और करोड़पतियों को इस विश्वव्यापी प्रतिस्पर्धा में पड़ने से कौन रोकेगा? कानून तो निश्चय ही ऐसा नहीं कर सकता। लेकिन लोकमत का बल और समुचित शिक्षा अवश्य इस दिशा में बहुत-कुछ कर सकती है। हाथ-करघा उद्योग लगभग मरने की स्थिति में हैं। अपनी यात्राओं में . . . मैंने भरसक ज़्यादा से ज़्यादा बुनकरों से मिलने और उनकी कठिनाइयाँ समझने की कोशिश की और मुझे यह देखकर हार्दिक दु:ख हुआ कि किस तरह अनेक बुनकर परिवारों को यह उद्योग – जो किसी समय उन्नति पर था और सम्मानास्पद माना जाता था – छोड़ देना पड़ा है।

अगर हम स्वदेशी के सिद्धांत का पालन करें, तो हमारा और आपका यह कर्तव्य होगा कि हम उन बेरोज़गार पड़ोंसियो को ढूँढे, जो हमारी आवश्यकता की वस्तुएँ हमें दे सकते हों; और यदि वे इन वस्तुओं को बनाना न जानते हों, तो उन्हें हम उनकी प्रक्रिया सिखाएँ। ऐसा हो तो भारत का हरएक गाँव लगभग एक स्वाश्रयी और स्वयंपूर्ण इकाई बन जाए। दूसरे गाँवों के साथ वह ऐसी कुछ वस्तुओं का आदान-प्रदान ज़रूर करेगा, जिन्हें वह खुद अपनी सीमा में पैदा नहीं कर सकता। मुमकिन है कुछ लोगों को यह बात व्यर्थ मालूम हो। उन लोगों से मैं कहूँगा कि भारत एक विचित्र देश है। कोई दयालु मुसलमान शुद्ध पानी पिलाने के लिए तैयार हो, तो भी हज़ारों परंपरावादी हिन्दू ऐसे है जो प्यास से अपना गला सूखने देंगे, लेकिन मुसलमान के हाथ का पानी नहीं पिएँगे। यह बात अर्थहीन तो है, लेकिन इस देश में वह होती है। इसी तरह इन लोगों को एक बार यह निश्चय करा दिया जाय कि धर्म के अनुसार उन्हें भारत में ही बने हुए कपड़े पहनना चाहिए और भारत में ही पैदा हुआ अन्न खाना चाहिए, तो फिर वे कोई दूसरे कपड़े पहनने या दूसरा अन्न खाने से इनकार कर देंगे।

भगवद्गीता का एक श्लोक है, जिसमें कहा गया है कि सामान्य जन श्रेष्ठ जनों का अनुकरण करते हैं। स्वदेशी का व्रत लेने पर कुछ समय तक असुविधाएँ तो भोगनी पड़ेगी, लेकिन उन असुविधाओं के

बावजूद यदि समाज के विचारशील व्यक्ति स्वदेशी का व्रत अपना लें, तो हम उन अनेक बुराइयों का निवारण कर सकते हैं जिनसे हम पीड़ित हैं। मैं कानून द्वारा किए जाने वाले हस्तक्षेप को, फिर वह जीवन के किसी भी विभाग में क्यों न किया जाए, बिलकुल नापसंद करता हूँ। उसके समर्थन में ज़्यादा से ज़्यादा यही कहा जा सकता है कि दूसरी बुराई की तुलना में वह कम बुरी है। लेकिन अपनी इस नापसंदगी के बावजूद मैं माल पर सख्त आयातकर लगाने की बात न सिर्फ सह लूँगा, बल्कि मैं चाहूँगा कि ऐसा किया जाय। नटाल एक ब्रिटिश उपनिवेश है, किन्तु उसने एक दूसरे ब्रिटिश उपनिवेश मारीशस से आने वाली शक्कर पर काफ़ी कर लगाया था और इस तरह अपनी शक्कर की रक्षा की थी। इंग्लैंड ने भारत पर मुक्त व्यापार की नीति लादकर भारत के प्रति बड़ा अन्याय किया है। यह नीति इंग्लैंड के लिए आहार की तरह पोषक सिद्ध हुई होगी, किन्तु भारत के लिए तो वह जहर ही साबित हुई है।

कहा जाता है कि भारत कमसे कम आर्थिक जीवन में तो स्वदेशी के नियम का आचरण नहीं कर सकता। जो लोग यह दलील देते हैं वे स्वदेशी को जीवन के एक अनिवार्य सिद्धांत के रूप में नहीं मानते। उनके लिए वह महज देशसेवा का कार्य है, जो अगर उसमें ज़्यादा आत्म-निग्रह करना पड़ता हो तो छोड़ा भी जा सकता है। जैसा कि ऊपर बताया गया है, स्वदेशी एक धार्मिक नियम है जिसका पालन उससे होने वाले सारे शारीरिक कष्टों के बावजूद भी होना ही चाहिए। स्वदेशी का सच्चा प्रेम हो तो सुई या पिन जैसी चीज़ों का अभाव – क्योंकि वे भारत में नहीं बनती हैं – भय का कारण नहीं होना चाहिए। स्वदेशी का व्रत लेने वाला ऐसी सैंकड़ों चीज़ों के बिना ही अपना काम चलाना सीख लेगा, जिन्हें आज वह अपने लिए ज़रूरी समझता है। फिर वह बात भी तो है कि जो लोग स्वदेशी को असंभव कहकर टाल देना चाहते हैं, वे यह भूल जाते हैं कि स्वदेशी आखिर एक आदर्श है जिसे सतत प्रयत्न द्वारा प्राप्त करना है | और यदि फिलहाल हम इस नियम को अमुक वस्तुओं तक ही मर्यादित रखें और जो वस्तुएँ देशमें प्राप्य नहीं है उनका उपयोग जारी रखें, तो भी हम अपने आदर्श की दिशा में बढ़ते रह सकते हैं।

अंत में मुझे स्वदेशी के खिलाफ उठाए जाने वाले एक अन्य आक्षेप पर और विचार करना है। आक्षेपकारों का कहना है कि वह एक अत्यंत स्वार्थपूर्ण सिद्धांत है और सभ्य जनों की मानी हुई नीति में उसे कोई स्थान नहीं हो सकता। वे समझते हैं कि स्वदेशी का पालन तो असभ्यता के युग की ओर लौटने जैसा होगा। मैं यहाँ इस कथन का विस्तृत विश्लेषण नहीं कर सकता | किन्तु मैं यह कहूँगा कि

नम्रता और प्रेम के नियमों के साथ एक मात्र स्वदेशी का ही मेल बैठ सकता है। यदि मैं अपने परिवार की भी यथोचित सेवा नहीं कर पाता हूँ, तो उस हालत में मेरा संपूर्ण भारत की सेवा का विचार करना दुरभिमान ही कहा जाएगा। उस हालत में तो यही अच्छा होगा कि मैं अपना प्रयत्न परिवार की सेवा पर ही केन्द्रित करूँ और ऐसा समझूं कि परिवार की सेवा द्वारा मैं पूरे देश की या यों कहो कि पूरी मानव-जाति की सेवा कर रहा हूँ। नम्रता और प्रेम इसीमें है। कार्य का मूल्य उसके प्रेरक हेतु से निश्चित होता है। परिवार की सेवा मैं उससे दूसरों को होने वाले कष्टों की परवाह किए बिना भी कर सकता हूँ। उदाहरण के लिए, हम लोगों से जबरदस्ती उनका पैसा छीनने का पैशा अख्तियार कर सकते हैं। उसके द्वारा हम धनवान बनकर परिवार की अनेक अनुचित मांगें पूरी कर सकते हैं। लेकिन यदि हम ऐसा करें तो उससे न तो परिवार की सेवा होगी और न राज्य की। परिवार की सेवा का दूसरा तरीका यह होगा कि मैं इस बात को समझ लूँ कि भगवानने मुझे अपने आश्रितों के पोषण के लिए हाथ-पाँव दिए हैं और मुझे उनसे काम लेना चाहिए। ऐसा हो तो मैं एकदम अपना और जिनसे मेरा सीधा संबंध है उनका जीवन सादा बनाने में लग जाऊँगा। यदि मैं ऐसा करूँ तो अपने परिवार की भी सेवा करूँगा और किसी दूसरे की कोई हानि भी नहीं करूँगा। अगर हरएक आदमी यह जीवन-पद्धति अपना ले, तो एकदम आदर्श स्थिति का निर्माण हो जाए। सब लोग उस स्थिति को एकसाथ नहीं प्राप्त करेंगे। लेकिन जिन लोगों ने इस बात को समझ लिया है और इसलिए जो उसे अपने आचरण में उतारेंगे, वे स्पष्टतः उस शुभ दिन को निकट लाने में बड़ी मदद करेंगे। जीवन की इस योजना में मैं केवल भारत की ही सेवा करता दिखाई देता हूँ, फिर भी मैं किसी दूसरे देश को हानि नहीं पहुँचाता। मेरी देशभक्ति वर्जनशील भी है और ग्रहणशील भी है। वह वर्जनशील इस अर्थ में है कि मैं अत्यंत नम्रतापूर्वक अपना ध्यान अपनी जन्मभूमि पर ही केन्द्रित करता हूँ और ग्रहणशील इस अर्थ में हैं कि मेरी सेवा में प्रतिस्पर्धा या विरोध की भावना बिलकुल नहीं है। 'अपनी संपत्ति का उपयोग इस तरह करो कि उससे तुम्हारे पड़ोसी को कोई कष्ट न हो' – यह केवल कानून का सिद्धांत नहीं, परन्तु एक महान जीवन-सिद्धांत भी है। वह अहिंसा या प्रेम के समुचित पालन की कुँजी हैं। [स्पीचेज़ एण्ड राइटिंग्स ओफ महात्मा गांधी, पृ. ३३६-४४]

स्वदेशी धर्म को जानने वाला और उसका पालन करने वाला अपने कुएँ में डूब नहीं जाएगा। जो वस्तु अपने देश में नहीं बन सकती या बड़ी कठिनाई से बन सकती है, उसे विदेशों के प्रति द्वेष रखने के

कारण यदि वह बनाने लगे, तो वह स्वदेशी धर्म नहीं होगा। स्वदेशी धर्म का पालन करने वाला मनुष्य विदेशियों से कभी द्वेष करेगा ही नहीं। अर्थात् पूर्ण स्वदेशी धर्म में किसी के प्रति द्वेष की गुंजाइश ही नहीं है। वह संकुचित नहीं, विशाल और उदार धर्म है। वह प्रेम से, अहिंसा से उत्पन्न हुआ सुंदर धर्म है। [फ्रोम यरवडा मंदिर, १९५९, अ. १६, पृ. ६६]

११. स्वावलम्बन और सहयोग

मेरी कल्पना की व्यवस्था की बुनियाद सत्य और अहिंसा है। हमारा प्रथम कर्तव्य यह है कि हमें समाज पर भार नहीं बनना चाहिए, अर्थात् हमे स्वावलम्बी होना चाहिए। इस दृष्टि से स्वयं स्वावलम्बन एक प्रकार की सेवा है। स्वावलम्बी बन जाने के पश्चात् हम अपना फालतू समय दूसरों की सेवा में लगाएँगे। अगर सब लोग स्वावलम्बी बन जाएँ, तो किसीको कष्ट नहीं होगा। ऐसी स्थिति में किसी की सेवा करने की ज़रूरत नहीं रहेगी। परन्तु हम अभी तक उस स्थिति में नहीं पहुँचे हैं, इसलिए हमें समाज-सेवा का विचार करना पड़ता है। हम पूर्ण स्वावलम्बन प्राप्त करने में सफल हो जाएँ तो भी चूँकि मनुष्य सामाजिक प्राणी है, इसलिए हमें किसी न किसी रूप में सेवा स्वीकार करनी होगी। अर्थात् मनुष्य जितना स्वावलम्बी है उतना ही वह परस्परालम्बी है। जब समाज को सुव्यवस्थित रखने के लिए परावलम्बन आवश्यक होता है तब वह परावलम्बन नहीं रह जाता, परन्तु सहयोग हो जाता है। सहयोग में मिठास है। जो सहयोग करते हैं उनमें कोई सबल या कोई निर्बल नहीं होता। सब कोई समान होते हैं। परावलम्बन में लाचारी महसूस होती है। किसी परिवार के लोग जितने परस्परालम्बी होते है उतने ही स्वावलम्बी होते हैं। मेरे-तेरे की कोई भावना उनमें नहीं होती। सब सहयोगी होते हैं। इसी प्रकार जब हम समाज, राष्ट्र या सारी मानव-जाति को परिवार मान लेते हैं, तब भी सब मनुष्य सहयोगी बन जाते हैं। यदि हम ऐसे सहयोग के एक चित्र की कल्पना कर सकें, तो हमें पता चलेगा कि निर्जीव यंत्र के सहारे की हमें ज़रूरत नहीं है। यंत्रों का अधिक से अधिक उपयोग करने के बजाय हम उनका कमसे कम उपयोग करके काम चला लेंगे; और उसीमें समाज की सच्ची सुरक्षितता और आत्मरक्षा निहित है। [दि आइडियालोजी ओफ दि चरखा, १९५१, पृ. ८६-८८]

मेरी स्वावलम्बन की कल्पना इतनी ही है कि वस्त्र, अनाज आदि बुनियादी ज़रूरतों को ग्रामवासी अपने यहीं पैदा कर लें। इसीको हम स्वावलम्बन कहेंगे। लेकिन इसका भी अनर्थ होना संभव है। इसलिए इस चीज़ को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। स्वावलम्बन का अर्थ कूपमण्डूकता नहीं है। स्वावलम्बी बनने का अर्थ पूर्णतया स्वयंपूर्ण बनना नहीं है। किसी भी हालत में हम सभी चीज़ें पैदा कर भी नहीं सकते और न हमें करना है। हमको तो पूर्ण स्वावलम्बन के नज़दीक पहुँचना है। जो चीज़ें हम पैदा नहीं

कर सकते उन्हें पाने के लिए उनके बदले में देने को हमें अपनी आवश्यकता से अधिक चीज़ें पैदा करनी ही होंगी। [खादी, १९५९, पृ. २२२]

आदर्श तो बेशक यही है कि हरएक परिवार की जैसे अपनी ज़मीन होती है, वह अपना अन्न पैदा करता, पकाता और खाता है, ठीक वैसे ही वह अपनी रुई उगाए, सूत काते, उसे बुने और कपड़ा पहने। [खादी, १९५९, पृ. १८५]

अन्न के बारे में कहूँगा कि हमारे पास उपजाऊ ज़मीन की कमी नहीं है, सिंचाई के लिए काफ़ी पानी है और काम करने के लिए काफ़ी आदमी हैं। फिर अनाज की कमी क्यों होनी चाहिए? . . . जनता को अपने आप पर निर्भर रहने का पाठ पढ़ाना चाहिए। एक बार जब लोग यह समझ लेंगे कि उन्हें अपने पाँवों पर खड़े रहना है, तो सारे वातावरण में एक बिजली-सी दौड़ जाएगी।

हिन्दुस्तान अपनी ज़रूरत से ज़्यादा कपास पैदा करता है। लोगों को खुद सूत कातना और उसका कपड़ा बुनना चाहिए। लोगों को अपनी खादी खुद तैयार करनी चाहिए। एक बार लोग अपना अनाज और कपड़ा खुद उत्पन्न करने लगे कि उनका सारा दृष्टिकोण ही बदल जाएगा। [हरिजनसेवक, १९-१०-१९४७, पृ. ३१९]

स्वयंपूर्णाता एक बड़ा शब्द है। . . . अगर गाँव अपनी प्राथमिक आवश्यकताओं के लिए स्वावलम्बी न बने और आपसी मतभेदों तथा बीमारियों वगैरा के कारण उत्पन्न होने वाली आंतरिक अशांति से और चोरों व लुटेरों के बाहरी उपद्रवों से बचने के लिए अपने पैरों पर खड़े न हुए, तो उनकी हस्ती खतरे में पड़ जाएगी, वे मिट जाएँगे। अतएव स्वावलम्बन का मतलब तो यह है कि लोग कपास से लेकर कपड़ा बनाने तक की सभी क्रियाएँ सीख लें, अनाज की मौसमी फसलें खड़ी करें और मवेशियों के लिए घास-चारे का प्रबंध कर लें। अगर यह नहीं हुआ तो भूखों मरने की नौबत आएगी। और अपने पैरों पर खड़े होने का मतलब है लोग सामूहिक रूप से संगठित हों, अपने आपसी झगड़ों को गाँव के समझदार आदमियों की पंचायतों द्वारा निपटाने का प्रबंध करें और गाँव की सफाई, आरोग्य और साधारण बीमारियों के उपचार की सामूहिक व्यवस्था कर लें। इसके लिए केवल व्यक्तिगत प्रयत्नों से काम नहीं चलेगा। और सबसे बड़ी बात तो यह है कि गाँवों को चोरों और डाकुओं से सुरक्षित रखने के

लिए गाँव वालों में संयुक्त प्रयत्नों द्वारा आत्म-विश्वास की भावना पैदा करनी होगी। सामुदायिक अहिंसा इसका सर्वोत्तम उपाय है। लेकिन यदि कार्यकर्ताओं को अहिंसा का मार्ग स्पष्ट न दिखाई पड़े, तो उन्हें हिंसा द्वारा सामूहिक आत्मरक्षा का संगठन करने में झिझकना नहीं चाहिए। [हरिजनसेवक, ५-४-१९४२, पृ. ९८]

स्वयं कातने वालों द्वारा या लगभग हर गाँव में कपास उत्पन्न किए बिना स्वावलग्बी खादी कभी सफल नहीं होगी। इसका अर्थ यह है कि जहाँ तक स्वावलम्बी खादी का संबंध है कमसे कम वहाँ तक कपास की खेती को विकेन्द्रित किया जाए। इसके लिए जिन गाँवों की सेवा की जाए उनकी जन-गणना की हमें ज़रूरत होगी। क्योंकि प्रत्येक कातने या बुनने वाले के पास (छोटासा भी) ज़मीन का ऐसा टुकड़ा नहीं है जहाँ वह कपास पैदा कर सके। स्वावलम्बी खादी ही एक ऐसी योजना है, जिसके लिए चरखा-संघ का अस्तित्व उचित माना जा सकता है। यह ऐसा क्षेत्र है जिसमें संघने किसी उल्लेखनीय पैमाने पर अभी तक कोई काम नहीं किया है। [हरिजन, २७-७-१९३५, पृ. १८८]

ईश्वर की सृष्टि का जो भाग हमारे निकट से निकट हो और जिसे हम अधिक से अधिक जानते हों, उसीकी हम ठीक सेवा कर सकते हैं। हम अपने निकट के पड़ोसी से इसका आरंभ कर सकते हैं। हमें केवल अपना आँगन ही साफ करके संतोष न मान लेना चाहिए, बल्कि हमारे पड़ोसी का आँगन भी साफ रहे इसकी चिंता रखनी चाहिए। हम अपने परिवार की सेवा करें, लेकिन परिवार के लिए गाँव का नुकसान न होने दें। हमारा अपना सम्मान गाँव के सम्मान में ही समाया हुआ है। लेकिन हम में से हरएक को अपनी मर्यादा समझ लेनी चाहिए। जिस जगत में हम रहते हैं उसके संबंध में अपने ज्ञान से हमारी सेवाशक्ति की मर्यादा अपने-आप बँध जाती है। लेकिन यह बात मैं सरल से सरल भाषा में रखूँ। हमें अपने निकट के पड़ोसी के बारे में अधिक सोचना चाहिए और अपने बारे में कम सोचना चाहिए। अपने आँगन का कूड़ा-कचरा पड़ोसी के आँगन में डाल देना मानव-जाति की सेवा नहीं बल्कि कुसेवा है। हम अपने पड़ोसी की सेवा से ही आरंभ करें। [हरिजन, २२-८-१९३६, पृ. २१७]

खेती के बारे में हमें इस बात का पूरा प्रयत्न करना होगा कि ज़मीन के और अधिक टुकड़े न होने पाएँ। गाँव के लोगों को हमें मिल-जुलकर सहयोग से खेती करने के लिए प्रोत्साहित करना होगा। [खादी, १९५९, पृ. २१६]

सहयोग से गाँव अपने लिए कपास पैदा कर सकता है। अगर ऐसा किया जाए तो यह समझना आसान है कि क़ीमत या टिकाऊपन में इस तरह तैयार किए गए कपड़े की बराबरी कोई बाहर से मँगाया गया कपड़ा नहीं कर सकता। इस प्रक्रिया में शक्ति का अधिक से अधिक संचय होता है। [हरिजनसेवक, २६-४-१९३५, पृ. ८०]

हम यह भी न भूल जाएँ कि पशु में और मनुष्य में यही भेद है कि मनुष्य सामाजिक प्रकृति वाला प्राणी है। अगर उसे स्वाधीन होने का विशेषाधिकार प्राप्त हुआ है, तो परस्पराधीन होना भी उसका कर्तव्य है। कोई अहंकारी मनुष्य ही सबसे स्वाधीन और स्वयंपूर्ण होने का दावा कर सकता है। . . . हमारे गाँवों की इस प्रकार पुनर्रचना करना संभव है, जिससे अलग अलग ग्रामवासी तो नहीं परन्तु समूचे गाँव मिलकर अपनी कपड़े की ज़रूरतों के मामले में आत्म-निर्भर हो जाएँ। [यंग इंडिया, २५-४-१९२९, पृ. १३५]

पिछले वर्ष (१९२५) मद्रास में एक सहयोगी मंडल के सामने भाषण देते हुए मैंने कहा था कि हाथ-कताई के द्वारा मैं संसार में सबसे बड़ा सहयोगी मंडल स्थापित करना चाहता हूँ। मेरा यह दावा गलत नहीं है; उसमें महत्त्वाकांक्षा हो सकती है। यह दावा इसलिए गलत नहीं है कि यदि करोड़ों लोग इसमें सहयोग न करें, तो हाथ-कताई का जो उद्देश्य है वह सफल हो ही नहीं सकता।

किसी भी एक केन्द्र के कार्य को लें। मुख्य कार्यालय में कातने वालों के लिए कपास इकट्ठा किया जाता है। शायद उसी मुख्य स्थान पर बिनौले निकालने वाले कपास में से बिनौले निकालते हैं। फिर वह धुनकों को दिया जाता है, ताकि वे उसकी पूनियाँ बना दें। अब यह कपास कातने वालों में बाँटने के लिए तैयार हो गया। वे प्रति सप्ताह अपना कता हुआ सूत लेकर आते हैं और बदले में नई पूनियाँ और अपनी मज़दूरी ले जाते हैं। इस प्रकार जो सूत मिलता है वह जुलाहों को बुनने के लिए दिया जाता है और वे उसकी खादी बुनकर बेचने के लिए केन्द्र को लौटा देते हैं। यह खादी अब पहनने वालों को – जनसमाज को बेच दी जाती है। इस प्रकार मुख्य कार्यालय को जात-पांत, रंग और धर्म का विचार किए बिना असंख्य मनुष्यों के साथ सदा जीवंत संपर्क में रहना पड़ता है। क्योंकि मुख्य कार्यालय को कोई नफा या ब्याज नहीं बाँटना पड़ता है और न उसे भूखों और गरीबों की चिंता के सिवा किसी और बात की चिंता करनी पड़ती है। मुख्य कार्यालय को उपयोगी बनने के लिए सब प्रकार से शुद्ध रहना चाहिए।

उसमें और इस बड़े संगठन के दूसरे अंगों में केवल शुद्ध आध्यात्मिक और नैतिक बंधन ही होता है। इसलिए कताई का केन्द्र तो एक सहयोगी मंडल है और उसके सदस्य हैं बिनौले निकालने वाले, रुई धुनने वाले, सूत कातने वाले, कपड़ा बुनने वाले और खादी खरीदने वाले। ये सब आपस की सदिच्छा और सेवाभाव के एक सामान्य बंधन से बँधे होते हैं। [हिन्दी नवजीवन, १०-६-१९२६, पृ. ३४०]

सहकारी आंदोलन की सफलता का रहस्य यह है कि उसके सदस्य बहुत ईमानदार हों, वे सहकारी काम के लाभों को समझते हों और उनके सामने एक निश्चित ध्येय हो। इसलिए सिर्फ थोड़ा रुपया इकट्ठा करके और हिस्सों या शेयरों पर मनमाना ब्याज लेकर रुपया कमाने की गरज से सहकारी मंडल खड़ा करना अच्छी बात नहीं; लेकिन सहकारी पद्धति से खेती करना या डेरी चलाना सचमुच एक अच्छी चीज़ है, जिससे देश की तरक्की होगी। इसी तरह की कई बातें की जा सकती हैं। मैं नहीं जानता कि . . . ये सब सोसाइटियाँ किस प्रकार की हैं। क्या उनके पास ईमानदार इन्स्पेक्टर हैं, जो अपना काम ठीक तरह समझते हों? जहाँ प्रबंध करने वाले ईमानदार नहीं थे और ध्येय भी स्पष्ट नहीं था, वहाँ इस प्रकार के आंदोलन से प्रायः नुकसान ही हुआ है। [हरिजनसेवक, ६-१०-१९४६, पृ. ३३५]

१२. पंचायत राज

आज़ादी के पहले पंचायतें

पंचायत हमारा बड़ा पुराना और सुंदर शब्द है; उसके साथ प्राचीनता की मिठास जुड़ी हुई है। उसका शाब्दिक अर्थ है गाँव के लोगों द्वारा चुने हुए पाँच आदमियों की सभा। यह शब्द उस पद्धति का सूचक है, जिसके द्वारा भारत के असंख्य ग्राम-लोकराज्यों का शासन चलता था। लेकिन ब्रिटिश सरकार ने महसूल वसूल करने की अपनी कठोर पद्धति से इन प्राचीन लोकराज्यों का लगभग नाश ही कर डाला है। वे इस महसूल-वसूली के आघात को सह नहीं सके। अब काँग्रेस-जन गाँव के बड़े-बूढ़ों को दीवानी और फौजदारी न्याय की सत्ता देकर इस पद्धति को पुनर्जीवित करने का अधूरा प्रयत्न कर रहे हैं। यह प्रयत्न पहले-पहल १९२१ में किया गया था, लेकिन वह असफल रहा। अब वह दुबारा किया जा रहा है। लेकिन अगर वह व्यवस्थित और सुंदर ढंग से – मैं वैज्ञानिक तरीके से नहीं कहूँगा — नहीं किया गया तो फिर असफल रहेगा।

नैनीताल में मुझे बताया गया कि संयुक्त प्रांत (उत्तर प्रदेश) की कुछ जगहों में स्त्री के साथ होने वाले बलात्कार के मामले भी तथाकथित पंचायते ही चलाती हैं। मैंने अज्ञान या पक्षपात वाली पंचायतों द्वारा दिए गए कुछ बेतुके और ऊटपटांग फैसलों के बारे में भी सुना। अगर यह सब सच हो तो बुरा है। ऐसी अनियमित और नियम-विरुद्ध काम करने वाली पंचायतें अपने ही बोझ से दबकर खतम हो जाएँगी। इसलिए मैं ग्रामसेवकों के मार्गदर्शन के लिए नीचे के नियम सुझाता हूँ :

१. प्रांतीय काँग्रेस कमेटी की लिखित इज़ाजत के बिना कोई पंचायत कायम न की जाय।

२. कोई भी पंचायत पहले-पहल ढिंढोरा पिटवाकर बुलाई गई सार्वजनिक सभा में चुनी जानी चाहिए।

३. तहसील कमेटी द्वारा उसकी सिफारिश की जानी चाहिए।

४. ऐसी पंचायत को फौज़दारी मुकदमे चलाने का अधिकार नहीं होना चाहिए।

५. वह दीवानी मुकदमे चला सकती है, अगर दोनों पक्ष अपने झगड़े पंचायत के सामने रखें।

६. किसीको पंचायत के सामने अपनी कोई बात रखने के लिए मज़बूर न किया जाए।

७. किसी पंचायत को जुर्माना करने की सत्ता नहीं होनी चाहिए; उसके दीवानी फैसलों के पीछे एकमात्र बल उसकी नैतिक सत्ता, कड़ी निष्पक्षता और संबंधित पक्षों का स्वेच्छापूर्वक आज्ञा-पालन ही है।

८. अपराध करने वालों का कुछ समय के लिए सामाजिक या दूसरी तरह का बहिष्कार नहीं होना चाहिए।

९. हरएक पंचायत से यह आशा रखी जाएगी कि वह :

(क) अपने गाँव के लड़के-लड़कियों की शिक्षा की ओर ध्यान दे;

(ख) गाँव की सफाई का ध्यान रखे;

(ग) गाँव की दवा-दारू की ज़रूरत पूरी करे;

(घ) गाँव के कुओं या तालाबों की रक्षा और सफाई का काम देखे;

(ड) तथाकथित अस्पृश्यों की उन्नति और दैनिक आवश्यकताएँ पूरी करने का प्रयत्न करे।

१०. जो पंचायत बिना किसी सही कारण के अपने चुनाव के छह महिने के भीतर नियम-९ में बताई गई शर्तें पूरी न करे, या दूसरी तरह से गाँव वालों की सद्भावना खो दे, या प्रांतीय काँग्रेस कमेटी को उचित मालूम होने वाले किसी कारण से निंदा की पात्र ठहरे, तो उसे तोड़ दिया जाए और उसकी जगह पर दूसरी पंचायत चुन ली जाए।

शुरूशुरू में यह ज़रूरी है कि पंचायत को जुर्माना करने या किसी का सामाजिक बहिष्कार करने की सत्ता न दी जाए; गाँवों में सामाजिक बहिष्कार अज्ञान या अविवेकी लोगों के हाथ में एक खतरनाक हथियार सिद्ध हुआ है। जुर्माना करने का अधिकार भी हानिकारक सिद्ध हो सकता है और अपने उद्देश्य को ही नष्ट कर सकता है। जहाँ पंचायत सचमुच लोकप्रिय होती है और नियम-९ में सुझाए गए रचनात्मक कार्य के जरिए अपनी लोकप्रियता को बढ़ाती है, वहाँ वह देखेगी कि उसकी नैतिक प्रतिष्ठा के कारण ही लोग उसके फैसलों और सत्ता का आदर करते हैं। और वही सबसे बड़ा बल है, जो किसी पंचायत के पास हो सकता है और जिसे कोई उससे छीन नहीं सकता। [यंग इंडिया, २८-५-१९३१, पृ. १२३]

स्वतंत्र भारत में पंचायतें

आज़ादी का अर्थ हिन्दुस्तान के आम लोगों की आज़ादी होना चाहिए, उन पर आज हकूमत करने वालों की आज़ादी नहीं। हाकिम आज जिन्हें अपने पाँवतले रौंद रहे हैं, आज़ाद हिन्दुस्तान में उन्हीं लोगों की मेहरबानी पर हाकिमों को रहना होगा। उनको लोगों के सेवक बनना होगा और उनकी मरजी के मुताबिक काम करना होगा।

आज़ादी नीचे से शुरू होनी चाहिए। हरएक गाँव में प्रजातंत्र या पंचायत का राज होगा। उसके पास पूरी सत्ता और ताकत होगी। इसका मतलब यह है कि हरएक गाँव को अपने पाँव पर खड़ा रहना होगा – अपनी ज़रूरतें खुद पूरी कर लेनी होंगी, ताकि वह अपना सारा कारोबार खुद चला सके। यहाँ तक कि वह सारी दुनिया के खिलाफ अपनी रक्षा खुद कर सके। उसे तालीम देकर इस हद तक तैयार करना होगा कि वह बाहरी हमले के सामने अपनी रक्षा करते हुए मर-मिटने के लायक बन जाए। इस तरह आखिर हमारी बुनियाद व्यक्ति पर होगी। इसका यह मतलब नहीं कि पड़ोसियों पर या दुनिया पर भरोसा न रखा जाए; या उनकी राजी-खुशी से दी हुई मदद न ली जाए। खयाल है कि सब आज़ाद होंगे और सब एक-दूसरे पर अपना असर डाल सकेंगे। जिस समाज का हरएक आदमी यह जानता है कि उसे क्या चाहिए और इससे भी बढ़कर जिसमें यह माना जाता है कि बराबरी की मेहनत करके भी दूसरों को जो चीज़ नहीं मिलती है वह खुद भी किसी को नहीं लेनी चाहिए, वह समाज ज़रूर ही बहुत ऊँचे दर्जे की सभ्यता वाला होना चाहिए।

ऐसे समाज की रचना स्वभावत: सत्य और अहिंसा पर ही हो सकती है | मेरी राय है कि जब तक ईश्वर पर जीता-जागता विश्वास न हो, तब तक सत्य और अहिंसा पर चलना असंभव है। ईश्वर या खुदा वह जीती-जागती ताकत है, जिसमें दुनिया की तमाम ताकतें समा जाती हैं। वह किसी का सहारा नहीं लेती और दुनिया की दूसरी सब ताकतों के खतम हो जाने पर भी कायम रहती है। इस जीती-जागती रोशनी पर, जिसने अपने दामन में सब-कुछ लपेट रखा है, अगर मैं विश्वास न रखूँ, तो मैं समझ न सकूँगा कि मैं आज किस तरह जिंदा हूँ।

ऐसा समाज अनगिनत गाँवों का बना होगा। उसका फैलाव एक के ऊपर एक के ढँग पर नहीं, बल्कि लहरों की तरह एक के बाद एक की शकल में होगा। जिंदगी मीनार की शकल में नहीं होगी, जहाँ

ऊपर की तंग चोटी को नीचे के चौड़े पाये पर खड़ा होना पड़ता है। वहाँ तो समुद्र की लहरों की तरह जिंदगी एक के बाद एक घेरे की शकल में होगी और व्यक्ति उसका मध्यबिंदु होगा। यह व्यक्ति हमेशा अपने गाँव के खातिर मिटने को तैयार रहेगा। गाँव अपने आसपास के गाँवों के लिए मिटने को तैयार होगा। इस तरह आखिर सारा समाज ऐसे लोगों का बन जाएगा, जो उद्धत बनकर कभी किसी पर हमला नहीं करते, बल्कि हमेशा नम्र रहते हैं और अपने में समुद्र की उस शान को महसूस करते हैं, जिसके वे एक अभिन्न अंग हैं।

इसलिए सबसे बाहर का घेरा या दायरा अपनी ताकत का उपयोग भीतर वालों को कुचलने में नहीं करेगा, बल्कि उन सबको ताकत देगा और उनसे ताकत पाएगा। मुझे ताना दिया जा सकता है कि यह सब तो खयाली तसवीर है, इसके बारे में सोचकर वक्त क्यों बिगाड़ा जाए? युक्लिड की परिभाषा वाला बिंदु कोई मनुष्य खींच नहीं सकता, फिर भी उसकी क़ीमत हमेशा रही है और रहेगी। इसी तरह मेरी इस तसवीर की भी क़ीमत है। इसके लिए मनुष्य जिंदा रह सकता है। इस तसवीर को पूरी तरह बनाना या पाना संभव नहीं है, तो भी इस सही तसवीर को पाना या इस तक पहुँचना हिन्दुस्तान की जिंदगी का मकसद होना चाहिए। जिस चीज़ को हम चाहते हैं उसकी सही सही तसवीर हमारे सामने होनी चाहिए। तभी हम उससे मिलती-जुलती कोई चीज़ पाने की आशा रख सकते हैं। अगर हिन्दुस्तान के हरएक गाँव से कभी पंचायती राज कायम हुआ, तो मैं अपनी इस तसवीर की सचाई साबित कर सकूँगा, जिसमें सबसे पहला और सबसे आखिर दोनों बराबर होंगे या यों कहिए कि न कोई पहला होगा, न आखिरी।

इस तसवीर में हरएक धर्म की अपनी पूरी और बराबरी की जगह होगी। हम सब एक ही आलीशान पेड़ के पते हैं। इस पेड़ की जड़ हिलाई नहीं जा सकती, क्योंकि वह पाताल तक पहुँची हुई है। जबरदस्त से जबरदस्त आँधी भी उसे हिला नहीं सकती।

इस तसवीर में उन मशीनों के लिए कोई गुंजाइश न होगी, जो मनुष्य की मेहनत की जगह लेकर कुछ लोगों के हाथों में सारी ताकत इकट्ठी कर देती हैं | सभ्य लोगों की दुनिया में मेहनत की अपनी अनोखी जगह है | उसमें ऐसे मशीनों की गुंजाइश होगी, जो हर आदमी को उसके काम में मदद पहुँचाएँ | लेकिन मुझे कबूल करना चाहिए कि मैंने कभी बैठकर यह सोचा नहीं कि इस तरह की मशीन कैसी हो सकती है। सिलाई की सिंगर मशीन का खयाल मुझे आया था। लेकिन उसका जिक्र भी मैंने यों ही

कर दिया था। अपनी इस तसवीर को पूर्ण बनाने के लिए मुझे उसकी ज़रूरत नहीं। [हरिजनसेवक, २८-७-१९४६, पृ. २३६]

तब हम क्या करें? अगर हम पंचायती राज का सपना पूरा करना चाहते हैं, लोकतंत्र की स्थापना करना चाहते हैं, तो मानना होगा कि छोटेसे छोटा हिन्दुस्तानी बड़े से बड़े हिन्दुस्तानी के बराबर ही हिन्दुस्तान का शासक है | इसके लिए उसे शुद्ध होना चाहिए। शुद्ध न हो तो शुद्ध बनना चाहिए। वह जैसा शुद्ध हो वैसा ही समझदार भी हो। वह जातिभेद और वर्णभद नहीं मानेगा। सबको अपने समान समझेगा। दूसरों को अपने प्रेमपाश में बाँधेगा। उसके लिए कोई अछूत नहीं होगा। उसी तरह मज़दूर और महाजन दोनों उसके लिए समान होंगे। वह करोड़ों मज़दूरों की तरह पसीने की रोटी कमाना जानेगा और कलम तथा कड़छी को एकसा समझेगा। इस शुभ अवसर को निकट लाने के लिए वह खुद भंगी बन जाएगा। वह समझदार होगा, इसलिए अफीम या शराब को छुएगा ही क्यों? स्वभाव से ही वह स्वदेशी-व्रत का पालन करेगा। अपनी पत्नी को छोड़कर वह सभी स्त्रियों को उमर के अनुसार माँ, बहन या लड़की मानेगा। किसी पर बुरी नज़र नहीं डालेगा। मन में भी बुरी भावना नहीं रखेगा। जो अधिकार उसका है वही अधिकार वह अपनी स्त्री का भी समझेगा। समय आने पर वह खुद मरेगा। दूसरे को कभी नहीं मारेगा। और वह बहादुर ऐसा होगा कि गुरुओं के सिक्खों की तरह अकेला सवा लाख के सामने अड़ा रहेगा और एक कदम भी पीछे नहीं हटेगा। ऐसा हिन्दुस्तानी यह नहीं पूछेगा कि इस यत्न में मुझे क्या भाग लेना है। [हरिजनसेवक, १८-१-१९४८, पृ. ४५७]

पंचायत के कर्तव्य

पुराने जमाने में यूनान, चीन और अन्य दूर के देशों से प्रसिद्ध यात्री भारत में आते थे। बड़ी-बड़ी तकलीफें उठाकर वे हमारे देश में ज्ञान पाने के लिए आते थे। उन्होंने लिखा है कि हिन्दुस्तान एक ऐसा देश हैं, जहाँ कोई चोरी नहीं करता, कोई अपने दरवाजों को ताला नहीं लगाता। लोग ईमानदार और उद्यमी है। सब लोग शराफत से रहते हैं। यह बात करीब दो हजार वर्ष पुरानी है। उस समय सिर्फ चार जातियाँ थीं। आज तो इतनी हो गई कि क्या कहना। पंचायत-घर बनाकर आपने अपने पर बड़ी ज़िम्मेदारी ले ली हैं। इस पंचायत को आप सुशोभित करें। यहाँ आपस में झगड़ा तो होना ही नहीं चाहिए। अगर झगड़ा हो तो पंच उसे निबटा दें। एक साल बाद मैं आपसे पूछूँगा कि आपके यहाँ से कोई कोर्ट में गया था या नहीं।

अगर कोई गया तो माना जाएगा कि पंचायतने अपना काम अच्छी तरह नहीं किया। पंच परमेश्वर का काम करते हैं। आपकी कोर्ट एक ही होनी चाहिए – वह है आपकी पंचायत। इसमें खर्च एक कौड़ी का नहीं और काम शीघ्रता से हो जाता है। ऐसा होने पर न तो पुलीस की ज़रूरत होगी और न मिलिटरी की।

पंचायत को देखना है कि मवेशी को पूरा खाना मिलता है या नहीं। गाय आज पूरा दूध नहीं देती, क्योंकि उसे पूरा खाना नहीं मिलता। आज दरअसल हिन्दू गाय को काटते हैं, मुसलमान या दूसरे कोई नहीं काटते। हिन्दू गाय को अच्छी तरह रखते नहीं और आहिस्ता आहिस्ता उसका कत्ल करते हैं। वह ज़्यादा बुरा है। गाय को हिन्दुस्तान में जितना कष्ट उठाना पड़ता है उतना और किसी देश में नहीं उठाना पड़ता।

इसी तरह आज ज़मीन में जितना अन्न पैदा होता है उससे दुगुना अन्न पैदा हो, यह देखना पंचायत का काम है। ज़मीन में ठीक ढंग से खाद देकर यह काम किया जा सकता है। मनुष्य और जानवर के मल और कचरे में से सोनखाद तैयार हो सकती है, जिससे ज़मीन की उपज़ बढ़ेगी।

तीसरा खयाल आपको यह रखना है कि क्या यहाँ के सब लोग स्वस्थ हैं, भीतर और बाहर से स्वस्थ हैं। यहाँ के रास्तों पर धूल, गोबर और कचरा बिलकुल नहीं होना चाहिए। मैं आशा करता हूँ कि यहाँ सिनेमा-घर होगा ही नहीं। सिनेमा से हम काफ़ी बुराई सीख सकते हैं। कहते हैं कि सिनेमा शिक्षण का साधन बन सकता है। यह होगा तब होगा, लेकिन आज तो उससे बुराई ही हो रही है। आप देशी खेलकूद को पसंद करेंगे। मैं आशा करता हूँ कि आपके यहाँ शराब, गाँजा, अफीम बगैर नशीली चीज़ें नहीं होंगी। आप अपने यहाँ से छुआछूत का भूत निकाल फेंकेंगे। यहाँ हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई वगैरा सब सगे भाइयों क़ी तरह रहेंगे। यह सब आप कर लेंगे तो आप सच्ची आज़ादी का नमूना पेश करेंगे। सारा हिन्दुस्तान आपके आदर्श गाँव को देखने आएँगा और उससे प्रेरणा लेगा। [हरिजनसेवक, ४-१-१९४८, पृ. ४३५-३६]

१३. नई तालीम

१

आम तौर पर नई तालीम का अर्थ किया जाता है उद्योग द्वारा शिक्षा देना। लेकिन यह कुछ अंश तक ही ठीक है। नई तालीम की जड़ इससे गहरी जाती है। उसका आधार है सत्य और अहिंसा। व्यक्तिगत जीवन और सामाजिक जीवन, दोनों में ये दो ही उसके आधार हैं। विद्या वह है जो मुक्ति दिलाने वाली हो – 'सा विद्या या विमुक्तये।' झूठ और हिंसा तो बंधनकारक हैं। उनका शिक्षा में कोई स्थान नहीं हो सकता। कोई धर्म यह नहीं सिखाता कि बच्चों को असत्य और हिंसा की शिक्षा दो। सच्ची शिक्षा हरएक को सुलभ होनी चाहिए। वह कुछ लाख शहरियों के लिए ही नहीं, परन्तु करोड़ों देहातियों के लिए उपयोगी होनी चाहिए। ऐसी शिक्षा कोरी पोथियों से थोड़े मिल सकती है। उसका सांप्रदायिक धर्म से भी कोई संबंध नहीं हो सकता। वह तो धर्म के उन विश्वव्यापी सिद्धांतों की शिक्षा देती है, जिनमें से सब संप्रदायों के धर्म निकले हैं। यह शिक्षा तो जीवन की पुस्तक से मिलती है। उसके लिए कुछ खर्च नहीं करना पड़ता और उसे ताकत के जोर से कोई छीन नहीं सकता। [हरिजनसेवक, २२-१२-१९४७, पृ. ४१२]

मेरा मत है कि बुद्धि का सच्चा विकास हाथ, पैर, कान, नाक, आँख आदि अवयवों के सदुपयोग से ही हो सकता है, अर्थात् शरीर का ज्ञानपूर्वक उपयोग करते हुए बुद्धि का विकास सबसे अच्छा और जल्दी से जल्दी होता है। इसमें भी यदि पारमार्थिक वृत्ति का मेल न हो, तो बुद्धि का विकास एकतरफा होता है। पारमार्थिक वृत्ति हृदय अर्थात् आत्मा का क्षेत्र है। अतः यह कहा जा सकता है कि बुद्धि के शुद्ध विकास के लिए आत्मा और शरीर का विकास साथ-साथ तथा एकसी गति से होना चाहिए। इससे अगर कोई यह कहे कि ये विकास एक के बाद एक हो सकते हैं, तो यह ऊपर की विचारसरणी के अनुसार ठीक नहीं होगा।

हृदय, बुद्धि और शरीर के बीच मेल न होने से जो दुःसह परिणाम आया है वह प्रकट है, तो भी गलत आदत के कारण हम उसे देख नहीं सकते। गाँवों के लोगों का पालन-पोषण पशुओं के बीच होने के कारण वे मात्र शरीर का उपयोग यंत्र की भाँति किया करते हैं; बुद्धि का उपयोग वे करते ही नहीं और

उन्हें करना भी नहीं पड़ता। हृदय की शिक्षा उनमें नहीं के बराबर है। इसलिए उनका जीवन यों ही गुजर रहा है, जो किसी भी काम का नहीं रहा है। और दूसरी ओर आधुनिक कोलेजों तक की शिक्षा पर जब नज़र डालते हैं, तो वहाँ बुद्धि के विकास के नाम पर बुद्धि के विलास की ही तालीम दी जाती है। लोग ऐसा समझते हैं कि बुद्धि के विकास के साथ शरीर का कोई मेल नहीं है। पर शरीर को कसरत तो चाहिए ही, इसलिए उपयोग रहित कसरतों से उसे निभाने का भिथ्या प्रयोग होता है। पर चारों ओर से मुझे इस तरह के प्रमाण मिलते ही रहते हैं कि स्कूल-कोलेजों से पास होकर जो विद्यार्थी निकलते हैं, वे मेहनत-मशक्कत के काम में मज़दूरों की बराबरी नहीं कर सकते। जरासी मेहनत की कि उनका माथा दुखने लगता है और धूप में घूमना पड़े तो उन्हें चक्कर आने लगते हैं। यह स्थिति 'स्वाभाविक' मानी जाती है। बिना जुते खेत में जैसे घास उग आती है, उसी तरह हृदय की वृत्तियाँ आप ही उगती और कुम्हलाती रहती है और यह स्थिति दयनीय मानी जाने के बदले प्रशंसनीय मानी जाती है !!

इसके विपरीत यदि बचपन से बालकों के हृदय की वृत्तियों को ठीक तरह से मोड़ा जाए, उन्हें खेती, चरखा आदि उपयोगी कामों में लगाया जाए और जिस उद्योग द्वारा उनका शरीर खूब कसा जा सके उस उद्योग की उपयोगिता और उसमें काम आने वाले औजारों वगैरा की बनावट आदि का ज्ञान उन्हें दिया जाए , तो उनकी बुद्धि का विकास सहज ही होता जाए और नित्य उसकी परीक्षा भी होती जाए। ऐसा करते हुए गणितशास्त्र आदि के जिस ज्ञान की आवश्यकता हो वह उन्हें दिया जाए और आनंद के लिए साहित्य आदि का ज्ञान भी देते जाएँ, तो तीनों वस्तुएँ समतोल हो जाएँ और उनका कोई अंग अविकसित न रहे। मनुष्य न केवल बुद्धि है, न केवल शरीर है और न केवल हृदय या आत्मा है। तीनों के एक समान विकास से ही मनुष्य का मनुष्यत्व सिद्ध होगा | इसीमें सच्चा अर्थशास्त्र हैं। [हरिजनसेवक, १७-४-१९३७, पृ. ७०-७१]

अगर हम ऐसी शिक्षा देना चाहते हैं, जो गाँवों की आवश्यकताओं के लिए सबसे अधिक उपयुक्त हो, तो विद्यापीठ को हमें गाँवों में ले जाना चाहिए। विद्यापीठ को हमें एक प्रशिक्षण-शाला में परिणत कर देना चाहिए, जिससे कि हम ग्रामवासियों की आवश्यकताओं के अनुसार अध्यापकों को शिक्षा दे सकें। शहर में प्रशिक्षण-शाला रखकर उसके द्वारा ग्रामवासियों की आवश्यकताओं के अनुसार आप अध्यापकों को तालीम नहीं दे सकते; न आप उन्हें गाँवों की हालत में दिलचस्पी लेने वाले बना सकते

है। शहर के लोगों को गाँवों के प्रश्नों में दिलचस्पी लेने और वहाँ रहने के लिए तैयार करना कोई आसान काम नहीं। सेगाँव में रोज ही मेरा यह मत दृढ़ होता जाता है। मैं आपको यह यकीन नहीं दिला सकता कि हम सेगाँव में रहकर ग्रामवासी बन गए हैं, या किसी सार्वजनिक हितमें हमने ग्रामवासियों के साथ ऐक्य स्थापित कर लिया है।

प्राथमिक शिक्षा के बारे में मेरा यह दृढ़ मत है कि वर्णमाला तथा वाचन और लेखन से शिक्षा का आरंभ करने से बालकों की बुद्धि का विकास कुंठित-सा हो जाता है। जब तक उन्हें इतिहास, भूगोल, जबानी गणित और कताई की कला का प्रारंभिक ज्ञान न हो जाए, तब तक मैं उन्हें वर्णमाला नहीं सिखाऊँगा। इन तीन चीजों के द्वारा मैं उनकी बुद्धि को विकसित करूँगा। यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि तकली या चरखे के द्वारा किस तरह बुद्धि विकसित की जा सकती है। अगर यह कला महज यंत्र की तरह न सिखाई जाए, तो वह आश्चर्यजनक रीति से बुद्धि का विकास कर सकती है। जब आप बालक को हरएक क्रिया का ठीक-ठीक कारण समझाएँगे, जब आप उसे तकली या चरखे के हरएक कल-पुरजे के बारे में बताएँगे, जब आप उसे कपास और सभ्यता के साथ उसके संबंध के इतिहास का ज्ञान देंगे और अपने साथ उसे गाँव के कपास के खेत में ले जाएँगे और जब आप उसे उसके काते हुए सूत की समानता और मज़बूती जानने का तरीका या तार गिनना सिखाएँगे, तब आप उसका दिल तो कताई की कला की तरफ आकर्षित करेंगे ही, साथ ही उसके हाथों, उसकी आँखों और उसकी बुद्धि को भी साधते जाएँगे। इस प्रारंभिक शिक्षा को मैं छह महीने दूँगा। इतने समय में बालक शायद यह सीखने के लिए तैयाँर हो जाएगा कि वर्णमाला किस तरह पढ़ी जाती है; और जब वह वर्णमाला जल्दी-जल्दी पढ़ने के योग्य हो जाएगा, तो सादा ड्राइंग सीखने के लिए तैयार हो जाएगा। और जब रेखागणित की शकलें तथा चिड़ियों वगैरा के चित्र खींचने लगेगा, तो वह अक्षरों को बिगाड़कर नहीं लिखेगा। मुझे अपने बचपन के दिन याद हैं, जब मुझे वर्णमाला सिखाई जाती थी। मैं जानता हूँ कि मुझे कितनी कठिनाई पड़ती थी। किसीको यह परवाह नहीं थी कि मेरी बुद्धि पर क्यों जंग लगाया जा रहा है। लेखन-कला को मैं एक ललित कला मानता हूँ। छोटे-छोटे बच्चों की बुद्धि पर वर्णमाला को लादकर और उसे शिक्षा का श्रीगणेश मानकर हम इस कला का गला घोट देते हैं। इस तरह हम लेखन-कला के साथ हिंसा करते

हैं और योग्य समय के पहले ही वर्णमाला सिखाने का प्रयत्न करके हम बालक की बाढ़ को मार देते हैं। [हरिजनसेवक, ५-६-१९३७, पृ. १२८-२९]

गाँव की दस्तकारियों की तालीम को शिक्षा का मध्यबिंदु समझने की आवश्यकता और महत्त्व के विषय में मुझे जरा भी शंका नहीं है। हिन्दुस्तान की शिक्षा-संस्थाओं में जो प्रणाली अख्तियार की गई है, उसे मैं शिक्षा नहीं कहता; वह मनुष्य की बुद्धि के सर्वोत्तम अंश को विकसित करने वाली शिक्षा नहीं है, बल्कि बुद्धि का विलास है। बुद्धि को वह किसी तरह सूचनाओं से अवगत कर देती है। बुद्धि का सच्चा व्यवस्थित विकास तो शूरू से ही गाँव की दस्तकारियों द्वारा बुद्धि को शिक्षा देने की प्रणाली से होगा, और फलतः बौद्धिक शक्ति और अप्रत्यक्ष रीति से आध्यात्मिक शक्ति की भी उससे रक्षा होगी। [हरिजनसेवक, ५-६-१९३७, पृ. १२९]

जुदा जुदा विषयों पर मेरी जो तज़वीजें हैं, उनमें हाथ अक्षर बनाने या लिखने की कोशिश करने के पहले औजार चलाने का काम करेंगे। आँखें जैसे जिंदगी की दूसरी चीज़ें देखती है, उसी तरह अक्षरों और शब्दों के चित्र देखेंगी; कान चीज़ों और वाक्यों के नाम और अर्थ को समझेंगे। सारी शिक्षा कुदरती और रस पैदा करने वाली होगी और इसीलिए देश की सब शिक्षाओं से तेज़ रफ्तार वाली और सस्ती रहेगी। इसलिए मेरे स्कूल के लड़के जितनी तेज़ रफ्तार से लिखेंगे, उससे भी अधिक तेज़ रफ्तार से वे पढ़ने लगेंगे। और जब वे लिखना शुरू करेंगे तो भद्दी लकीरें नहीं खीचेंगे, जैसे कि मैं अब तक (शिक्षकों की कृपा से) खींचता रहता हूँ; बल्कि जिस तरह वे अपने को दिखाई देने वाली दूसरी चीज़ों की ठीक शकलें खींच सकेंगे, उसी तरह अक्षरों की भी ठीक शकलें बना सकेंगे। अगर मेरे कयास के स्कूल कभी कायम हों, तो मैं यह कहने का साहस करता हूँ कि वाचन के मामले में वे सबसे आगे बढ़े हुए स्कूलों के साथ होड़ कर सकेंगे; और अगर यह आम ख़याल हो कि लिखावट जैसी कि आजकल ज़्यादातर मामलों में होती हैं वैसी गलत नहीं बल्कि सही तरीके की हो, तो लिखावट में भी मेरे ये स्कूल आज के उन्नत से उन्नत स्कूल की बराबरी कर सकेंगे। [हरिजनसेवक, ४-९-१९३७, पृ. २२७]

प्राथमिक शिक्षा का पाठ्यक्रम कम से कम सात साल का हो। इसमें बच्चों को इतना सामान्य ज्ञान मिल जाना चाहिए, जो उन्हें साधारणतया मैट्रिक तक की शिक्षा में मिल जाता है। इसमें अंग्रेजी नहीं रहेगी। उसकी जगह कोई एक अच्छा-सा उद्योग सिखाया जाएगा।

लड़कों और लड़कियों का सर्वतोमुखी विकास हो, इसलिए सारी शिक्षा जहाँ तक हो सके एक ऐसे उद्योग द्वारा दी जानी चाहिए, जिसमें कुछ उपार्जन भी हो। इसे यों भी कह सकते हैं कि इस उद्योग द्वारा दो हेतु सिद्ध होने चाहिए – एक तो विद्यार्थी उस उद्योग की उपज़ और अपने श्रम से अपनी पढ़ाई का खर्च अदा कर सकें, और दूसरे स्कूल में सीखे हुए इस उद्योग द्वारा उस लड़के या लड़की में उन सभी गुणों और शक्तियों का पूर्ण विकास हो जाए, जो एक पुरुष या स्त्री के लिए आवश्यक हैं।

पाठशाला की ज़मीन, इमारतों और दूसरे ज़रूरी सामान का खर्च विद्यार्थी के परिश्रम से निकालने की कल्पना नहीं की गई है।

कपास, रेशम और उनकी बिनाई से लेकर सफाई, (कपास की) लुढ़ाई, पिंजाई, कताई, रंगाई, मांड लगाना, ताना लगाना, दोसूती (दुबटा) करना, डिज़ाइन (नमूने) बनाना तथा बुनाई आदि तमाम क्रियाएँ और कसीदा काढ़ना, सिलाई कैरना, काग़ज़ बनाना, काग़ज़ काटना, जिल्दसाजी करना, आलमारी, फर्नीचर वगैरा तैयार करना, खिलौने बनाना, गुड़ बनाना इत्यादि ऐसे निश्चित उद्योग हैं, जिन्हें आसानी से सीखा जा सकता है और जिन्हें चलाने के लिए बहुत बड़ी पूँजी की भी ज़रूरत नहीं होती।

इस प्रकार की प्राथमिक शिक्षा से लड़के और लड़कियाँ इस लायक हो जाएँ कि वे अपनी रोजी कमा सकें, इसके लिए यह ज़रूरी है कि जिन धंधों की शिक्षा उन्हें दी गई हो उनमें राज्य उन्हें काम दे। अथवा राज्य द्वारा निश्चित की गई कीमतों पर सरकार उनकी बनाई हुई चीज़ों को खरीद लिया करे। [हरिजनसेवक, २-१०-१९३७, पृ. २५९-६०]

परन्तु समस्त राष्ट्र की दृष्टि से हम शिक्षा में इतने पिछड़े हुए हैं कि अगर शिक्षा-प्रचार के लिए हम केवल धन पर ही निर्भर रहेंगे, तो एक निश्चित समय के अंदर राष्ट्र के प्रति अपने फर्ज को अदा करने की आशा हम कभी कर ही नहीं सकते। इसलिए मैंने यह सुझाने का साहस किया है कि शिक्षा को हमें स्वावलम्बी बना देना चाहिए, फिर लोग भले ही मुझे यह कहें कि मेरे अंदर किसी रचनात्मक कार्य की योग्यता नहीं है। शिक्षा से मेरा मतलब है बच्चे या मनुष्य की तमाम शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शक्तियों का सर्वतोमुखी विकास। अक्षर-ज्ञान न तो शिक्षा का आरंभ है और न अंतिम लक्ष्य। वह तो उन अनेक उपायों में से एकु है, जिनके द्वारा स्त्री-पुरुषों को शिक्षित किया जा सकता है। फिर सिर्फ

अक्षरज्ञान को शिक्षा कहना गलत है। इसलिए बच्चे की शिक्षा का प्रारंभ मैं किसी दस्तकारी की तालीम से ही करूँगा और उसी क्षण से उसे कुछ निर्माण करना सिखा दूँगा। इस प्रकार हरएक पाठशाला स्वावलम्बी हो सकती है। शर्त सिर्फ यह है कि इन पाठशालाओं की बनी चीज़ें राज्य खरीद लिया करे।

मेरा मत है कि इस तरह की शिक्षा-प्रणाली द्वारा ऊँची से ऊँची मानसिक और आध्यात्मिक उन्नति प्राप्त की जा सकती है। सिर्फ एक बात की ज़रूरत है। वह यह कि आज की तरह प्रत्येक दस्तकारी की केवल यांत्रिक क्रियाएँ सिखा कर ही हम न रह जाएँ, बल्कि बच्चे को प्रत्येक क्रिया का कारण और पूर्ण विधि भी सिखा दिया करें। यह मैं आत्मविश्वास के साथ कह रहा हूँ, क्योंकि उसके मूल में मेरा अपना अनुभव है। जहाँ-जहाँ कार्यकर्ताओं को कताई सिखाई जाती है, वहाँ न्यूनाधिक पूर्णता के साथ इसी पद्धति का अवलम्बन किया जाता है। मैंने खुद इसी पद्धति से चप्पल बनाने की तथा कताई की शिक्षा दी है और उसके परिणाम अच्छे आएँ हैं। इस पद्धति में इतिहास और भूगोल का बहिष्कार भी नहीं है। मैंने तो देखा है कि इस तरह की साधारण और व्यावहारिक जानकारी की बातें जबानी कहने से ही अधिक लाभ होता है। लिखने और पढ़ने से बच्चा जितना नहीं सीखता, उससे दस गुनी अधिक जानकारी उसे इस पद्धति द्वारा दी जा सकती है। वर्णमाला (के चिह्नों) का ज्ञान बच्चे को बाद में भी दिया जा सकता है, जब बच्चा गेहूँ और चोकर को पहचानने लग जाए और जब उसकी बुद्धि और रुचि कुछ विकसित हो जाए। यह प्रस्ताव क्रांतिकारी ज़रूर है; पर इसमें परिश्रम की खूब बचत होती है और विद्यार्थी एक साल में इतना सीख जाता है कि जिसके लिए साधारणतया उसे बहुत अधिक समय लग सकता है। फिर इस पद्धति में सब तरह से किफायत ही किफायत है। हाँ, विद्यार्थी को गणित का ज्ञान तो दस्तकारी सीखते हुए अपने-आप ही होता रहता है

प्राथमिक शिक्षा मेरी नज़र में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण चीज़ है। उसकी मर्यादा मैंने यही कायम की है कि जितनी पढ़ाई मैट्रिक तक — अंग्रेजी को छोड़कर – होती है, उतनी ही इसमें हो जानी चाहिए। फर्ज कीजिए कि कोलेजों के पढ़े हुए और पढ़ने वाले सब लोग एकाएक अपनी सारी पढ़ाई भूल जाएँ, तो इन कुछ लाख लोगों के स्मृतिनाश से जितनी हानि हो सकती है वह उस हानि के मुकाबले में कुछ भी नहीं है, जो उन ३०-३५ करोड़ लोगों को अज्ञान के सागर जैसे महा अंधकार के कारण अब तक हुई

है और हो रही है। करोड़ों ग्रामवासियों के अज्ञान की थाह हम केवल निरक्षरता से होने वाली हानि से कभी नहीं पा सकते।

कोलेज की शिक्षा में भी मैं जबरदस्त क्रांति कर देना चाहूँगा। उसे मैं राष्ट्रीय जरूरतों के साथ जोड़ दूँगा। यंत्रों तथा ऐसी ही अन्य कला-कौशल संबंधी निपुणता की कुछ उपाधियाँ होंगी। वे भिन्न-भिन्न उद्योगों से संबंध रखेंगी और यही उद्योग अपने लिए आवश्यक विशारदों को तैयार करने का खर्च बरदाश्त करेंगे। जैसे, टाटा कंपनी से यह अपेक्षा की जाएगी कि वह यंत्रकला-विशारदों के लिए एक महाविद्यालय राज्य की देखभाल में चलावे। इसी प्रकार मिलों के लिए आवश्यक विशारद पैदा करने के लिए एक कोलेज मिल-मालिकों का संघ चलावे। यही अन्य उद्योग भी करें। व्यापारियों का भी अपना कोलेज रहे। अब रह जाते हैं साधारण ज्ञान (आर्ट्स) आयुर्वेद और खेती। साधारण ज्ञान के कितने ही निजी कोलेज आज भी स्वाश्रयी हैं ही। इसलिए राज्य को अपना कोई स्वतंत्र कोलेज खोलने की ज़रूरत नहीं रहेगी। आयुर्वेद-संबंधी महाविद्यालय प्रमाणित औषधालयों के साथ जोड़ दिए जाएँगे; और चूँकि धनिक लोगों को ये प्रिय होते ही है, इसलिए उनसे यह अपेक्षा ज़रूर की जा सकती है कि वे चंदा करके इन विद्यालयों को चलावें। अब रहे खेती के विद्यालय। सो अगर इन्हें अपने नाम की लाज रखनी हो तो इन्हें भी स्वावलम्बी बनना ही पढ़ेगा। मुझे इन विद्यालयों में शिक्षाप्राप्त कुछ उपाधिधारियों का दुःखद अनुभव हुआ है। उनका ज्ञान छिछला होता है। उन्हें व्यावहारिक अनुभव नहीं होता। अगर उन्हें राष्ट्र की ज़रूरतों की पूर्ति करने वाले स्वावलम्बी खेतों पर काम सीखने का मौका मिला होता, तो उन्हें उपाधि प्राप्त करने के बाद और सो भी अपने मालिकों के धन पर अनुभव प्राप्त करने की ज़रूरत हरगिज़ नहीं रहती। [हरिजनसेवक, ३१-७-१९३७, पृ. १९१-९२]

अगर हमें जैसे चाहिए वैसे शिक्षक मिल जाएँ, तो हमारे बच्चे श्रमधर्म के गौरव को समझने लगेंगे और उसे वे अपने बौद्धिक विकास का साधन और महत्त्वपूर्ण अंग भी मानने लगेंगे। साथ ही वे यह भी अनुभव करने लगेंगे कि वे जो शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं, उसका मूल्य श्रम के रूप में चुकाना भी एक प्रकार की देशसेवा ही है। मेरे सुझाव का आशय तो यह है कि हम बच्चों को दस्तकारियों की शिक्षा महज इसलिए न दें कि वे कुछ उत्पादक काम करना सीखें, बल्कि इसलिए दें कि उसके द्वारा उनकी बुद्धि का विकास हो। सचमुच अगर राज्य ७ से १४ वर्ष की उम्र के अंदर के बच्चों को अपने हाथ में ले ले, उत्पादक

श्रम द्वारा उनके मन और शरीर को विकसित करने की कोशिश करे और फिर भी यह शिक्षा स्वावलम्बी न हो सके, तो कहना होगा कि निश्चय ही वे पाठशालाएँ ठगी के स्थान हैं और उनमें काम करने वाले शिक्षक निरे मूर्ख हैं। [हरिजनसेवक, ११-९-१९३७, पृ. २३८]

अभी तक हमने अपने बच्चों को शक्तिसंपन्न और उन्नत बनाने का ख़याल किए बिना उनके दिमागों में किताबी बातें ठूँसने में ही अपनी सारी ताकत लगाई है। अब हमें इसे रोक देना चाहिए और ऊपरी कार्य की तरह नहीं, बल्कि बौद्धिक शिक्षा के प्रधान साधन की तरह हाथपैर के काम के जरिए बच्चों को उचित रूप से शिक्षा देने में अपनी शक्ति केन्द्रित करनी चाहिए। [हरिजनसेवक, १८-९-१९३७, पृ. २४८]

मैं जिस तरह के स्कूलों की हिमायत करता हूँ, उनमें तो लड़के हाइस्कूलों में अंग्रेजी को छोड़कर जितना सीखते हैं वह सब सीखेंगे और उसके उपरांत कवायद, संगीत, आलेखन और बेशक एकाध उद्योग भी सीखेंगे। [हरिजन, १८-९-१९३७, पृ. २६५]

मैं मानता हूँ कि शिक्षा अनिवार्य और मुफ्त होनी ही चाहिए। पर बालकों को उपयोगी उद्योग देकर उसके मारफत ही उनके मन और शरीर की शिक्षा होनी चाहिए। मैं यहाँ भी पैसों की गिनती करता हूँ, वह अनुचित नहीं है। अर्थशास्त्र नैतिक और अनैतिक दोनों प्रकार का होता है। नैतिक अर्थशास्त्र में दोनों बाजू बराबर होंगी। अनैतिक में जिसकी लाठी उसकी भैंस का न्याय चलता है। इसका प्रमाण कितना हो, यह उसकी ताकत पर आधार रखता है। अनैतिक अर्थशास्त्र जैसे घातक है, वैसे ही नैतिक अर्थशास्त्र आवश्यक है। उसके बिना धर्म की पहचान और उसका पालन मैं असंभव मानता हूँ। [हरिजन, ९-१०-१९३७, पृ. २९२

कौनसे उद्योग शहरों में सरलतापूर्वक सिखाएँ जा सकते हैं? मेरे पास तो उत्तर तैयार ही है। मैं जो चाहता हूँ वह तो गाँव की ताकत है। आज गाँव शहरों के लिए जीते हैं, उन पर अपना आधार रखते हैं। यह अनर्थ है। शहर गाँवों पर निर्भर रहें, अपने बल का सिंचन गाँवों से करें अर्थात् अपने लिए गाँवों का बलिदान करने के बजाय स्वयं गाँवों के लिए बलिदान और त्याग करें, तो अर्थ सिद्ध होगा और अर्थशास्त्र नैतिक बनेगा। ऐसे शुद्ध अर्थ की सिद्धि के लिए शहरों के बालकों के उद्योग का गाँवों के उद्योगों के साथ

सीधा संबंध होना चाहिए। ऐसा होने के लिए मेरे ख़याल में अभी तो पींजन से लेकर कताई तक के उद्योग आते हैं। आज भी कुछ तो ऐसा होता ही है। गाँव कपास देते हैं और मिलें उसमें से कपड़ा बुनती है। इसमें शुरू से आखिर तक अर्थ का नाश किया जाता है। कपास जैसे-तैसे बोई जाती है, जैसे-तैसे चुनी जाती है और जैसे-तैसे साफ की जाती है। किसान इस कपास को कई बार नुकसान सहकर भी राक्षसी जिनों में बेचता है। वहाँ वह बिनौले से अलग होकर, दबकर, अघमरी बनकर मिलरों में गांठों के रूप में जाती है। वहाँ उसे पींजा जाता है, काता जाता है और बुना जाता है। ये सब क्रियाएँ इस तरह होती है कि कपास का तत्त्व – सार – तो जल जाता है और उसे निर्जीव बना दिया जाता है। मेरी भाषा से कोई द्वेष न करे। कपास में जीव तो है ही। इस जीव के प्रति मनुष्य या तो कोमलता से व्यवहार करे या राक्षस की तरह। आजकल के व्यवहार को मैं राक्षसी व्यवहार मानता हूँ।

कपास की कुछ क्रियाएँ गाँवों में और शहरों में हो सकती है। ऐसा होने से शहरों और गाँवों के बीच का संबंध नैतिक और शुद्ध होगा। दोनों की वृद्धि होगी और आज की अव्यवस्था, भय, शंका, द्वेष सब मिट जाएँगे या कम हो जाएँगे। गाँवों का पुनरुद्धार होगा। इस कल्पना का अमल करने में थोड़े से द्रव्य की ही ज़रूरत है। वह आसानी से मिल सकता है। विदेशी बुद्धि या विदेशी यंत्रों की ज़रूरत ही नहीं रहती। देश की भी अलौकिक बुद्धि की ज़रूरत नहीं है। एक छोर पर भुखमरी और दूसरे छोर पर जो अमीरी चल रही है, वह मिटकर दोनों का मेल सधेगा और विग्रह तथा खून खराबी का जो भय हमको हमेशा डराता रहा है वह दूर होगा। पर बिल्ली के गले में घँटी कौन बाँधे? बम्बई कोर्परेशन का हृदय मेरी कल्पना की तरफ किस प्रकार मुड़े? इसका जवाब मैं सेगाँव से दूँ, इसके बजाय तो शहर के विद्यारसिक नागरिक ही ज़्यादा अच्छी तरह दे सकते हैं। [हरिजन, ९-१०-१९३७, पृ. २९३]

अगर इस प्रकार की शिक्षा बच्चों को दी जाए, तो परिणाम यह होगा कि वह शिक्षा स्वावलम्बी हो जाएगी। लेकिन सफलता की कसौटी उसका स्वाश्रयी रूप नहीं है, बल्कि यह देखकर सफलता का अंदाज लगाना होगा कि वैज्ञानिक रीति से उद्योग की शिक्षा के द्वार बालक के भीतर के मनुष्य का संपूर्ण विकास हुआ है या नहीं। सचमुच मैं ऐसे अध्यापक को कभी नहीं रखूगा, जो चाहे जिन परिस्थितियों में शिक्षा को स्वाश्रयी बना देने का वचन देगा। शिक्षा का स्वावलम्बी बनना इस बात का तर्कसिद्ध परिणाम होगा कि विद्यार्थी ने अपनी प्रत्येक कार्यशक्ति का ठीक-ठीक उपयोग करना सीख लिया है। अगर एक

लड़का रोज तीन घँटे काम करके किसी दस्तकारी से निश्चयपूर्वक अपनी जीविका के लायक पैसा कमा लेता है, तो जो अपनी विकसित बुद्धि और आत्मा को लगाकर उस काम को करेगा, वह कितना अधिक काम लेगा ! [हरिजनसेवक, ११-६-१९३८, पृ. १३१, १३५]

हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि यह बुनियादी तालीम देश के वातावरण में से पैदा हुई है और देश की ज़रूरतों को पूरा कर सकती है। यह वातावरण हिन्दुस्तान के सात लाख गाँवों में और उनमें रहने वाले करोड़ों लोगों में छाया हुआ है। उनको भुलाकर आप हिन्दुस्तान को भी भूल जाएँगे। सच्चा हिन्दुस्तान शहरों में नहीं बल्कि इन सात लाख गाँवों में बसा हुआ है।

यहाँ हम बुनियादी तालीम के मुख्य सिद्धांतों पर विचार करें :

१. पूरी शिक्षा स्वावलम्बी होनी चाहिए। यानी, आखिर में पूँजी को छोड़कर अपना सारा खर्च उसे खुद निकालना चाहिए।

२. इसमें आखिरी दरजे तक हाथ का पूरा-पूरा उपयोग किया जाए। यानी, विद्यार्थी अपने हाथों से कोई न कोई उद्योग-धंधा आखिरी दरजे तक करें।

३. सारी तालीम विद्यार्थियों की प्रांतीय भाषा द्वारा दी जानी चाहिए।

४. इसमें सांप्रदायिक धार्मिक शिक्षा के लिए कोई जगह नहीं होंगी। लेकिन बुनियादी नैतिक तालीम के लिए काफ़ी गुंजाइश होगी।

५. यह तालीम, फिर उसे बच्चे लें या बड़े, स्त्रियाँ लें या पुरुष, विद्यार्थियों के घरों में पहुँचेंगी।

६. चूँकि इस तालीम को पाने वाले लाखों-करोड़ों विद्यार्थी अपने-आपको सारे हिन्दुस्तान के नागरिक समझेंगे, इसलिए उन्हें एक आंतर-प्रांतीय भाषा सीखनी होगी। सारे देश की यह एक भाषा नागरी या उर्दू में लिखी जाने वाली हिन्दुस्तानी ही हो सकती है। इसलिए विद्यार्थियों को दोनों लिपियाँ अच्छी तरह सीखनी होंगी। [हरिजनसेवक, २-११-१९४७, पृ. ३३२-३३]

२

सारी शिक्षा का किसी भी बुनियादी उद्योग के साथ संबंध जोड़ना चाहिए। आप जब किसी उद्योग के द्वारा ७ या १० वर्ष के बालक को ज्ञान देते हों, तब शुरुआत में इस विषय के साथ जिन का मेल नहीं बैठाया जा सके, ऐसे सब विषय आपको छोड़ देने चाहिए। रोज-रोज ऐसा करने से शुरुआत में छोड़ी हुई ऐसी बहुत सी वस्तुओं का अनुसंधान उद्योग के साथ जोड़ने के रास्ते आप ढूँढ़ निकालेंगे। इस तरह आप शुरू में काम लेंगे, तो अपनी खुद की और विद्यार्थियों की शक्ति आप बचा सकेंगे। आज तो हमारे पास आधार लेने लायक कोई पुस्तकें नहीं हैं, न हमें रास्ता दिखाने वाले पहले के दृष्टांत ही मौजूद हैं। इसलिए हमें धीरे-धीरे चलना है। मुख्य बात यह है कि शिक्षक को अपने मन की ताज़गी बनाए रखना चाहिए। जिसका उद्योग के साथ मेल न बैठाया जा सके, ऐसा कोई विषय आने पर आप निराश न हों, खीज न उठें, बल्कि उसे छोड़ दें और जिसका मेल बैठा सकें उसे आगे चलाएँ। संभव हैं कि कोई दूसरा शिक्षक सही रास्ता ढूँढ़ निकाले और उस विषय का उद्योग के साथ कैसे मेल बैठ सकता है यह बता सके। और जब आप बहुतों के अनुभव का संग्रह करेंगे, तो बाद में आपको रास्ता बताने वाली पुस्तकें भी मिल जाएँगी, जिससे आपके पीछे आने वालों का काम अधिक सरल बन जाऐगा।

क्या आप पूछेंगे कि जिन विषयों का उद्योग के साथ मेल न बैठाया जा सके, उनको टालने की क्रिया कितने समय तक की जावे? तो मैं कहूँगा कि जिंदगीभर। आखिर में आप देखेंगे कि बहुत सी चीज़ें, जिन्हें आप पहले शिक्षाक्रम में से छोड़ चूके थे, उनका आपने उसमें समावेश कर लिया है; जितनी चीज़ों का समावेश करने लायक था उन सबका समावेश हो चुका है और आपने आखिर तक जिनको निकम्मी समझकर छोड़ दिया था वे बहुत निर्जीव और छोड़ने लायक ही थीं। यह मेरा जीवन का अनुभव है। मैंने यदि बहुतसी चीज़ें छोड़ न दी होतीं, तो मैं जो बहुतसी चीज़ें कर सका हूँ वह नहीं कर सका होता।

हमारी शिक्षा में जड़मूल से परिवर्तन होना ही चाहिए। दिमाग को हाथ द्वारा शिक्षा मिलनी चाहिए। मैं कवि होता तो हाथ की पाँच अँगुलियों में रही हुई अद्भुत शक्ति के बारे में कविता लिख सकता। दिमाग ही सब कुछ है और हाथ-पैर कुछ नहीं, ऐसा आप क्यों मानते हैं? जो अपने हाथों को शिक्षा नहीं देते, जो शिक्षा की सामान्य 'प्रणाली या रूढ़ि' में से होकर निकलते हैं, उनका जीवन 'संगीत-शून्य' रह जाता

है। उनकी सारी शक्तियों का विकास नहीं होता। केवल पुस्तकीय ज्ञान में बालक को इतना रस नहीं आता कि उसका सारा ध्यान उसीमें लगा रहे। दिमाग खाली शब्दों से थक जाता है और बच्चे का मन दूसरी जगह भटकने लगता है। हाथ न करने के काम करते हैं, आँखे न देखने की चीज़ें देखती हैं, कान न सुनने की बातें सुनते हैं और उनको क्रमशः जो कुछ करना, देखना और सुनना चाहिए उसे वे करते, देखते और सुनते नहीं है। उन्हें सही चुनाव करना नहीं सिखाया जाता। इससे उनकी शिक्षा कई बार उनका विनाश करने वाली सिद्ध होती है। जो शिक्षा हमें अच्छे-बुरे का भेद करना और अच्छे को ग्रहण करना तथा बुरे को त्यागना नहीं सिखाती, वह शिक्षा सच्ची शिक्षा ही नहीं है।

स्कूल में चलने वाले सामान्य पाठ्यक्रम में एकाध उद्योग जोड़ देना, यह पुरानी कल्पना थी। अर्थात् उसमें हस्त-उद्योग को शिक्षा से बिलकुल अलग रखकर सिखलाने की बात थी। मुझे यह एक गंभीर भूल लगती है। शिक्षक को उद्योग सीख लेना चाहिए और अपने ज्ञान का अनुसंधान उस उद्योग के साथ करना चाहिए, जिससे वह अपने पसंद किए हुए उद्योग द्वारा यह सारा ज्ञान विद्यार्थियों को दे सके।

कताई का उदाहरण लीजिए। जब तक मुझे गणित नहीं आएगा तब तक मैंने तकली पर कितने गज सूत काता या उसके कितने तार हुए या मेरे काते हुए सूतका अंक कितना है, यह मैं नहीं कह सकूँगा। इसे करने के लिए मुझे आंकड़े सीखने चाहिए और जोड़, बाकी, गुणा व भाग भी सीखने चाहिए। अटपटे हिसाब गिनने में मुझे अक्षरों का इस्तेमाल करना पड़ेगा। अतः इसमें से मैं अक्षर-गणित सीखूँगा। इसमें भी मैं रोमन अक्षरों के बजाय हिन्दुस्तानी अक्षरों के उपयोग का आग्रह रखूँगा।

फिर ज्यामिति लीजिए। तकलीकी चकती से अधिक अच्छा गोलाई का प्रदर्शन और क्या हो सकता है? इस प्रकार मैं युक्लिड का नाम लिए बिना ही विद्यार्थी को वर्तुल या गोलाई के बारे में सब-कुछ सिखा सकता हूँ।

फिर आप शायद पूछेंगे कि कताई द्वारा बालक को इतिहास-भूगोल किस तरह सिखाएँ जा सकते हैं? थोड़े समय पहले 'कपास – मनुष्य का इतिहास' (Cotton – The Story of Mankind) नामक पुस्तक मेरे देखने में आई थी। उसे पढ़ने में मुझे बहुत आनंद आया। वह एक उपन्यास जैसी लगी। उसके शुरू में प्राचीन काल का इतिहास दिया गया था। फिर कपास पहले-पहल किस प्रकार और

कब बोई गई, उसका विकास किस तरह हुआ, अलग-अलग देशों के बीच रुई का व्यापार कैसे चलता है, आदि वस्तुओं का वर्णन था। अलग-अलग देशों के नाम मैं बालक को सुनाऊँगा, साथ ही स्वाभाविक रीति से उन देशों के इतिहास-भूगोल के बारे में भी कुछ कहता जाऊँगा। अलग-अलग समय में अलग-अलग व्यापारिक संधियाँ किस किसके राज्यकाल में हुई? कुछ देशों में बाहर से रुई मँगानी पड़ती है और कुछ में कपड़ा बाहर से मँगाना पड़ता है, उसका क्या कारण है? हरएक देश अपनी-अपनी ज़रूरत के मुताबिक रुई क्यों नहीं उगा सकता? यह चर्चा मुझे अर्थशास्त्र और कृषिशास्त्र के मूल तत्त्वों पर ले जाएगी। कपास की अलग-अलग जातियाँ कौनसी हैं, वे किस तरह की ज़मीन में उगती हैं, उन्हें कैसे उगाया जाय, वे कहाँ से प्राप्त की जा सकती हैं, वगैरा जानकारी मैं विद्यार्थी को दूँगा। इस तरह तकली चलाने की बात परसे मैं ईस्ट इंडिया कंपनी के सारे इतिहास पर आऊँगा। वह कंपनी यहाँ कैसे आई, उसने हमारे कताई-उद्योग को किस तरह नष्ट किया; अंग्रेज आर्थिक उद्देश्य से हमारे यहाँ आए और उसमें से राजनीतिक सत्ता जमाने की आकांक्षा वे क्यों रखने लगे; यह वस्तु मुगल और मराठों के पतन का, अंग्रेजी राज्य की स्थापना का और फिर वापस हमारे जमाने में जनसमूह के उत्थान का कारण कैसे हुई, यह सब भी मुझे वर्णन करके बताना पड़ेगा। इस तरह इस नई योजना में शिक्षा देने की अपार गुंजाइश है। और बालक यह सब उसके दिमाग और स्मरण-शक्ति पर अनावश्यक बोझ पड़े बिना ही कितना अधिक जल्दी सीखेगा।

इस कल्पना को मैं अधिक विस्तार से समझा दूँ। जैसे किसी प्राणि शास्त्री को अच्छा प्राणिशास्त्री बनने के लिए प्राणिशास्त्र के अलावा दूसरे बहुत से शास्त्र सीखने चाहिए, उसी प्रकार बुनियादी तालीम को यदि एक शास्त्र माना जाए तो वह हमें ज्ञान की अनंत शाखाओं में ले जाता है। तकली का ही विस्तृत उदाहरण लिया जाय, तो जो शिक्षक-विद्यार्थी केवल कातने की यांत्रिक क्रिया पर ही अपना लक्ष्य एकाग्र नहीं करेगा (इस क्रिया में तो बेशक वह निष्णात होगा ही), बल्कि इस वस्तु का तत्त्व ग्रहण करने की कोशिश करेगा, वह तकली और उसके अंग-उपांगों का अभ्यास करेगा। तकली की चकती पीतल की और सींक लोहे की क्यों होती है, यह प्रश्न वह अपने मन से पूछेगा। जो असली तकली थी, उसकी चकती चाहे जैसी बनाई जाती थी। इससे भी पहले की प्राचीन तकली में बाँस की सींक और स्लेट या मिट्टी की चकती उपयोग में ली जाती थी। अब तकली का शास्त्रीय ढंग से विकास हुआ है और जो

चकती पीतल की और सींक लोहे की बनाई जाती है वह सकारण है। यह कारण विद्यार्थी को ढूँढ़ निकालना चाहिए। उसके बाद विद्यार्थी को यह भी जाँचना चाहिए कि इस चकती का व्यास इतना ही क्यों रखा जाता है, कम-ज़्यादा क्यों नहीं रखा जाता? इन प्रश्नों का संतोषजनक हल ढूँढ़ने के बाद इस वस्तु का गणित जान लिया कि आपका विद्यार्थी अच्छा इंजीनियर बन जाता है। तकली उसकी कामधेनु बनती है। इसके द्वारा अपार ज्ञान दिया जा सकता है। आप जितनी शक्ति और श्रद्धा से काम करेंगे, उतना ज्ञान इसके द्वारा दे सकेंगे। आप यहाँ तीन सप्ताह रहे हैं। इतने समय में इस योजना के पीछे मर-मिटने तक को तैयार होने की श्रद्धा आप लोगों में आ गई हो, तो आपका यहाँ रहना सफल माना जाएगा।

मैंने कताई का उदाहरण विस्तार से बतलाया है, इसका कारण यह है कि मुझे उसका ज्ञान है। मैं बढ़ई होता तो मेरे बालक को ये सब बातें मैं बढ़ईगिरी के मारफत सिखाता अथवा कार्डबोर्ड का काम करने वाला होता तो उस काम के मारफत सिखाता।

हमें सच्ची ज़रूरत तो ऐसे शिक्षकों की है, जिनमें नया-नया सर्जन करने की और विचार करने की शक्ति हो, सच्चा उत्साह और जोश हो और रोज-रोज विद्यार्थी को क्या सिखाएँगे यह सोचने की शक्ति हो। शिक्षक को यह ज्ञान पुराने पोथों में से नहीं मिलेगा। उसे अपनी निरीक्षण और विचार करने की शक्ति का उपयोग करना है और हस्त-उद्योग की मदद से वाणी द्वारा बालक को ज्ञान देना है। इसका अर्थ यह है कि शिक्षा-पद्धति में क्रांति होनी चाहिए। शिक्षक की दृष्टि में क्रांति होनी चाहिए। आज तक आप निरीक्षकों (इंस्पेक्टरों) की रिपोर्टो से मार्गदर्शन पाते रहे हैं। आपने निरीक्षक को पसंद आए वैसा करने की इच्छा रखी है, ताकि आपकी संस्था के लिए अधिक पैसे मिलें अथवा आपकी अपनी तनखाह में बढ़ती हो। पर नया शिक्षक इस सबकी परवाह नहीं करेगा। वह तो कहेगा, 'मैं यदि अपने विद्यार्थी को अधिक अच्छा मनुष्य बनाऊँ और वैसा करने में मेरी सब शक्ति लगा दूँ, तो कहा जाएगा कि मैंने अपना कर्तव्य पूरा किया। मेरे लिए इतना ही काफ़ी है।' [हरिजन, १८-२-१९३९, पृ. १४-१५]

३

इस तालीम की मंशा यह है कि गाँव के बच्चों को सुधार-संवार कर उन्हें गाँव का आदर्श निवासी बनाया जाए। इसकी योजना खासकर उन्हीं को ध्यान में रखकर तैयार की गई है। इस योजना की असल प्रेरणा

भी गाँवों से ही मिली है | जो काँग्रेसजन स्वराज्य की इमारत को बिलकुल उसकी नींव या बुनियाद से चुनना चाहते हैं, वे देश के बच्चों की उपेक्षा कर ही नहीं सकते। परदेशी हुकूमत चलाने वालों ने, अनजाने ही क्यों न हो, शिक्षा के क्षेत्र में अपने काम की शुरुआत बिना चूके बिलकुल छोटे बच्चों से की है। हमारे यहाँ जिसे प्राथमिक शिक्षा कहा जाता है वह तो एक मज़ाक है; उसमें गाँवों में बसने वाले हिन्दुस्तान की ज़रूरतों और माँगों का जरा भी विचार नहीं किया गया है; और वैसे देखा जाए तो उसमें शहरों का भी कोई विचार नहीं हुआ है | बुनियादी तालीम हिन्दुस्तान के तमाम बच्चों को, फिर वे गाँवों के रहने वाले हों या शहरों के हिन्दुस्तान के सभी श्रेष्ठ और स्थायी तत्त्वों के साथ जोड़ देती है। यह तालीम बालक के मन और शरीर दोनों का विकास करती है; बालक को अपने वतन के साथ जोड़ रखती है; उसे अपने और देश के भविष्य का गौरवपूर्ण चित्र दिखाती है; और उस चित्र में देखें हुए भविष्य के हिन्दुस्तान का निर्माण करने में बालक या बालिका अपने स्कूल जाने के दिन से ही हाथ बँटाने लगे इसका प्रबंध करती है। [रचनात्मक कार्यक्रम, १९५९, पृ. २८-२९]

१४. खेती और पशुपालन – १

किसान

हमारे देहातियों का गुजर खेती पर होता है और खेती का गाय पर। मैं इस विषय में अँधा-सा हूँ। निजी अनुभव मुझे नहीं है। परन्तु ऐसा एक भी गाँव नहीं है जहाँ खेती न हो और गाय न हो। भैंसें है, लेकिन वे कोंकण वगैरा को छोड़कर खेती के लिए अधिक उपयोगी नहीं हैं। तब भी भैंस का हमने बहिष्कार किया है, ऐसी बात नहीं है। इसलिए ग्राम्य पशुधन का, खासकर अपने गाँव के पशुओं का, हमारे कार्यकर्ता को पूरा ख़याल रखना होगा। इस बड़ी भारी समस्या को यदि हम हल न कर सके, तो हिन्दुस्तान की बरबादी होने वाली है और साथ-साथ हमारी भी। क्योंकि उस अवस्था में हमारे सामने पश्चिमी देशों की तरह इन पशुओं को, आर्थिक दृष्टि से उनके बोझरूप होने पर, कतल किए सिवा कोई चारा न रहेगा। [खादी, १९५९, पृ. २१६-१७]

प्रारंभ से ही मेरी यह दृढ़ श्रद्धा रही है कि इस देश के वासियों के लिए खेती ही एकमात्र अटूट और अचल सहारा है। इसकी भी खोज़ हम करेंगे और देखेंगे कि इसके सहारे कहाँ तक जाया जा सकता है। यदि हमारे लोग खादी के बदले खेती में विशारद होकर लोगों की सेवा करेंगे, तो मुझे अफ़सोस न होगा। मैं इतना देख चुका हूँ कि हमें बहुत कष्ट उठाना है। अब खेती की ओर ध्यान देने का समय आ गया है। आज तक मैं मानता रहा कि जब तक सरकार के अधिकार हमारे हाथों में नहीं आते देश की खेती का सुधार असंभव है। अब मेरे उन विचारों में कुछ परिवर्तन हो रहा है। मैं यह महसूस करता हूँ कि मौजूदा हालत में भी हम कुछ हद तक सुधार कर सकते हैं। यदि यह ठीक है तो लगान वगैरा आसानी से देकर भी ज़मीन के सहारे किसान अपने लिए कुछ प्राप्त कर सकेगा। जवाहरलाल कहता है कि खेती सुधारोगे तब भी जब तक विदेशी सरकार हम पर है तब तक किसी न किसी बहाने या तरीके से वह किसान की कमाई लूटती रहेगी। लेकिन अब मैं सोचने लगा हूँ कि यदि ऐसा हो तब भी खेती के ज्ञान और जानकारी का प्रचार करने से हम क्यों रुकें? फिर भले ही हमारा किया-कराया सरकार लूट ले। लूटेगी तो हम भी लड़ेंगे। लोगों से लड़ने को कहेंगे, सिखाएँगे। सरकार को बता देंगे कि तुम इस तरह

हमें नहीं लूट सकते। इसलिए अब हमें ऐसे कार्यकर्ता खोजने होंगे, जिन्हें खेती में रस हो। [खादी, १९५९, पृ. २३१]

इसलिए मैं यही सोचता हूँ. कि खेती, गोपालन और अन्य सब ग्रामीण उद्योगों को किस तरह देहातों में फिर से बसाऊँ, जिससे लोगों की स्थिति अच्छी हो। यदि दो-चार देहात में भी मैं यह कर सका, तो मेरी समस्या हल हो जाएगी। 'यथा पिंडे तथा ब्रह्मांडे'। [खादी, १९५९, पृ. २४०]

जिसे अहिंसा का पालन करना है, सत्य की आराधना करनी है, ब्रह्मचर्य- प्रालन को स्वाभाविक बनाना है, उसके लिए तो शरीर-श्रम रामबाण हो जाता है। यह श्रम वास्तव में देखा जाय तो खेती से ही संबंध रखता है। पर आज की जो स्थिति है उसमें सब उसे नहीं कर सकते। इसलिए खेती का आदर्श ध्यान में रखकर आदमी बदले में दूसरा श्रम – जैसे कताई, बुनाई, बढ़ईगिरी, लुहारी इत्यादि कर सकता है। [मंगल-प्रभात, १९५८, पृ. ४३]

कई साल हुए, मैंने एक कविता पढ़ी थी, जिसमें किसान को दुनिया का पिता कहा गया है। अगर परमात्मा देने वाला है, तो किसान उसका हाथ है। हम पर किसान का जो ऋण है, उसे चुकाने के लिए हम क्या करने वाले हैं? अभी तक तो हम उसके गाढ़े पसीने की कमाई खाते रहे हैं। हमें खेती से काम शुरू करना चाहिए था, लेकिन हम ऐसा कर न सके। इस कसूर की ज़िम्मेदारी कुछ हद तक मुझ पर है।

कुछ लोग कहते हैं कि जब तक राजनीतिक ताकत हमारे हाथ में न आ जाय तब तक खेती में कोई बुनियादी सुधार नहीं हो सकता। उनका स्वप्न है कि भाप और बिजली का बड़े पैमाने पर उपयोग करके मशीन की ताकत से खेती की जाए। जल्दी जल्दी फसल लेने के लालच में ज़मीन के उपजाऊपन का व्यापार करना अंत में बरबाद कर देने वाला सिद्ध होगा और वह सिर्फ संकुचित दृष्टि वाली नीति होगी। इसका नतीजा यह होगा कि ज़मीन का उपजाऊपन कम होता जाएगा। अच्छी ज़मीन से खुराक पैदा करने के लिए पसीना बहाने की ज़रूरत होती है।

लोग शायद इस दृष्टि की टीका करें और कहें कि यह दृष्टि प्रगति विरोधी है और इससे काम धीमा होगा। मैं भी इससे जल्दी कोई नतीजा निकलने की आशा नहीं रखता। फिर भी ज़मीन और उस पर रहने वाले लोगों की समृद्धि की कुँजी इसीमें है। स्वास्थ्य और शक्ति देने वाली खुराक ग्रामीण आर्थिक

व्यवस्था का आधार है। किसान की आमदनी का ज़्यादा हिस्सा उसके और उसके परिवार के भोजन पर ही खर्च होता है। बाकी सब चीज़ें बाद में आती है। खेती करने वाले को अच्छी खुराक दो। उसे ताजे और शुद्ध घी, दूध और तेल काफ़ी मात्रा में मिलने चाहिए और अगर वह मांस खाता हो तो उसे मछली, अंडे और गोश्त भी मिलना चाहिए। अगर उसे पेट भर पोषक खाना नहीं मिला, तो मिसाल के तौर पर, उसके पास अच्छे कपड़े हुए भी तो क्या लाभ? इसके बाद पीने के पानी की व्यवस्था करने का सवाल और दूसरे सवाल आएँगे। इन सवालों पर विचार करते हुए कुदरती तौर पर ऐसी बातें भी निकल आएगी, जैसे ट्रेक्टर से हल चलाने और मशीन से ज़मीन को पानी देने की तुलना में खेती के अर्थशास्त्र में बैल का कया स्थान है। इस तरह से एक एक बात करते करते ग्रामीण आर्थिक व्यवस्था का पूरा चित्र उनके सामने उभर आएगी। इस चित्र में शहरों का भी उचित स्थान होगा। आज की तरह वे समाज-शरीर पर उठे हुए फोड़ों या गांठों की तरह अस्वाभाविक नहीं मालूम होंगे। आज यह खतरा बढ़ रहा है कि कहीं हम अपने हाथों का उपयोग करना ही न भूल जाएँ। मिट्टी खोदने और ज़मीन की देखभाल करने की बात को भूलना अपने-आपको भूलना है। अगर आप यह समझें कि सिर्फ शहरों की सेवा करके आपने मंत्रीपद का कर्तव्य पूरा कर दिया, तो आप इस बात को भूल जाते हैं कि हिन्दुस्तान असल में सात लाख गाँवों में बसा हुआ है। अगर किसी आदमी ने सारी दुनिया ले ली, लेकिन साथ ही अपनी आत्मा खो दी, तो उसने इस सौदे में कया पाया? [हरिजनसेवक, २५-८-१९४६, पृ. २८१-८२]

इन भारतीय किसानों से ज्यों ही आप बात करेंगे और वे आपसे बोलने लगेंगे, त्यों ही आप देखेंगे कि उनके होंठों से ज्ञान का निर्झर बहता है। आप देखेंगे कि उनके अनगढ़ बाहरी रूप के पीछे आध्यात्मिक अनुभव और ज्ञान का गहरा सरोवर भरा पड़ा है। मैं इसी चीज़ को संस्कृति कहता हूँ। पश्चिम में आपको यह चीज़ नहीं मिलेगी। आप किसी यूरोपीय किसान से बातचीत करके देंखें, तो पाएँगे कि उसे आध्यात्मिक वस्तुओं में कोई रस नहीं है। [हरिजन, १८-१-१९३९; पृ. ४३९]

भारतीय किसान में फूहड़पन के बाहरी आवरण के पीछे युगों पुरानी संस्कृति छिपी पड़ी है। इस बाहरी आवरण को हम अलग कर दें, उसकी दीर्घकालीन गरीबी और निरक्षरता को हटा दें, तो हमें सुसंस्कृत, सभ्य और आज़ाद नागरिक का एक सुंदर से सुंदर नमूना मिल जाएगा। [१८-१-१९३९; पृ. ४३९]

हमें उन्हें यह सिखाना है कि वे समय, स्वास्थ्य और पैसे की बचत कैसे कर सकते हैं। लिओनेल कर्टिसने हमारे गाँवों का वर्णन करते हुए उन्हें 'घूरे के ढेर' कहा है। हमें उन्हें आदर्श गाँवों में बदलना है। हमारे ग्रामवासियों की शुद्ध हवा नहीं मिलती, यद्यपि वे शुद्ध हवासे घिरे रहते हैं; उन्हें ताजा अन्न नहीं मिलता, यद्यपि उनके चारों ओर ताजे से ताजा अन्न होता है। इस अन्न के मामले में मैं मिशनरी की तरह इसलिए बोलता हूँ कि मैं गाँवों को एक सुंदर दर्शनीय वस्तु बना देने की आकांक्षा रखता हूँ। [हरिजन, १-३-३५, पृ. २१]

हमें गाँवों को अपने चुंगल में जकड़ रखने वाले जिस त्रिविध रोग का इलाज करना है, वह रोग इस प्रकार है : (१) सार्वजनिक स्वच्छता की कमी, (२) पर्याप्त और पोषक आहार की कमी, (३) ग्रामनिवासियों की जड़ता। . . . ग्रामवासी अपनी उन्नति की ओर से उदासीन हैं। स्वच्छता के आधुनिक उपायों को न तो वे समझते हैं और न उनकी कद्र करते हैं। अपने खेतों को जोतने-बोने या जिस तरह का परिश्रम वे करते आए हैं वैसा परिश्रम करने के सिवा अधिक कोई श्रम करने के लिए वे राजी नहीं हैं। ये कठिनाइयाँ वास्तविक और गंभीर है। लेकिन इनसे हमें घबड़ाने की या हतोत्साह होने की ज़रूरत नहीं। हमें अपने ध्येय और कार्य में अमिट श्रद्धा होनी चाहिए। हमारे व्यवहार में धीरज होना चाहिए। ग्रामकार्य में हम खुद भी तो नौसिखिया ही हैं। हमें एक पुराने और जटिल रोग का इलाज करना है। धीरज और सतत परिश्रम से, यदि हम में ये गुण हों तो, कठिनाइयों के पहाड़ तक जीते जा सकते हैं। हम उन परिचारिकाओं की स्थिति में हैं, जो उन्हें सौंपे हुए बीमारों को इसलिए नहीं छोड़ सकतीं कि उन बीमारों की बीमारी असाध्य है। [हरिजन, १६-५-१९३६, पृ. १११]

आज सबसे बड़ी ज़रूरत इस बात की है कि लोग हमेशा हर काम को, चाहे वह खेती हो या गाँवों से संबंध रखने वाला कोई अन्य उद्योग हो, व्यवस्थित रीति से और इस तरह करने लग जाएँ जिससे उन्हें अच्छी आय होने लगे। अगर हम लोगों को यह सिखा दें या उन्हें इस तरह काम करने के लिए राजी कर लें, तो वही सबसे बड़ी शिक्षा होगी। [हरिजनसेवक, ६-३-१९३७, पृ. २३]

मैं तो यह भी कहने का साहस करता हूँ कि एक वर्ग की हैसियत से साधारणतया हिन्दुस्तान की ग्रामीण जनता भले ही असंस्कृत नज़र आए, परन्तु मनुष्य-स्वभाव की स्वाभाविक गुण-संपत्ति में वह किसी भी देश की ग्रामीण जनता की तुलना में कम नहीं उतरेगी। इसकी साक्षी तो वे अधिकांश विदेशी

यात्री दे सकते हैं, जो हुएनत्संग के समय से आज तक यहाँ आए हैं और जिन्हों ने अपने प्रवासों के वर्णन लिख रखे हैं। हिन्दुस्तान के ग्रामजनों की स्वाभाविक संस्कृति, उनके मकानों में दिखाई देने वाली कला, उनके आचार-व्यवहार और संयम – ये सब उस धर्म की देन हैं, जो अनादि काल से उन्हें एकसूत्र में बाँधे हुए हैं। [हरिजनसेवक, ६-३-१९३७, पृ. २२]

किसानों का – वे भूमिहीन मज़दूर हों या मेहनत करने वाले ज़मीन-मालिक हों – स्थान पहला है। उनके परिश्रम से ही पृथ्वी उपजाऊ और समृद्ध हुई है और इसलिए सच कहा जाए तो ज़मीन उनकी ही है या होनी चाहिए, ज़मीन से दूर रहने वाले ज़मींदारों की नहीं। लेकिन अहिंसक पद्धति में मज़दूर-किसान इन ज़मींदारों से उनकी ज़मीन बलपूर्वक नहीं छीन सकता। उसे इस तरह काम करना चाहिए कि ज़मींदार के लिए उसका शोषण करना असंभव हो जाए। किसानो में आपस में घनिष्ठ सहकार होना नितांत आवश्यक हैं। इस हेतु की पूर्ति के लिए जहाँ वैसी समितियाँ न हों वहाँ वे बनाई जानी चाहिए और जहाँ हों वहाँ आवश्यक होने पर उनका पुनर्गठन होना चाहिए। किसान ज़्यादातर अनपढ़ हैं। स्कूल जाने की उमर वाले बालकों को और वयस्कों को शिक्षा दी जानी चाहिए। शिक्षा पुरुषों और स्त्रियों, दोनों को दी जानी चाहिए। भूमिहीन खेतिहर मज़दूरों की मज़दूरी इस हद तक बढ़ाई जानी चाहिए कि वे सभ्यजनोचित जीवन की सुविधाएँ प्राप्त कर सकें। यानी, उन्हें संतुलित भोजन और आरोग्य की दृष्टि से जैसे चाहिए वैसे घर और कपड़े मिल सकें। [दि. बोम्बे क्रोनिकल, २८-१०-१९४४]

अगर मेरा बस चले तो हमारा गवर्नर-जनरल किसान होगा, हमारा प्रधानमंत्री किसान होगा, सब कोई किसान होंगे; क्योंकि यहाँ का राजा किसान है। मुझे बचपन में एक कविता पढ़ाई गई थी : 'हे किसान, तू बादशाह है।' किसान ज़मीन से अन्न पैदा न करे, तो हम क्या खाएँगे? हिन्दुस्तान का सच्चा राजा तो वही है। लेकिन आज हम उसे गुलाम बनाकर बैठे हैं। आज किसान क्या करे? एम. ए. पास करे? बी. ए. पास करे? ऐसा उसने किया तो किसान मिट जाएगा। बाद में वह कुदाली नहीं चलायेगा। जो आदमी अपनी जमीन से अन्न पैदा करता है और खाता है, वह यदि जनरल बने, मंत्री बने, तो हिन्दुस्तान की शकल बदल जाएगी। आज तो संड़ांघ फैली हुई है वह मिट जाएगी। [हरिजनसेवक, ८-२-१९४८, पृ. २३]

१५. खेती और पशुपालन – २

ज़मीन की समस्या

ज़मीन की मालिकी

किसान ज़मीन का नूर है। ज़मीन उसीकी है अथवा होनी चाहिए – न कि घर बैठकर खेती कराने वाले मालिक या ज़मींदार की। [दि बोम्बे क्रोनिकल, २८-१०-१९४४]

ज़मीन और दूसरी सारी संपत्ति उस आदमी की है, जो उसके लिए काम करता है। दुर्भाग्य से मज़दूर इस सीधी-सादी बात से अनभिज्ञ है या उन्हें अनभिज्ञ रखा गया है। [हरिजन, २-१-१९३७, पृ. ३७५]

मैं मानता हूँ कि जो ज़मीन आप जोतते हैं वह आपकी होनी चाहिए। लेकिन यह एक क्षण में होने वाली बात नहीं है। ज़मींदारों से आप उसे बलपूर्वक भी नहीं ले सकते। अहिंसा और आपकी अपनी शक्ति का भान ही इसका एक मात्र मार्ग है। [हरिजन, २०-५-१९३९, पृ. १३३]

प्रतिष्ठित जीवन के लिए जितनी ज़मीन की आवश्यकता है, उससे अधिक ज़मीन किसी आदमी के पास नहीं होनी चाहिए। ऐसा कौन है जो इस हकीकत से इनकार कर सके कि आम जनता की घोर गरीबी का कारण आज यही है कि उसके पास अपनी कही जाने वाली कोई ज़मीन नहीं हैं?

लेकिन यह याद रखना चाहिए कि इस तरह के सुधार तुरंत नहीं किए जा सकते। अगर ये सुधार अहिंसात्मक तरीकों से करने हैं, तो ज़मींदार और गैर-ज़मींदार दोनों को सुशिक्षित बनाना अनिवार्य हो जाता है। जमींदारों को यह विश्वास दिलाना होगा कि उनके साथ कभी जोर-जबरदस्ती नहीं की जाएगी और गैर-ज़मींदारों को यह सिखाना और समझाना होगा कि उनकी मरजी के खिलाफ जबरन उनसे कोई काम नहीं ले सकता, और यह कि कष्ट-सहन या अहिंसा की कलाको सीखकर वे अपनी स्वतंत्रता प्राप्त कर सकते हैं। [हरिजनसेवक, २०-४-१९४०, पृ. ८१]

ज़मींदार और काश्तकार

मैं आपसे कहूँगा कि ज़मीन की मालिकी जितनी आपकी है उतनी ही आपकी रैयत की भी है। [अमृत बाजार पत्रिका २-८-१९३४]

मैं यह नहीं मानता कि सब पूंजीपति और ज़मींदार स्वभाव से ही शोषक हैं और न मैं यह मानता हूँ कि उनके और जनता के हितों में कोई बुनियादी या अमिट विरोध हैं। हर प्रकार का शोषण शोषित के सहयोग पर आधारित है, फिर वह सहयोग स्वेच्छा से दिया जाता हो या लाचारी से, हम इस सचाई को स्वीकार करने से कितना ही इनकार क्यों न करें, फिर भी सचाई तो यही है कि यदि लोग शोषक की आज्ञा न मानें तो शोषण हो ही नहीं सकता। लेकिन उसमें हमारा स्वार्थ आड़े आता है और हम उन्हीं जंजीरों को अपनी छाती से लगाए रहते हैं जो हमें बाँधती हैं। यह चीज़ बंद होनी चाहिए। ज़रूरत इस बात की नहीं है कि पूँजीपति और ज़मींदारों का नाश कर दिया जाए, बल्कि उनमें और आम लोगों में आज जो संबंध है उसे बदलकर अधिक स्वस्थ और शुद्ध बनाने की ज़रूरत है। [अमृत बाजार पत्रिका २-८-१९३४]

मेरा उद्देश्य तो आपके हृदयों में प्रवेश करके आपके विचार इस तरह बदल देना है कि आप अपनी समस्त व्यक्तिगत संपत्ति अपने किसानों के संरक्षक बनकर अपने पास रखें और मुख्यतः उन्हीं की भलाई के कामों में उसका उपयोग करें। मैं यह जानता हूँ कि काँग्रेस के भीतर ही समाजवादी पार्टी नामक एक नई पार्टी अस्तित्व में आई है; और यह पार्टी यदि काँग्रेस को अपने साथ ले जाने में सफल हो जाए, तो कया होगा यह बताना कठिन है। मुझे इसमें जरा भी शक नहीं है कि अगर हमारे करोड़ों लोगों का बिलकुल प्रामाणिक और असंदिग्ध मत लिया जाए, तो वे पूँजीपति वर्गों की तमाम संपत्ति छीन लेने के पक्ष में राय नहीं देंगे। मैं पूँजी और श्रम, ज़मींदार और किसान के सहयोग और मेल के लिए काम कर रहा हूँ। [अमृत बाजार पत्रिका २-८-१९३४]

परन्तु मैं चेतावनी की एक बात ज़रूर कहूँगा। मैंने मिल-मालिकों से हमेशा कहा है कि वे अकेले ही कारखानों के मालिक नहीं हैं, मज़दूर भी उनकी बराबरी के मालिक हैं। उसी तरह मैं आपसे कहूँगा कि आपकी ज़मीनों के मालिक जितने आप है उतने ही किसान भी हैं; और आप अपनी आमदनी को

ऐश-आराम या फिजूलखर्ची में नहीं उड़ा सकते, बल्कि उसे आपको रैयत की भलाई में खर्च करना चाहिए। आप एक बार अपनी रैयत को अपनेपन की भावना का अनुभव करा दें और यह महसूस करा दें कि एक ही परिवार के आदमियों के नाते उनके हित आपके हाथों में सुरक्षित हैं और उन्हें कभी हानि नहीं पहुँचेगी, तो आप विश्वास रखिए कि उनमें और आपमें कोई झगड़ा नहीं हो सकता और न वर्ग-विग्रह ही हो सकता है। [अमृत बाजार पत्रिका २-८-१९३४]

मैं ज़मींदार का नाश नहीं करना चाहता, लेकिन मुझे ऐसा भी नहीं लगता कि ज़मींदार हमारे लिए अनिवार्य है। मैं ज़मींदारों और दूसरे पूँजीपतियों का अहिंसा के द्वारा हृदय-परिवर्तन करना चाहता हूँ और इसलिए वर्गयुद्ध की अनिवार्यता मैं स्वीकार नहीं करता। कम-से-कम संघर्ष का रास्ता लेना मेरे लिए अहिंसा के प्रयोग का एक ज़रूरी अंग है। ज़मीन पर मेहनत करने वाले किसान और मज़दूर ज्यों ही अपनी ताकत को पहिचान लेंगे, त्यों ही ज़मींदारी की बुराई दूर हो जाएगी। अगर किसान-मज़दूर यह कह दें कि उन्हें सभ्य समाज की आवश्यकताओं के अनुसार अपने बच्चों के भोजन, वस्त्र और शिक्षण आदि के लिए जब तक काफ़ी मज़दूरी नहीं दी जाएगी, तब तक वे ज़मीन को जोतेंगे-बोयेंगे ही नहीं, तो ज़मींदार बेचारा कर ही क्या सकता है? सच तो यह है कि मेहनत करने वाला जो कुछ पैदा करता है उसका मालिक वही है। अगर मेहनत करने वाले बुद्धिपूर्वक एक हो जाएँ, तो वे एक ऐसी ताकत बन जाएँगे जिसका मुकाबला कोई नहीं कर सकता। और इसीलिए मैं वर्गयुद्ध की कोई ज़रूरत नहीं देखता। यदि मैं उसे अनिवार्य मानता, तो उसका प्रचार करने में और लोगों को उसकी तालीम देने में मुझे कोई संकोच नहीं होता। [हरिजन, ५-१२-१९३५, पृ. ३३८]

एक आदर्श ज़मींदार किसान का बहुत कुछ बोझा, जो वह अभी उठा रहा है, एकदम घटा देगा। वह किसानों के गहरे संपर्क में आएगा और उनकी आवश्यकताओं को जानकर उस निराशा के स्थान पर, जो उनके प्राणों को सुखाए डाल रही है, उनमें आशा का संचार करेगा। वह किसानों में पाये जाने वाले सफाई और तंदुरुस्ती के नियमों के अज्ञान को दर्शक की तरह देखता नहीं रहेगा, बल्कि उस अज्ञान को दूर करेगा। किसानों के जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए वह स्वयं अपने को दरिद्र बना लेगा। वह अपने किसानों की आर्थिक स्थिति का अध्ययन करेगा और ऐसे स्कूल खोलेगा जिनमें किसानों के बच्चों के साथ साथ वह अपने खुद के बच्चों को भी पढ़ाएगा। वह गाँव के कुएँ और तालाब

को साफ कराएगा। वह किसानों को अपनी सड़कें और अपने पाखाने खुद आवश्यक परिश्रम करके साफ करना सिखाएँगा। वह किसानों से मुक्त उपयोग के लिए अपने सारे बाग-बगीचे नि:संकोच भाव से खोल देगा। जो अनावश्यक इमारतें वह अपनी मौज के लिए रखता है, उनका उपयोग अस्पताल, स्कूल या ऐसी अन्य बातों के लिए करेगा। यदि पूँजीपति-वर्ग काल का संकेत समझकर संपत्ति के बारे में अपने इस विचार को बदल डालें कि उस पर उनका ईश्वर-प्रदत्त अधिकार है, तो जो सात लाख धूरे आज गाँव कहलाते हैं उन्हें आनन-फानन में शांति, स्वास्थ्य और सुख के धाम बनाया जा सकता है। मुझे दृढ़ विश्वास है कि यदि पूँजीपति जापान के उमरावों का अनुसरण करें, तो वे सचमुच कुछ खोयेंगे नहीं और सब-कुछ पाएँगे। केवल दो मार्ग हैं, जिनमें से उन्हें अपना चुनाव कर लेना है। एक तो यह कि पूँजीपति अपना अतिरिक्त संग्रह स्वेच्छा से छोड़ दें और उसके परिणाम स्वरूप सबको वास्तविक सुख प्राप्त हो जाए। दूसरा यह कि अगर पूंजीपति समय रहते न चेतें तो करोड़ों जाग्रत किन्तु अज्ञान और भूखे लोग देश में ऐसी अँधाधुँधी मचा दें, जिसे एक बलशाली हकूमत की फौज़ी ताकत भी नहीं मिटा सकती। [यंग इंडिया, ५-१२-१९२९, पृ. ३९६]

अच्छा हो यदि ज़मींदार समय रहते सावधान हो जाएँ। अब वे केवल लगान वसूल करने वाले न रहें। उन्हें अपने काश्तकारों के संरक्षक और विश्वस्त मित्र बन जाना चाहिए। उन्हें अपना निजी खर्च सीमित कर देना चाहिए। उन्हें वह अनुचित ऊपरी आय छोड़ देनी चाहिए, जो उन्हें काश्तकारों से शादी आदि के अवसरों पर जबरदस्ती की भेंटों के रूप में मिलती है या एक किसान से दुसरे किसान के हाथमें ज़मीन जाने पर या लगान न देने के कारण बेदखली हो जाने के बाद उसी किसान को ज़मीन वापस मलने पर नज़राने के शकल में होती है | उन्हें किसानों को ज़मीन का स्थायी अधिकार दे देना चाहिए, उनकी भलाई में क्रियात्मक रस लेना चाहिए, उनके बच्चों के लिए सुव्यवस्थित स्कूल, प्रौढ़ों के लिए रात्रिशालाएँ, बीमारों के लिए अस्पताल और दवाखाने खोलने चाहिए, देहात की सफाई की देखभाल करनी चाहिए और विविध प्रकार से उन्हें यह अनुभव कराना चाहिए कि ज़मींदार उनके हितैषी हैं और अपनी विभिन्न सेवाओं के लिए एक निश्चित कमीशन मात्र लेते हैं। सार यह कि उन्हें अपनी स्थिति को उचित सिद्ध कर दिखाना चाहिए। उन्हें काँग्रेस वालों पर भरोसा रखना चाहिए। वे स्वयं काँग्रेसी बन सकते हैं और जान सकते हैं कि काँग्रेस सरकार और लोगों के बीच पुल का काम करती हैं। जिन लोगों

के दिलों में जनता की सच्ची भलाई की लगन है, वे सब काँग्रेस की सेवा ले सकते हैं। उधर काँग्रेसजनों को यह देखना चाहिए कि किसान ज़मींदारों के प्रति अपने कर्तव्यों का पूरी तरह पालन करें। मेरा मतलब कानूनी कर्तव्यों से ही नहीं बल्कि उन कर्तव्यों से है, जिन्हें उन्होंने खुद उचित माना है। उन्हें यह सिद्धांत अस्वीकार कर देना चाहिए कि उनकी ज़मीन बिलकुल उनकी अपनी ही है और ज़मींदारों का उस पर कोई अधिकार नहीं। वे एक सम्मिलित परिवार के सदस्य हैं या उन्हें होना चाहिए – ऐसे सम्मिलित परिवार के, जिसमें ज़मींदार मुखिया की तरह किसी भी तरह के आक्रमण के खिलाफ उनके अधिकारों की रक्षा करता है। कानून कुछ भी हो, ज़मींदारी का समर्थन तभी हो सकता है जब वह भरसक सम्मिलित परिवार की स्थिति प्राप्त करे।

इस संबंध में राम और जनक का उदाहरण हमारा आदर्श होना चाहिए। लोगों के विरुद्ध उनका अपना कुछ नहीं था। उनका सर्वस्व और वे स्वयं भी लोगों के थे। वे उनके बीच में ऐसा जीवन व्यतीत करते थे, जो उनके जीवन से ऊपर नहीं था, परन्तु उनके जीवन के अनुरूप था। इस पर शायद यह आपत्ति उठाई जाए कि वे ऐतिहासिक पुरुष नहीं थे। तब हम महान खलीफा उमर की मिसाल लें। यद्यपि वे अपनी महान प्रतिभा और आश्चर्यजनक उद्योग से पैदा किए हुए एक विशाल राज्य के बादशाह थे, फिर भी वे गरीबी का जीवन बिताते थे और जो विशाल खजाना उनके पैरों में पड़ा रहता था उसका अपने को कभी मालिक नहीं समझते थे। जो राजकर्मचारी जनता का घन ऐश-आराम में बर्बाद करते थे वे खलीफा से काँपते थे। [यंग इंडिया, २८-५-१९३१, पृ. १२०]

ज़मींदारों से मुझे इतना ही कहना है कि आपके खिलाफ जो शिकायतें की जाती हैं वे अगर सच हों, तो मुझे आपको सावधान कर देना चाहिए कि अब आपके दिन लद गए हैं। किसानों के मालिक और ईश्वर के रूप में आज तक आपने जो वर्चस्व भोगा, वह अब चालू रहने वाला नहीं है। यदि गरीब किसानों के आप ट्रस्टी बन जाएँ, तो आज आपका भविष्य उज्जवल है। ट्रस्टी शब्द का उपयोग मैं केवल नामधारी ट्रस्टी होने के लिए नहीं कर रहा हूँ, बल्कि सच्चे ट्रस्टी बनने के लिए कह रहा हूँ। ऐसे ट्रस्टी अपने श्रम और संपत्ति के संरक्षण के बदले में मेहनताने के रूप में जितना लेने का उन्हें अधिकार होगा उससे एक पाई भी अधिक नहीं लेंगे। ऐसे ट्रस्टी बन जाने के बाद वे देखेंगे कि किसी भी प्रकार का

कानून उनका बाल बाँका नहीं कर सकता। खुद किसान ही उनके मित्र बन जाएँगे। [हरिजन, ४-५-१९४७, पृ. १३४]

यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि क्या वर्तमान राजाओं और दूसरे लोगों से गरीबों के संरक्षक बनने की आशा रखी जा सकती है? यदि वे अपने-आप ट्रस्टी नहीं बन जाते हैं, तो परिस्थिति का जोर जबरदस्ती उनसे यह सुधार करा लेगा। हाँ, वे संपूर्ण विनाश को आमंत्रित करें तो दूसरी बात है।

जब पंचायत राज्य स्थापित हो जाएँगा तो लोकमत वह काम करेगा, जो हिंसा कभी नहीं कर सकती। ज़मींदारों, पूँजीपतियों और राजाओं की वर्तमान सत्ता तभी तक रह सकती है जब तक साधारण लोग अपनी ताकत को अच्छी तरह पहचान नहीं लेते। यदि लोग ज़मींदारी या पूँजीवाद की बुराई के साथ असहयोग कर दें, तो वह निष्प्राण होकर मर जाएँगी। पंचायत राज्य में पंचायत की ही बात मानी जाएगी और पंचायत अपने बनाए हुए कानून के जरिए ही काम कर सकती हैं। [हरिजन, १-६-१९४७, पृ. १७२]

सच्चा समाजवाद तो हमें अपने पूर्वजों से प्राप्त हुआ है, जो हमें यह सिखा गए हैं कि 'सब भूमि गोपाल की है; इसमें कहीं मेरी और तेरी की सीमाएँ नहीं हैं। ये सीमाएँ तो मनुष्यों की बनाई हुई हैं और इसलिए वे इन्हें तोड़ भी सकते हैं।' गोपाल यानी कृष्ण यानी भगवान। आधुनिक भाषा में गोपाल यानी राज्य यानी जनता। आज ज़मीन जनता की नहीं है, यह बात सही है। पर इसमें दोष उस शिक्षा का नहीं है। दोष तो हमारा है जिन्होंने उस शिक्षा के अनुसार आचरण नहीं किया।

मुझे इसमें कोई संदेह नहीं कि इस आदर्श को जिस हद तक रूस या और कोई देश पहुँच सकता है उसी हद तक हम भी पहुँच सकते हैं; और वह भी हिंसा का आश्रय लिए बिना। पूँजी वालो से उनकी पूँजी हिंसापूर्वक छीनी जाए, इसके बजाय यदि चरखा और उसके सारे फलितार्थ स्वीकार कर लिए जाएँ तो वही काम हो सकता है। चरखा हिंसक अपहरण की जगह ले सकने वाला एक अत्यंत प्रभावकारी साधन है। ज़मीन और दूसरी सारी संपत्ति उसकी है, जो उसके लिए काम करे। दुःख इस बात का है कि किसान और मज़दूर या तो इस सरल सत्य को जानते नहीं है या यों कहो कि उन्हें इसे जानने नहीं दिया गया है। [हरिजन, २-१-१९३७, पृ. ३७५]

आने वाले जमाने की अहिंसक व्यवस्था में ज़मीन राज की मिल्कियत होगी। कहा नहीं गया है – 'सूबै भूमि गोपाल की? इस तरह के बँटवारे में बुद्धि और श्रम का नाश नहीं होगा। हिंसक तरीकों से यह असंभव है। इसलिए यह कहना सच है कि हिंसा के जरिए ज़मीन के मालिको का नाश कर दिया गया, तो अंत में मज़दूरों का नाश भी होगा ही। इसलिए अगर ज़मीन के मालिक बुद्धिमत्ता से काम लें, तो किसी का नुकसान नहीं होगा। [हरिजनसेवक, ९-३-१९४७, पृ. ४६]

१६. खेती और पशुपालन – ३

सहकारिता

एक महत्त्व का प्रश्न यह था कि गोपालन वैयक्तिक हो या सामुदायिक? मैंने यह राय दी कि सामुदायिक हुए बगैर गाय बच ही नहीं सकती, और इसलिए भैंस भी नहीं बच सकती। प्रत्येक किसान अपने घर में गाय-बैल रखकर उनका पालन भलीभाँति और शास्त्रीय पद्धति से नहीं कर सकता। गोवंश के ह्रास के अनेक कारणों में व्यक्तिगत गोपालन भी एक कारण रहा है। यह बोझ वैयक्तिक किसान की शक्ति के बिलकुल बाहर है।

मैं तो यहाँ तक कहता हूँ कि आज संसार हरएक काम में सामुदायिक रूप से शक्ति का संगठन करने की ओर जा रहा है। इस संगठन का नाम सहयोग है। बहुत सी बातें आजकल सहयोग से हो रही है। हमारे मुल्क में भी सहयोग आया तो है, लेकिन वह ऐसे विकृत रूप में आया है कि उसका सही लाभ हिन्दुस्तान के गरीबों को बिलकुल नहीं मिलता।

हमारी आबादी बढ़ती जा रही है और उसके साथ किसान की व्यक्तिगत ज़मीन कम होती जा रही है। नतीजा यह हुआ है कि प्रत्येक किसान के पास जितनी चाहिए उतनी ज़मीन नहीं है। जो है वह उसकी अड़चनों को बढ़ाने वाली है। ऐसा किसान अपने घर में या खेत पर गाय-बैल नहीं रख सकता। यदि रखता है तो अपने हाथों अपनी बरबादी को न्योता भी देता है। आज हिन्दुस्तान की यही हालत हैं। धर्म, दया या नीति की परवाह न करने वाला अर्थशास्त्र तो पुकार-पुकार कर कहता है कि आज हिन्दुस्तान में लाखों पशु मनुष्य को खा रहे हैं। क्योंकि उनसे कुछ लाभ नहीं होने पर भी उन्हें खिलाना तो पड़ता ही है। इसलिए उन्हें मार डालना चाहिए। लेकिन धर्म कहो, नीति कहो या दया कहो – ये हमें इन निकम्मे पशुओं को मारने से रोकते हैं।

इस हालत में क्या किया जाए? यही कि जितना प्रयत्न पशुओं को जीवित रखने और उन्हें बोझ न बनने देने का हो सकता है उतना किया जाए। इस प्रयत्न में सहयोग का बड़ा महत्त्व हैं। सहयोग अथवा सामुदायिक पद्धति से पशु-पालन करने से :

१. जगह बचेगी। किसान को अपने घर में पशु नहीं रखने पड़ेंगे। आज तो जिस घर में किसान रहता है, उसीमें उसके सारे मवेशी भी रहते हैं। इससे हवा बिगड़ती है और घर में गंदगी रहती है। मनुष्य पशु के साथ एक ही घर में रहने के लिए पैदा नहीं किया गया है। ऐसा करने में न दया है न ज्ञान।

२. पशुओं की वृद्धि होने पर एक घर में रहना असंभव हो जाता है। इसलिए किसान बछड़े को बेच डालता है और मैंसे या पाड़े को मार डालता है, या मरने के लिए छोड़ देता है। यह अधमता है। सहयोग से यह रुकेगा।

३. जब पशु बीमार होता है तब व्यक्तिगत रूप से किसान उसका शास्त्रीय उपचार नहीं करवा सकता। सहयोग से ही चिकित्सा सुलभ होती है।

४. प्रत्येक किसान सांड़ नहीं रख सकता। सहयोग के आधार पर बहुत से पशुओं के लिए एक अच्छा सांड़ रखना सरल है।

५. प्रत्येक किसान गोचर-भूमि तो ठीक, पशुओं के लिए व्यायाम की यानी हिरने-फिरने की भूमि भी नहीं छोड़ सकता | किंतु सहयोग द्वारा ये दोनों सुविधाएँ आसानी से मिल सकती है।

६. व्यक्तिगत रूप में किसान को घास इत्यादि पर बहुत खर्च करना पड़ता है। सहयोग द्वारा कम खर्च में काम चल जाएगा।

७. किसान व्यक्तिगत रूप में अपना दूध आसानी से नहीं बेच सकता। सहयोग द्वारा उसे दाम भी अच्छे मिलेंगे और वह दूध में पानी वगैरा मिलाने के लालच से भी बच सकेगा।

८. व्यक्तिगत रूप में किसान के लिए पशुओं की परीक्षा करना असंभव है, किन्तु गाँवभर के पशुओं की परीक्षा सुलभ है। और उनकी नसल के सुधार का प्रश्न भी आसान हो जाता है।

९. सामुदायिक या सहयोगी पद्धति के पक्षमें इतने कारण पर्याप्त होने चाहिए। परन्तु सबसे बड़ी और सचोट दलील तो यह है कि व्यक्तिगत पद्धति के कारण ही हमारी और पशुओं की दशा आज इतनी दयनीय हो उठी है। उसे बदल दें तो हम बच सकते हैं और पशुओं को भी बचा सकते हैं।

मेरा तो विश्वास है कि जब हम अपनी ज़मीन को सामुदायिक पद्धति से जोतेंगे, तभी उससे फायदा उठा सकेंगे। गाँव की खेती अलग-अलग सौ टुकड़ों में बँट जाए, इसके बनिस्बत कया यह बेहतर नहीं होगा कि सौ कूटुम्ब सारे गाँव की खेती सहयोग से करें और उसकी आमदनी आपस में बाँट लिया करें? और जो बात खेती के लिए सच है, वह पशुओं के लिए भी सच है।

यह दूसरी बात है कि आज लोगों को सहयोग की पद्धति पर लाने में कठिनाई है। कठिनाई तो सभी सच्चे और अच्छे कामों में होती है। गोसेवा के सभी अंग कठिन हैं। कठिनाइयाँ दूर करने से ही सेवा का मार्ग सुगम बन सकता है। यहाँ तो मुझे इतना ही बताना था कि सामुदायिक पद्धति क्या चीज़ है और यह कि वैयक्तिक पद्धति गलत है, सामुदायिक सही है। व्यक्ति अपने स्वातंत्र्य की रक्षा भी सहयोग को स्वीकार करके ही कर सकता है। अतएव सामुदायिक पद्धति अहिंसात्मक है, वैयक्तिक हिंसात्मक। [हरिजनसेवक, १५-२-१९४२, पृ. ४१]

'क्या किसान अपने खेंतों को एकसाथ मिला लें और अपने अपने खेंतों के क्षेत्रफल के हिसाब से फसल आपस में बाँट लें?'

सहकार की मेरी कल्पना यह है कि सब मालिक मिल-जुलकर ज़मीन पर अधिकार रखें और जोतने, बोने, फसल काटने बगैरा का काम भी मिल-जुलकर ही करें। इससे मेहनत, पूँजी, औज़ार बगैरा की बचत होगी। मालिक मिल-जुलकर खेतों में काम करेंगे और पूँजी, औज़ार, जानवर और बीज वगैरा पर भी उनका मिला-जुला अधिकार होगा। मेरी कल्पना की सहकारी खेती ज़मीन की शकल ही बदल देगी और लोगों की गरीबी और आलस को भगा देगी। यह सब तभी संभव होगा जब लोग एक-दूसरे के मित्र बन जाएँगे और एक परिवार के सदस्य बनकर रहने लगेंगे। जब वह सुख की घड़ी आएगी तब सांप्रदायिक प्रश्न का धिनौना नासूर हमेशा के लिए मिट जाएगा। [हरिजनसेवक, ९-३-१९४७, पृ. ४७]

सहकारिता की पद्धति किसानों के लिए बहुत ज़्यादा ज़रूरी है। ज़मीन सरकार की है। इसलिए जब उसे सहकारिता के आधार पर जोता जाएगा, तो उससे ज़्यादा से ज़्यादा आमदनी होगी।

याद रखना चाहिए कि सहकारिता पूरी तरह अहिंसा की बुनियाद पर हो | हिंसामय सहकारिता की सफलता जैसी कोई चीज़ है ही नहीं। हिटलर इस दूसरी बात का प्रबल प्रमाण था। वह भी सहकारिता

की बेकार बातें किया करता था। उसे जबरन उसने लोगों पर लादा और हर कोई जानता है कि उसके फलस्वरूप जर्मनी की कैसी दुर्गति हुई।

अगर हिन्दुस्तान ने भी हिंसा के जरिए सहकारिता की बुनियाद पर नया समाज खड़ा करने की कोशिश की, तो वह एक दुःख की बात होगी। भले काम के लिए भी जबरदस्ती करने से मनुष्य का व्यक्तित्व नष्ट हो जाता है। जब परिवर्तन अहिंसक असहयोग की मन को मोड़ देने वाली शक्ति यानी प्रेम से किया जाता है तभी केवल व्यक्ति के व्यक्तित्व की नींव कायम रखी जा सकती है और दुनिया की सच्ची, स्थायी प्रगति का विश्वास हो सकता है। [हरिजनसेवक, ९-३-१९४७, पृ. ४६]

१७. खेती और पशुपालन – ४

खाद

मिश्र खाद

मिश्र खाद का प्रचार करने के लिए मीराबहन की प्रेरणा और उत्साह से दिल्ली में इस महीने में (दिसम्बर १९४७) एक सभा बुलाई गई थी। उसमें डो. राजेन्द्रप्रयाद सभापति थे। इस काम के विशारद सरदार दातारसिंह, डो. आचार्य वगैरा भी इकट्ठा हुए थे। उन्होंने तीन दिन के विचार-विनिमय के बाद कुछ महत्त्व के प्रस्ताव पास किए हैं। उनमें यह बताया गया है कि शहरों में और ७ लाख गाँवों में इस बारे में क्या करना चाहिए। शहरों में और देहातों में मनुष्य के और दूसरे जानवरों के मलको कूड़े-कचरे, चीथड़ों व कारखानों में से निकले हुए मैल के साथ मिलाने का सुझाव रखा गया है। इस विभाग के लिए छोटी-सी उपसमिति बनाई गई है, जिसके मेम्बर ये है : श्री मीराबहन, श्री शिवकुमार शर्मा, डो. बी. एन. लाल और डो. के. जी. जोशी।

अगर ये प्रस्ताव सिर्फ अखबारों में छपकर ही न रह जाएँ और करोड़ों इन पर अमल करें, तो हिन्दुस्तान की शकल बदल जाए। हमारे अज्ञान के कारण जो करोड़ों रुपयों की खाद बरबाद हो रही है वह बच जाए, ज़मीन उपजाऊ बने और जितनी फसल आज पैदा होती है उससे कई गुनी ज़्यादा फसल पैदा होने लगे। परिणाम यह होगा कि भुखमरी बिलकुल दूर हो जाएगी। करोड़ों का पेट भरने के लिए अन्न मिलेगा और उसके बाद बाहर भी भेजा जा सकेगा।

भारत की जनता इस प्रयत्न में खुशी से सहयोग करे, तो यह देश न सिर्फ अनाज की कमी को पूरा कर सकता है, बल्कि हमें जितना चाहिए उससे कहीं ज़्यादा अनाज पैदा कर सकता है। यह जीवित खाद (आरगेनिक मैन्युर) ज़मीन के उपजाऊपन को हमेशा बढ़ाती ही है, कभी कम नहीं करती। हर दिन जो कूड़ा-कचरा इकट्ठा होता है उसे ठीक विधि के अनुसार गड्ढ़ों में इकट्ठा किया जाए, तो उसकी सुनहली खाद बन जाती है; और तब उसे खेत की ज़मीन में मिला दिया जाए तो उससे अनाज की उपज कई गुनी बढ़ जाती है और फलतः हमें करोड़ों रुपयों की बचत होती है। इसके सिवा, कूड़े-कचरे का इस तरह खाद बनाने के लिए उपयोग कर लिया जाए, तो आसपास की जगह साफ रहती है। और

स्वच्छता एक सद्गुण होने के साथ साथ स्वास्थ्य की पोषक भी है। [हरिजनसेवक, २८-१२-१९४७, पृ. ४१३]

हमारे यहाँ पूरा अनाज पैदा नहीं होता, क्योंकि हमारी ज़मीन को पूरी खाद नहीं मिलती। हम खाद बाहर से लाते हैं। उससे रुपया बरबाद होता है। ज़मीन भी बिगड़ती है। लोग जानवरों के मल को कचरे के साथ मिलाकर जब खाद बनाते हैं, तब पता नहीं चलता कि वह खाद है। उसे हाथ में ले लो तो बदबू नहीं आती। हम कचरे में से करोड़ों रुपये बना सकते हैं और एक मन की जगह दो मन, चार मन धान पैदा कर सकते हैं। [हरिजनसेवक, २८-१२-१९४७, पृ. ४१९]

खाद के खड्डे

[गाँवों में खाद के खड्डे खोदने की ज़रूरत के बारे में बताए गए श्री ब्रेन के सुझावों के साथ आम तौर से सहमत होते हुए, पर साथ ही उनकी इस रायसे असहमत होते हुए कि खाद के खड्डे ६ फुट चौड़े और ६ फुट गहरे होने चाहिए, गांधीजीने लिखा:]

श्री ब्रेनने जैसे खड्डों के लिए लिखा हैं वैसों की ही आम तौर पर सिफारिश की जाती है, यह मैं जानता हूँ। पर मेरी राय में श्री पूअरेने जो एक फुट के छिछले खड्डों की सिफारिश की है, वह अधिक वैज्ञानिक एवं लाभप्रद है। उसमें खुदाई की मज़दूरी कम होती है और खाद निकालने की मज़दूरी या तो बिलकुल ही नहीं होती या बहुत थोड़ी होती है। फिर उस मैले की खाद भी लगभग एक सप्ताह में ही बन जाती है। क्योंकि ज़मीन की सतहसे ६ से ९ इंच तक की गहराई में रहने वाले जंतुओं, हवा और सूर्य की किरणों का उस पर असर होता है, जिससे खड्डे में दबाए जाने वाले मैले के बनिस्बत कहीं अच्छी खाद तैयार हो जाती है।

लेकिन मैला ठिकाने लगाने के तरीके कितने ही प्रकार के क्यों न हों, याद रखने की मुख्य बाद तो यह है कि सब मैले को खड्डे में गाड़ा ज़रूर जाए। इससे दुहरा लाभ होता है – एक तो ग्रामवासियों की तंदुरुस्ती ठीक रहती है, दूसरे खड्डों में दबकर बनी हुई खाद खेतों में डालने से फसल की वृद्धि होकर उनकी आर्थिक स्थिति सुधरती है। यह याद रखना चाहिए कि मैले के अलावा जानवरों के शरीर के अवयव आदि चीज़ें अलग गाड़ी जानी चाहिए। [हरिजनसेवक, ८-३-१९३५, पृ. २१]

मैले की खाद

जी० आई० फाउलर नाम के एक लेखक ने 'संपत्ति तथा दुर्व्यय' (Wealth and Waste) नामकी एक अंग्रेजी पुस्तक में लिखा है कि मनुष्य का मैला अच्छी तरह ठिकाने लगाया जाए, तो एक मनुष्य के मैले से हर साल २ रु॰ की आय हो सकती है। अनेक जगहों में तो आज सोने जैसी खाद यों ही पड़ी-पड़ी नष्ट हो जाती है और उलटे उससे बीमारियाँ फैलती हैं। उक्त लेखकने प्रोफेसर ब्रुलटीनी की 'कूड़े-कचरे का उपयोग' (The Use of Waste Materials) नामक पुस्तक से जो उदाहरण दिया है, उसमें कहा गया है कि 'दिल्ली में रहने वाले २,८२,००० मनुष्यों के मैले से जो नाइट्रोजन पैदा होता है, उससे कमसे कम १० हजार और अधिक से अधिक ९५ हज़ार एकड़ ज़मीन को पर्याप्त खाद मिल सकती है।' परन्तु हमने अपने भंगियों के साथ अच्छी तरह बरताव करना नहीं सीखा है, इससे प्राचीन कीर्ति वाली दिल्ली नगरी में भी आज ऐसे ऐसे नरक-कुंड देखने में आते हैं कि हमें अपना सिर शर्म से नीचा कर लेना पड़ता है। अगर हम सब भंगी बन जाएँ, तो हमें यह मालूम हो जाएगा कि हमें खुद अपने प्रति कैसा बरताव करना चाहिए; और यह भी ज्ञान हो जाएगा कि आज जो चीज़ ज़हर का काम कर रही है, उसे हम पेड़-पौधों के लिए किस प्रकार उत्तम खाद में परिणत कर सकते हैं। अगर हम मनुष्य के मल का सदुपयोग करें, तो डोक्टर फाउलर के हिसाब के अनुसार भारत की ३० करोड़ की आबादी से साल में ६० करोड़ रुपये का लाभ हो सकता है। [हरिजनसेवक, २२-३-१९३५, पृ. ३६]

मिश्र खाद बनाने की पद्धति

[इन्दौर में 'इन्स्टिट्यूट ओफ प्लान्ट इन्डस्ट्री' नाम की एक वैज्ञानिक संस्था है। जिन की सेवा करने के लिए वह कायम की गई है, उनके लिए वह समय समय पर पत्रिकाएँ निकालती है। इनमें से पहली पत्रिका खेत की बेकार समझी जाने वाली चीज़ों से कंपोस्ट (मिश्र खाद) बनाने के तरीकों और उसके फायदों का वर्णन करती है। गोबर और मैला उठाने, साफ करने या फेंकने का काम करने वाले हरिजनों और ग्रामसेवकों के लिए बह बहुत उपयोगी है। इसलिए मैं कंपोस्ट बनाने की प्रक्रिया के वर्णन के साथ उसके फुटनोटों को भी जोड़कर लगभग पूरी पत्रिका की नकल नीचे देता हूँ। **– मो. क. गांधी**]

बहुत लम्बे समय से यह बात समझ ली गई है कि हिन्दुस्तान की मिट्टियों में उचित और व्यवस्थित ढंग से प्राणिज तत्त्वों की कमी पूरी करना या उन्हें फिर से पैदा करना खेती की पैदावार को बढ़ाने की किसी भी सफल योजना का एक ज़रूरी अंग है। यह भी उतनी ही अच्छी तरह समझ लिया गया है कि खलिहानों में तैयार की जाने वाली खाद के मौजूदा साधन खाद की ज़रुरी मात्रा पूरी नहीं कर सकते। इसके अलावा, यह बात तो है ही कि इस खाद के तैयार होने में नाइट्रोजन का बड़ा हिस्सा बरबाद हो जाता है और इस खाद के ज़्यादा से ज़्यादा गुणकारी बनने में बहुत लम्बा समय लग जाता है। हरी खाद शायद इसकी जगह ले सकती है, लेकिन मौसमी हवा (monsoon) की अनिश्चितता के कारण हिन्दुस्तान के ज़्यादातर हिस्सों में उसका मिलना अनिश्चित ही रहता है | हरी खाद का मिट्टी में गलना या सड़ना भी कुछ समय के लिए पौधों के भोजन की कमी पूरी करने की कुदरती प्रक्रिया में सकावट डालता है, जो उष्णकटिबंध के प्रदेशों में ज़मीन के उपजाऊपन को कायम रखने में बड़े महत्त्व का काम करती है। साफ है कि ज़मीन को ह्यूमस तैयार करने के बोझ से मुक्त करके उसे जैव तत्त्वों की कमी पूरी करने और फसल को बढ़ाने के काम में ही लगे रहने देना सबसे अच्छा मार्ग है। इसका सबसे आसान तरीका यह है कि खेत का काम चालू रखते हुए खेती की ऐसी सारी बेकार चीज़ों का, जिनकी ईंधन या ढोरों के चारे के रूप में ज़रूरत नहीं होती, फायदा उठाकर उप-उत्पादन के रूप में ह्यूमस तैयार किया जाए।

यहाँ इस बात पर जोर देना ज़रूरी है कि खलिहान या बाड़ों की खाद की जगह लेने वाली कोई भी चीज़ बनावट में ह्यूमस के साथ ज़्यादा से ज़्यादा समानता रखने वाली होनी चाहिए | यही इन्दौर-पद्धति का ध्येय है, जिसे वह सिद्ध करती है। इस तरह इन्दौर-पद्धति का उद्देश्य उन पद्धतियों के उद्देश्यों से बिलकुल अलग है, जो बहुत ज़्यादा नाइट्रोजन वाली सक्रिय खाद तैयार करते हैं, जिसकी विशेष उपयोगिता कृत्रिम खादों के जैसी ही होती है।

इन्दौर के 'इन्स्टिट्यूट ओफ प्लांट इन्डस्ट्री' में होने वाले कामने, जो श्री एलबर्ट होवर्ड के इस दिशा में किए गए बीस बरस के परिश्रम का फल है, अब निश्चित रूप से यह सिद्ध कर दिया है कि इन सिद्धांतों को बड़ी आसानी से अमल में लाया जा सकता है। कंपोस्ट की इन्दौर-पद्धति व्यावहारिक पद्धति बताती है और विकास के नए रास्ते खोलती है। खेतों और शहरों में कचरा, मैला वगैरा चीज़ों के रूप में जो अपार कुदरती साधन मौजूद हैं, उनसे मिश्र खाद बनाकर खेतों में उसका उपयोग किया जा सकता है

और फायदा उठाया जा सकता है। खली के निकास व ईंधन के रूप में होने वाले गोबर के उपयोग पर हमला किए बिना इससे बहुत सी खाद मिल सकती है, साथ ही कृत्रिम खादों के उपयोग में किफायत भी की जा सकती है, जो जैव तत्त्वों की मदद से ही अच्छे से अच्छा नतीजा ला सकती है।

'युटिलाइज़ेशन ओफ एग्रिकल्चरल वेस्ट' (होवर्ड एण्ड वाड, ओक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस १९३१) नाम की पुस्तक में इस पद्धति से संबंध रखने वाली समस्याओं और उसूलों की चर्चा की गई है और इन्दौर-पद्धति पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। इस लेख में सिर्फ हिन्दुस्तानी किसानों की हालतों पर लागू होने वाली पद्धति की कामचलाउ रूपरेखा ही थोड़े में दी गई है।

हिन्दुस्तान की सिंचाई की फसलों के लिए खलिहान की खाद बहुत क़ीमती मानी गई है। लेकिन बिना सिंचाई वाली फसलों के खेतों में भी समय समय पर थोड़ी खाद देते रहना उतना ही ज़रूरी है। कंपोस्ट (मिश्र खाद) बनाने की इन्दौर-पद्धति जल्दी ही बड़ी मात्रा में ज़्यादा अच्छी खाद तैयार करती है। इसके अलावा, यह खाद तुरंत देते ही फसल को सक्रिय रूप से फायदा पहुँचाती है, जब कि खलिहान की खाद हमेशा ऐसा नहीं करती। अगर सही ढंग से तैयार की जाए तो इन्दौर-पद्धति की मिश्र खाद तीन महीने बाद काम में ली जा सकती है और तब वह गहरे भूरे या कोफी के रंग का बिखरा पदार्थ बन जाती है, जिसमें २० प्रतिशत के करीब कुछ अंशों में गला हुआ छोटी डलियों वाला हिस्सा होता है, जिसका अँगुलियों से दबाकर तुरंत भूसा किया जा सकता है। बाकी का हिस्सा गीला होने के कारण (और इसलिए उसके बिखरे कण फूले हुए होते हैं) बारीक होता है और वह एक इंच में छह छेद वाली छलनी से छन जाता है। इस खाद में नाइट्रोजन की मात्रा, उपयोग किए हुए कचरे वगैरा के गुण के मुताबिक, ८ से लेकर १.० प्रतिशत या इससे ज़्यादा होती है। १०० या १२५ गाड़ी खेत में मिलने वाले सब तरह के कचरे और गोठान में मिलने वाली पेशाब सोखी हुई आधी मिट्टी के साथ एक-चौथाई भाग ताजा गोबर मिलाने से दो बैलों के पीछे हर साल करीब ५० गाड़ी मिश्र खाद तैयार हो सकती है। आधी बची हुई पैशाब वाली मिट्टी की भी बड़ी अच्छी खाद होती है और वह सीधी खेतों में डाली जा सकती है। अगर इससे ज़्यादा कचरा मिल सके, तो सारे गोबर और पेशाब वाली मिट्टी से १५० गाड़ी मिश्र खाद बनाई जा सकती है। इन्दौर में एक गाड़ी मिश्र खाद बनाने का खर्च साढ़े आठ आने आता है। यहाँ ८ घंटे काम करने के लिए एक पुरुष को ७ आने रोज और एक स्त्री को ५ आने रोज मज़दूरी दी जाती है।

इन्दौर-पद्धति की रूपरेखा

दूसरी तरह से बेकार जाने वाली खेती की चीज़ों, कचरे वगैरा के साथ ताजा गोबर, लकड़ी की राख और पेशाब वाली मिट्टी के मिश्रण को खड्डों में जल्दी सड़ाना ही इस पद्धति का खास काम है। खड्डों की गहराई २ फुट से ज़्यादा नहीं होनी चाहिए। वे १४ फुट चोड़े होने चाहिए। उनकी सामान्य लम्बाई ३० फुट होनी चाहिए। खड्डों का यह नाप बड़े पैमाने और छोटे पैमाने दोनों तरह के काम के लिए ठीक रहेगा। उदाहरण के लिए, खड्डे का ३ फुट लम्बा हिस्सा दो जोड़ी बैलों के नीचे बिछाए हुए घासपात के बिछौने से ६ दिन में भर सकता है। इसके बाद ३ फुट का पास का हिस्सा भरा जाए। आगे चलकर हरएक हिस्से को स्वतंत्र इकाई समझा जाए। खड्डे में डाली हुई चीज़ों पर पानी का एकसा छिड़काव किया जाता है, जिसमें थोड़ा गोबर, लकड़ी की राख, पेशाब वाली मिट्टी और सक्रिय खड्डे में से निकाली हुई कुकुरमुत्ता (Fungus) वाली खाद मिली रहती हैं। सक्रिय रूप से सड़ने वाला कंपोस्ट जल्दी ही कुकुरमुत्ता उगने से सफेद हो जाता है। बाद में यह नए खड्डों के कचरे, गोबर वगैरा को जोरों से सड़ाने के काम में लिया जाता है। पहले-पहल जब कुकुरमुत्ता वाली खाद नहीं मिलती, तो ढोरों के बिछौने के साथ थोड़ी हरी पत्तियाँ बिछाकर कुकुरमुत्ता उगाने में मदद ली जाती है। खड्डे की चीज़ों को गलाने का काम शुरू करने वाले पदार्थ (Starter) में पूरी सक्रियता ३-४ बार ऐसी क्रिया हो चुकने के बाद आती है। खड्डे की सतह पर पानी छिड़कने और भीतर की चीज़ों को पलटते रहने से नमी और हवा को नियमित रखकर इसकी सक्रियता कायम रखी जाती है। इसमें दूसरी बार 'स्टार्टर' की थोड़ी मात्रा जोड़ी जाती है, जो इस वक्त ३० दिन से ज़्यादा पुराने खड्डे से लिया जाता है। सारा ढेर जल्दी ही बहुत गरम हो जाता है और लम्बे समय तक वैसा बना रहता है। व्यवस्थित ढंग से सब काम किया जाए, तो बड़ा अच्छा मिश्रण तैयार होता है और उसे काफ़ी हवा भी मिलती रहती है। पानी का साधारण छिड़काव एकदम चीज़ों को गलाना शुरू कर देता है, जो आखिर तक लगातार चालू रहता है। और अंत में बिलकुल एकसी उमदा खाद बन जाती है।

खड्डे बनाना

गोठान के पास और संभव हो तो पानी के किसी साधन के पास अच्छी तरह सूखा हुआ ज़मीन का हिस्सा चुन लीजिए। ३० फुट x १४ फुट x २ फुट का खड्डा बनाने के लिए एक फुट मिट्टी खोदकर

किनारों पर फैला दीजिए; ऐसे खड्डे दो दो की जोड़ में खोदे जाएँ। उनकी लम्बाई पूर्व से पश्चिम की ओर रहे। एक जोड़ के दो खड्डों के बीच ६ फुट की दूरी रहे और ऐसी हर जोड़ एक-दूसरे से १२ फुट दूर रहे। तैयार कंपोस्ट के ढेर और बारिश में लगाए जाने वाले ढेर इन चौड़ी जगहों पर किए जाते हैं, जो हर एक ढेर से सीधे गाड़ी में खाद भर कर ले जाने के लिए भी उपयोगी होती हैं।

मिट्टी और पेशाब

ढोरों के पेशाब में क़ीमती खाद के तत्त्व होते हैं और खलिहान की खाद बनाने की सामान्य पद्धति में ज़्यादातर बरबाद ही होते हैं। गोठान में पक्का फर्श बनाना खर्चीला होता है और बैलों के लिए वह अच्छा नहीं होता। ढोरों के उठने-बैठने और सोने के लिए खुली मिट्टी का मुलायम, गरम और सूखा बिछौना सस्ते में बनाया जा सकता है। मिट्टी की ६ इंच की परत गंदगी फैलाए बिना ढोरों की सारी पेशाब सोखने के लिए काफ़ी होगी, बशर्ते कि ज़्यादा गीले हिस्से रोज साफ कर दिए जाएँ, उन पर थोड़ी नई मिट्टी डाल दी जाए और मिट्टी पर थोड़ा न खाया हुआ घास बिछा दिया जाए। हर चार महिने में यह पेशाब वाली मिट्टी हटा दी जाए और उसकी जगह नई मिट्टी डाली जाए। उसका ज़्यादा अच्छा हिस्सा कंपोस्ट बनाने के लिए रख लिया जाए और ज़्यादा बड़े ढेले सीधे खेतों में डाल दिए जाएँ | यह बड़ी जल्दी काम करने वाली खाद होती हैं, जो खास तौर पर सिंचाई की फसल को ऊपर से दी जाती है। [हरिजन, १७-८-१९३५, पृ. २१३-१५]

गौबर और राख

रोज मिल सकने वाले गोबर का सिर्फ एक-चौथाई हिस्सा ही ज़रूरी है; इसे पानी में मिलाकर प्रवाही के रूप में छिड़का जाता है। ज़रूरत हो तो बचे हुए गोबर को ईंधन की तरह काम में लिया जा सकता है। रसोई घर और दूसरी जगहों से लकड़ी की राख सावधानी से इकट्टी करनी चाहिए और किसी ढँकी हुई जगह पर उसका संग्रह करना चाहिए।

खेत का कचरा

हर तरह के पौधों के कचरे से, जिसकी खेत में दूसरी तरह से ज़रूरत न हो, कंपोस्ट बनाया जा सकता है। इस कचरे में ये सब चीज़ें आ सकती है; घासपात, कपास, मटर और तिलके डंठल, टेसू के पत्ते,

अलसी, सरसों, काले और हरे चनों के डंठल, गन्ने का कूचा और छिलका, जुवार और गन्ने की जड़े, पेड़ों के गिरे हुए पत्ते और घास-चारा, कड़वी वगैरा के न खाये हुए हिस्से। कड़ी चीज़ों को कुचलना होगा। सिंध में कच्ची और मुलायम सड़कों पर भी यह काम सफलता से किया गया है। वहाँ गाड़ी के रास्ते पर ऐसी चीज़ें फैला दी जाती है और कुचले हुए हिस्सों को समय-समय पर उठाकर उनकी जगह दूसरी कड़ी चीज़ें फैला दी जाती है। ठूँठ और जड़ों जैसे बहुत कड़े हिस्सों को (कुचलने के अलावा) कमसे कम दो दिन तक पानी में भिगोने या दो-तीन माह तक गीली मिट्टी या कीचड़ के नीचे गाड़ने की ज़रूरत रहेगी। इसके बाद ही वे अच्छी तरह काम में लिए जा सकते हैं। कीचड़ के नीचे गाड़ने का काम बारिश में आसानी से किया जा सकता है। हरी चीज़ें कुछ हद तक सुखा ली जाएँ और फिर उनकी गंजी लगाई जाए। थोड़ी-थोड़ी अलग-अलग चीज़ों की एकसाथ गंजी लगाई जाए और बड़ी मात्रा की हरएक चीज़ के लिए अलग गंजी बनाई जाए। इन चीज़ों को कंपोस्ट के खड्डे में ले जाते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि सब तरह की चीज़ों का मिश्रण किया जाए; खड्डे में डालने के लिए उठाई जाने वाली सारी चीज़ों की कुल मात्रा के एक तिहाई से ज़्यादा कोई चीज़ खड्डे में नहीं डालनी चाहिए। पानी में भिगोई या मुलायम बनाई हुई सख्त जड़े, डंठल बगैरा एक बार में बहुत थोड़ी मात्राओं में ही काम में लिए जाने चाहिए। अगर मामूली तौर पर मिल सकने वाली अलग-अलग चीज़ों को ऐसी मात्राओं में इकट्ठा और इस्तेमाल किया जाए कि सालभर तक वे मिलती रहें, तो यह सब अपने-आप हो जाता है। सन या इसी तरह की दूसरी खरीफ की फसल के उपयोग से कंपोस्ट को और ज़्यादा गुणकारी बनाया जा सकता है। इसे हरी ही काटना चाहिए और सूखने पर उसका ढेर लगाना चाहिए। इससे रबी की फसल बोने के समय ज़मीन साफ मिलेगी और सन बोने से इस फसल को फायदा पहुँचेगा।

पानी

अगर कंपोस्ट तैयार करने की ज़मीन के पास एक छोटा खड्डा या हौज बनाकर उसमें नहाने-धोने का गंदा पानी इकट्ठा किया जाए और रोज काम में लिया जाए, तो मेहनत बचेगी और फायदा भी होगा। लम्बे समय तक एक जगह पड़ा रहने वाला कोई भी पानी नुकसानदेह होगा। इससे ज़्यादा पानी की ज़रूरत हो तो दूसरी तरह से उसका प्रबंध करना चाहिए। मौसम के मुताबिक एक गाड़ी कंपोस्ट तैयार करने के लिए चार गैलन के ५० से ६० तक पानी से भरे पीपों की ज़रूरत होती है।

प्रक्रिया का ब्यौरा

खड्डों का भरना: ४ फुट लम्बा और फुट ३ चौड़ा एक पाल या टाट के टुकड़े का स्ट्रेचर (जिसके लम्बे किनारे ७ १/२ फुट लम्बे दो बाँसों में फँसे हों) लीजिए। गोठान के फर्श पर, जहाँ ढोर उठते-बैठते और सोते हैं, रोज एक बैल के लिए एक पाल और एक भैंस के लिए डेढ़ पाल के हिसाब से खेत का कचरा फैला दीजिए। इस कचरे पर ढोरों का पेशाब गिरता और जज्ब होता है; साथ ही ढोर उसे कुचल कर मिला देते हैं। बारिश में यह बिछौना सूखे कचरे की दो परतों के बीच में हरे लेकिन कुछ सूखे हुए कचरे की परत डालकर बनाया जाता है। धोल बनाने के बाद जो ताजा गोबर बचे, उसके या तो कंडे बनाए जा सकते हैं या छोडी नारंगी के बराबर हिस्से करके उसे ढोरों के बिछौने पर फैलाया जा सकता है। धोल बनाने के बाद पेशाब वाली मिट्टी का और कुकुरमुत्ता वाली खाद का बचा हुआ हिस्सा दूसरे दिन सुबह ढोरों के बिछौने पर छिड़क दिया जाता है, जब वह सीधे खड्डों में डालने और पतली परतों में फैलाने के लिए फावड़ों और पालों के जरिए सारे फर्श परसे उठाया जाता है। बाद में ऐसी हर परत को थोड़ी-थोड़ी लकड़ी की राख, ताजा गोबर, पेशाब की मिट्टी और कुकुरमुत्ता वाली खाद के धोल से एकसा गीला किया जाता है। ढोरों का सारा बिछौना उठा लेने के बाद फर्श पर बिखरा हुआ बारीक कचरा भी झाड़ लिया जाता है, जो खड्डे की ऊपरी सतह पर बिछाया जाता है। सबसे ऊपर की परत को पानी छिड़क कर गीला किया जाता है और शाम को व दूसरे दिन सुबह और ज़्यादा पानी छिड़क कर उसे पूरी तरह भिगो दिया जाता है। मिलने वाले कचरे की मात्रा के अनुसार एक खड्डा या उसका हिस्सा छह दिन में सिरे तक भर ही दिया जाना चाहिए। इसके बाद दूसरा खड्डा या एक खड्डे का दूसरा हिस्सा इसी तरह भरना शुरू किया जाए। खड्डे को भरते समय कचरे को पाँव से दबाना नुकसानदेह होता है, क्योंकि इससे हवा अंदर नहीं जाने पाती।

बारिश में खड्डे पानी से भर जाते हैं। जब बारिश शुरू हो तो खड्डों का कचरा निकाल कर ज़मीन पर इकट्ठा कर देना चाहिए, जिससे उसे उलट-पुलट करने का लाभ मिल जाए। बारिश के दिनों में ८ फुट x ८ फुट x २ फुट के ढेर ज़मीन पर लगाकर नया कंपोस्ट बनाना चाहिए। ये ढेर खड्डों के बीच की चौड़ी जगहों पर बिलकुल पास पास किए जाने चाहिए, ताकि वे ठंडी हवा से बच सकें।

कंपोस्ट को पलटना और उस पर पानी छिड़कना

सड़ते हुए कंपोस्ट की ऊपरी सतह पर हर हफ्ते पानी का छिड़काव करके नमी कायम रखी जाती है। खड्डे के भीतर बीच-बीच में नमी और हवा पहुँचाते रहना ज़रूरी है, इसलिए खाद को तीन बार पलटना चाहिए। हर पलते के साथ पानी का छिड़काव करना चाहिए, जिससे नमी की कमी पूरी की जा सके। गीले मौसम में पानी के छिड़काव की मात्रा कम कर देनी चाहिए या पानी बिलकुल न छिड़कना चाहिए। लेकिन जब पहली बार खड्डा भरा जाए या ढेर लगाया जाए, तब तो हर मौसम में पानी छिड़कना ही चाहिए।

पहला पलटा – करीब १४ दिन बाद

सारे खड्डे से ऊपर की न सड़ी हुई परत निकाल डालिए और उसे नया खड्डा भरने के काम में लीजिए। फिर खुली हुई सतह पर ३० दिन का पुराना कंपोस्ट फैलाइए और सिरे पर इतना पानी छिड़किए कि लगभग ६ इंच नीचे तक वह अच्छी तरह गीला हो जाए। पहले पलटे के समय खड्डे को लम्बाई के हिसाब से दो हिस्सों में बाँट दिया जाता है और हवा के रुख की तरफ के आधे हिस्से को जैसे का तैसा रहने दिया जाता है। उसे नहीं छेड़ा जाता। दूसरा आधा हिस्सा उस पर डाल दिया जाता है। (इसके लिए लकड़ी का बना घास उठाने का औजार काम देता है)। कचरे की एक परत के बाद दूसरी परत नहीं उठानी चाहिए, बल्कि औजारों को इस तरह काम में लेना चाहिए कि जहाँ तक संभव हो खड्डे के सिरे से पेंदे तक का कचरा साथ में निकल सके। पलटे हुए कचरे की हर परत को, जो करीब ६ इंच मोटी होगी, पानी छिड़क कर अच्छी तरह भिगो देना चाहिए। बारिश में सारा ढेर पलटा जा सकता है, ताकि उसकी ऊँचाई ज़्यादा न बढ़ जाए।

दूसरा पलटा – करीब एक माह बाद

खड्डे के आधे हिस्से का कचरा उसकी खाली बाजू में औजार से पलट दिया जाता है और उस पर काफ़ी पानी छिड़का जाता है। इसमें भी सिरे से पेंदे तक की खाद को मिलाने का ध्यान रखना चाहिए |

तीसरा पलटा – दो माह बाद

इसी तरह कंपोस्ट फावड़े से खड्डों के पास की चौड़ी जगहों पर फैला दिया जाता है और उस पर पानी छिड़का जाता है। दो खड्डों की खाद बीच की खुली जगह पर १० फुट चौड़ा और ३ १/२ फुट ऊँचा ढेर बनाकर अच्छी तरह फैलाई जा सकती है। ढेर की लम्बाई कितनी भी रखी जा सकती है और इस तरह बहुत से ढेर साथ-साथ लगाए जा सकते हैं। अगर सुभीता हो तो खाद को पानी छिड़क कर खड्डों से गाडी में भरकर सीधे खेतों में ले जाया जा सकता है। जिस ज़मीन में खाद का उपयोग करना हो, वहीं उसका ढेर लगाना चाहिए। इससे बुवाई के मौसम में क़ीमती समय बच सकेगा। सब ढेर ऊँचे और चपटे सिर वाले होने चाहिए, ताकि वे बहुत ज़्यादा सूख न जाएँ और उनमें खाद बनने की प्रक्रिया बंद न हो जाए।

अच्छा कंपोस्ट किसी भी समय बदबू नहीं करता और सारा एकसे रंग का होता है। अगर वह बदबू करे या उस पर मक्खियाँ बैठें, तो समझना चाहिए कि उसे ज़्यादा हवा की ज़रूरत है। इसलिए खड्डे की खाद को पलटना चाहिए और उसमें थोड़ी राख और गोबर मिलाना चाहिए।

हर मामले में कचरे, गोबर वगैरा की कितनी मात्रा चाहिए, इसका हिसाब नीचे के आंकड़ों के आधार पर आसानी से लगाया जा सकता है।

चालीस ढोरों के लिए ज़रूरी मात्रा

छह दिन तक रोज खड्डे भरना: गोठान के फर्श पर ढोरों के बिछौने के बिछाए हुए कचरे की और उसे उठाने के बाद झाड़ू से इकट्ठा किए हुए बारीक कचरे की एक दिन में खड्डे में डाली जाने वाली मात्रा — ४० से ५० पाल कचरा, जिस पर ४ तगारी (१८ इंच व्यास वाली और ६ इंच गहरी) कुकुरमुत्ता वाली खाद, १५ तगारी पेशाब वाली मिट्टी और ईंधन वाले रूप में उपयोग न किया जाने वाला फाजिल गोबर फैलाया जाए।

धोल: गोठान के एक दिन के कचरे बगैरा के लिए २० पीपे (चार गैलन के) पानी, ५ तगारी गोबर, १ तगारी राख, १ तगारी पेशाब वाली मिट्टी और २ तगारी कुकुरमुत्ता वाली खाद।

पानी: गोठान के एक दिन के कचरे वगैरा के लिए खड्डा भरते ही ६ पीपे पानी, १० पीपे पानी शाम को और ६ पीपे दूसरे दिन सुबह।

ऊपरी सतह का छिड़काव: हर बार २५ पीपे पानी।

पलटे के वक्त पानी: पहले पलटे के समय मौसम के मुताबिक ६० से १०० पीपे; दूसरे पलटे के समय ४० से ६० पीपे; तीसरे पलटे के समय ४० से ८० पीपे।

कुकुरमुत्ता वाली खाद: पहले पलटे के वक्त १२ तगारी।

कोष्ठक

एक तगारी में भरी हुई चीज़ों की मात्रा (दो पसरों में) और वजन (पौंड में)

चीज़	मात्रा (पसरों में)	वजन (पौंड में)
ताजा गोबर	६ से ७	४०
पेशाब वाली मिट्टी	२० से २१	२२
लकड़ी की राख	१५	२०
कुकुरमुत्ता वाली खाद	५	२०
पहले पलटे के लिए खाद	६	२०

काम का समय-पत्रक

दिन	घटनाएँ
१	भरना शुरू होता है
६	भरना खतम होता है
१०	कुकुरमुत्ता जमता है
१२	पानी का पहला छिड़काव
१५ }	पहला पलटा और एक माह पुराना
१६ }	कंपोस्ट मिलाना

२४	पानी का दूसरा छिड़काव
३०-३२	दूसरा पलटा
३८	पानी का तीसरा छिड़काव
४५	पानी का चौथा छिड़काव
६०	तीसरा पलटा
६७	पानी का पाँचवाँ छिड़काव
७५	पानी का छठ्ठा छिड़काव
९०	काम में लेने के लिए कंपोस्ट तैयार

अगर परिस्थितियाँ पूरी तरह इन्दौर-पद्धति से कंपोस्ट बनाने में बाधक हों, तो नीचे लिखे ढँग से कुछ अंश में उसके लाभ उठाए जा सकते हैं।

कई तरह का मिला हुआ कचरा ढोरों के बिछौने के लिए उपयोग किया जाए और दूसरे दिन सुबह हटाने के पहले उस पर ऊपर बताए मुताबिक ज़रूरी मात्रा में गोबर, पेशाब वाली मिट्टी और राख डाली जाए। यह सब कचरा बाद में उस खेत की मेढ़ पर ले जाया जाता है, जिसमें उसका उपयोग करना होता है; या दूसरी किसी सूखी जगह पर ले जाया जाता है और ८ इंच चौड़े और ३ इंच ऊँचे ढेरों में जमा किया जाता है। ढेरों की लम्बाई सुविधा के अनुसार कितनी भी रखी जा सकती है। बारिश शुरू होने के करीब महिने-भर बाद ही उन पर कुकुरमुत्ता जम जाएगा। इसके बाद कोई ऐसा दिन चुनकर, जब आकाश में बादल धिरे हों या थोड़ी बारिश हो रही हो, उसे पूरी तरह पलट दिया जाता है। एक महीने के बाद एक या दो बार फिर उसे पल्रट देने से मौसम खतम होते होते वह सड़ जाएगा, बशर्ते कि समय समय पर अच्छी बारिश होती रहे।

अलबत्ता, खाद तैयार होने के पहले एक बरस तक ठहरना ज़रूरी होगा। अगर बारिश बहुत कम हो, तो शायद ज़्यादा भी ठहरना पड़े।

इस तरह बनी हुई खाद इन्दौर-पद्धति से तैयार की हुई खाद से तो घटिया होती है, लेकिन खलिहानों में तैयार की जाने वाली मामूली खाद से हर हालत में ज़्यादा अच्छी होती है। क्योंकि इस पद्धति से भी

कड़ी और सख्त चीज़ें आसानी से सड़ाई जा सकती हैं और गाँव की मौजूदा पद्धति से तैयार होने वाली खाद से कहीं ज़्यादा मात्रा में खाद बनती है। [हरिजन, २४-८-१९३५, पृ. २१८-१९, २२४]

गाँव की फसलें

हरएक गाँव का पहला काम यह होगा कि वह अपनी ज़रूरत का तमाम अनाज और कपड़े के लिए कपास स्वयं पैदा कर ले। उसके पास इतनी ज़मीन सुरक्षित होनी चाहिए, जिसमें ढोर चर सकें और गाँव के बड़ों तथा बच्चों के लिए मनबहलाव के साधन और खेलकूद के मैदान वगैरा की व्यवस्था हो सके। इसके बाद भी ज़मीन बची तो उसमें वह ऐसी उपयोगी फसलें बोएगा, जिन्हें बेचकर वह आर्थिक लाभ उठा सकें; यों वह गाँजा, तम्बाकू, अफीम वगैरा की खेती से बचेगा। [हरिजनसेवक, २-८-१९४२, पृ. २४३]

१८. खेती और पशुपालन – ५

खुराक की कमी की समस्या

खुराक की कमी

कुदरती या मनुष्य के पैदा किए हुए अकाल में हिन्दुस्तान के करोड़ों नहीं, तो लाखों आदमी भूख से मरे हैं। इसलिए यह हालत हिन्दुस्तान के लिए नई नहीं है। मेरी राय में एक व्यवस्थित समाज में अनाज और पानी की कमी के सवाल को सफलता से हल करने के लिए पहले से सोचे हुए उपाय हमेशा तैयार रहने चाहिए। एक व्यवस्थित समाज कैसा हो और उसे इस सवाल को कैसे सुलझाना चाहिए, इन बातों पर विचार करने का यह समय नहीं है। इस समय तो हमें सिर्फ यही विचार करना है कि अनाज की आज की भयंकर तंगी को हम किस तरह सफलतापूर्वक दूर कर सकते हैं।

मेरा खयाल है कि हम लोग यह काम कर सकते हैं। पहला पाठ जो हमें सीखना है, वह है स्वावलम्बन और अपने-आप पर भरोसा रखने का। अगर हम यह पाठ पूरी तरह सीख लें, तो विदेशों पर निर्भर रहने और इस तरह अपना दिवालियापन जाहिर करने से हम बच सकते हैं। यह बात घमंड से नहीं बल्कि वस्तुस्थिति को ध्यान में रखकर कही गई है | हमारा देश छोटा-सा नहीं है, जो अपने अनाज के लिए बाहरी मदद पर निर्भर रहे। यह तो एक छोटा-मोटा महाद्वीप है, जिसकी आबादी चालीस करोड़ के लगभग है। हमारे देश में बड़ी-बड़ी नदियाँ, कई तरह की उपजाऊ ज़मीन और कभी न चुकने वाला पशुधन है। हमारे पशु अगर हमारी ज़रूरत से बहुत कम दूध देते हैं, तो इसमें पूरी तरह हमारा ही दोष है। हमारे पशु इस योग्य हैं कि वे कभी भी हमें अपनी ज़रूरत का दूध दे सकते हैं। पिछली कुछ सदियों में अगर हमारे देश की उपेक्षा न की गई होती, तो आज उसका अनाज सिर्फ उसीके लिए काफ़ी नहीं होता, बल्कि पिछले महायुद्ध की वजह से अनाज की तंगी भोग रही दुनिया को भी उसकी ज़रूरत का बहुत-कुछ अनाज हिन्दुस्तान से मिल जाता। आज दुनिया के जिन देशों में अनाज की तंगी है, उनमें हिन्दुस्तान भी शामिल है। आज तो यह मुसीबत घटने के बजाय बढ़ती हुई जान पड़ती है। मेरा यह सुझाव नहीं है कि जो दूसरे देश राजी-खुशी से हमें अपना अनाज देना चाहते हैं, उनका आभार न मानते हुए हम उसे लौटा दें। मैं सिर्फ इतना ही कहना चाहता हूँ कि हम भीख न माँगते फिरें। उससे हम नीचे

गिरते हैं। इसमें देश के भीतर एक जगह से दूसरी जगह अनाज भेजने की कठिनाइयाँ और शामिल कर दीजिए। हमारे यहां अनाज और खान-पान की दूसरी चीज़ों को एक जगह से दूसरी जगह शीघ्रता से भेजने की सुविधाएँ नहीं हैं। इसके साथ ही यह असंभव नहीं है कि अनाज की फेरबदली के समय उसमें इतनी मिलावट कर दी जाए कि वह खाने लायक ही न रहे। हम इस बात से आँखें नहीं मूँद सकते कि हमें मनुष्य के भले-बुरे सब तरह के स्वभाव से निपटना है। दुनिया के किसी भी हिस्से में ऐसा मनुष्य नहीं मिलेगा, जिसमें कुछ-न-कुछ कमजोरी न हो।

दूसरे हम यह भी देखें कि हमें दूसरे देशों से कितनी मदद मिल सकती है। मुझे मालूम हुआ है कि हमारी आज की ज़रूरतों के तीन प्रतिशत से अधिक मदद हम नहीं पा सकते। अगर यह बात सही है, और मैंने कई विशेषज्ञों से इसकी जाँच कराई है और उन्होंने इसे सही माना है, तो मैं पूरी तरह यह मानता हूँ कि बाहरी मदद पर भरोसा करना बेकार है। यह ज़रूरी है कि हमारे देश में खेती के लायक जो ज़मीन है, उसके एक एक इंच हिस्से में हम ज़्यादा पैसे दिलाने वाली फसला के बजाय प्रतिदिन काम में आने वाला अनाज पैदा करें। अगर हम बाहरी मदद पर जरा भी निर्भर रहे, तो हो सकता है कि अपने देश के भीतर ही अपनी ज़रूरत का अनाज पैदा करने की जो जबरदस्त कोशिश हमें करनी चाहिए उससे हम बहक जाएँ। जो पड़ती ज़मीन खेती के काम में लाई जा सकती हैं, उसे हम ज़रूर इस काम में लें।

मुझे भय है कि खाने-पीने की चीज़ों को एक जगह जमा करके वहाँ से सारे देश में उन्हें पहुँचाने का तरीका हानिकारक है। विकेन्द्रीकरण के जरिये हम आसानी से कालेबाजार का खातमा कर सकते हैं और चीज़ों को यहाँ से वहाँ लाने-ले जाने में लगने वाले समय और पैसे की बचत कर सकते हैं। हिन्दुस्तान के अनाज पैदा करने वाले ग्रामवासी अपनी फसल को चूहों वगैरा से बचाने की तरकीबें जानते हैं। अनाज को एक स्टेशन से दूसरे स्टेशन तक लाने-ले जाने में चूहों वगैरा को उसे खाने का काफ़ी मौका मिलता है। इससे देश के करोड़ों रुपयों का नुकसान होता है और हज हम एक-एक छटांक अनाज के लिए तरसते हैं, तब देश का हजारों मन अनाज इस तरह बरबाद हो जाता है। अगर हरएक हिन्दुस्तानी जहाँ संभव हो वहाँ अनाज पैदा करने की ज़रूरत को महसूस करे, तो शायद हम भूल जाएँ कि देश में कभी अनाज की तंगी थी। ज़्यादा अनाज पैदा करने का विषय ऐसा है, जिसमें सबके लिए आकर्षण है। इस विषय पर मैं पूरे विस्तार के साथ तो नहीं बोल सका, पर मुझे आशा है कि मेरे इतना

कहने से आप लोगों के मन में इसके प्रति रुचि पैदा हुई होगी और समझदार लोगों का ध्यान इस बात की तरफ मुड़ा होगा कि हरएक व्यक्ति इस तारीफ के लायक काम में मदद कर सकता है।

अब मैं आपको यह बता दूँ कि बाहर से हमको मिलने वाले तीन प्रतिशत अनाज को लेने से इनकार करने के बाद हम किस तरह इस कमी को पूरा कर सकते हैं। हिन्दू लोग महीने में दो बार एकादशी का व्रत रखते हैं। इस दिन वे आधा या पूरा उपवास करते हैं। मुसलमान और दूसरी कौमों के लोगों को भी उपवास की मनाही नहीं है – खास करके जब करोड़ों भूखों मरते लोगों के लिए एक-आध दिन का उपवास करना पड़े। अगर सारा देश इस तरह के उपवास के महत्त्व को समझ ले, तो विदेशी अनाज लेने से हमारे इनकार करने के कारण जो कमी होगी, उससे भी ज़्यादा कमी को वह पूरी कर सकता है।

मेरी अपनी राय में तो अगर अनाज के रेशनिंग का कोई उपयोग है भी तो वह बहुत कम है। अगर अनाज पैदा करने वालों को उनकी मर्जी पर छोड़ दिया जाए, तो वे अपना अनाज बाजार में लाएँगे और हरएक को अच्छा और खाने लायक अनाज मिलेगा, जो आज आसानी से नहीं मिलता।

अनाज की तंगी के बारे में अपनी बात खतम करने से पहले मैं आप लोगों का ध्यान प्रेसिडेन्ट ट्रूमेन द्वारा अमेरिकन जनता को दी गई उस सलाह की तरफ खीचूँगा, जिसमें उन्होंने कहा है कि अमेरिकन लोगों को कम रोटी खाकर यूरोप के भूखों मरते लोगों के लिए अनाज बचाना चाहिए। उन्होंने आगे कहा है कि अगर अमेरिका के लोग स्वेच्छा से इस तरह का उपवास करेंगे, तो उनकी तंदुरुस्ती में कोई कमी नहीं आएगी। प्रेसिडेन्ट ट्रूमेन को उनकी इस परोपकारी वृत्ति पर मैं बधाई देता हूँ। मैं इस सुझाव को मानने के लिए तैयार नहीं हूँ कि इस परोपकार के पीछे अमेरिका का आर्थिक लाभ उठाने का गंदा इरादा छिपा हुआ है। किसी मनुष्य का न्याय उसके कामों पर से होना चाहिए, उनके पीछे रहनेवाले इरादे से नहीं। एक भगवान के सिवा और कोई नहीं जानता कि किसी मनुष्य के दिल में क्या है। अगर अमेरिका भूखे यूरोप को अनाज देने के लिए उपवास करेगा या कम खाएगा, तो क्या हम अपने खुद के लिए यह काम नहीं कर सकेंगे? अगर बहुत से लोगों का भूख से मरना निश्चित है, तो हमें स्वावलम्बन के तरीके से उनको बचाने की पूरे पूरी कोशिश करने का यश तो कमसे कम ले ही लेना चाहिए। इससे हमारा राष्ट्र ऊँचा उठता। [हरिजनसेवक, १९-१०-१९४७, पृ. ३१६-१७]

खुराक की कमी के दिनों में

कहावत है कि जो मनुष्य जितना बचाता है वह उतना ही कमाता या पैदा करता है। इसलिए जिनमें गरीबों के लिए दया है, जो उनके साथ ऐक्य साधना चाहते हैं, उन्हें अपनी आवश्यकताएँ कम करनी चाहिए। यह हम कई तरीकों से कर सकते हैं। मैं उनमें से कुछ का ही यहाँ जिक्र करूँगा।

धनिक वर्ग में प्रमाण या आवश्यकता से कहीं ज़्यादा खाना खाया जाता है और बिगाड़ किया जाता है। एक समय में एक ही अनाज का उपयोग करना चाहिए। चपाती दाल-भात, दूध-घी, गुड़ और तेल ये खाद्यपदार्थ शाक-तरकारी और फलों के उपरांत आम तौर पर हमारे घरों में इस्तेमाल किए जाते हैं। आरोग्य की दृष्टि से यह मेल ठीक नहीं है। जिन लोगों को दूध, पनीर, अंडे या मांस के रूप में स्नायुवर्धक तत्त्व मिल जाते हैं, उन्हें दाल की बिलकुल ज़रूरत नहीं रहती। गरीब लोगों को तो सिर्फ वनस्पति द्वारा ही स्नायुवर्धक तत्त्व मिल सकते हैं। अगर धनिक वर्ग दाल और तेल खाना छोड़ दे, तो गरीबों को जीवन-निर्वाह के लिए ये आवश्यक पदार्थ मिलने लगें। इन बेचारों को न तो प्राणियों के शरीर से पैदा हुए स्नायुवर्धक तत्त्व मिलते हैं और न चर्बी ही। अन्न को दलिया की तरह मुलायम बनाकर कभी नहीं खाना चाहिए। अगर उसको किसी रसीली या तरल चीज़ में डुबोये बगैर सूखा ही खाया जाए, तो आधी मात्रा से ही आदमी का काम चल जाता है। अन्न को कच्ची सलाद, जैसे कि प्याज, गाजर, मूली, लेटिस, हरी पत्तियों और टमाटर के साथ खाया जाए तो लाभ होता है। कच्ची हरी सब्जियों की सलाद के एक-दो औंस भी ८ औंस पकाई हुई सब्जियों के बराबर होते हैं। चपाती या डबल-रोटी दूध के साथ नहीं लेनी चाहिए। शुरू में एक वक्त चपाती या डबल-रोटी और कच्ची सब्जियाँ और दूसरे वक्त पकाई हुई सब्जी दूध या दहीं के साथ ले सकते हैं। मिष्टान्न का भोजन बिलकुल बंद कर देना चाहिए। इनकी जगह गुड़ या थोड़ी मात्रा में शक्कर अकेले अथवा दूध या डबल-रोटी के साथ ले सकते हैं। ।

ताजे फल खाना अच्छा है, परन्तु शरीर के पोषण के लिए थोड़ा फल-सेवन भी पर्याप्त होता है। यह महंगी वस्तु है और धनिक लोगों के आवश्यकता से अत्यंत अधिक फल-सेवन के कारण गरीबों और बीमारों को, जिन्हें धनिकों की अपेक्षा अधिक फलों की ज़रूरत हैं, फल मिलना दुश्वार हो गया है।

कोई भी वैद्य या डोक्टर, जिसने भोजन के शास्त्र का अध्ययन किया है, प्रमाण के साथ कह सकेगा कि मैंने जो कुछ ऊपर बताया है, उससे शरीर को किसी प्रकार का नुकसान नहीं हो सकता। उलटे, तंदुरुस्ती अधिक अच्छी हो सकती है।

स्पष्ट ही भोजन-सामग्री की किफायत का सिर्फ यही एक उपाय नहीं है। इसके सिवा और भी कई उपाय हैं। परन्तु केवल इसी एक उपाय से कोई उल्लेख योग्य लाभ नहीं हो सकता।

अनाज के व्यापारियों को लालच और जितना मुनाफा मिल सके उतना मुनाफा कमाने की वृत्ति को त्यागना चाहिए। उन्हें यथासंभव थोडे से थोड़े मुनाफे में ही संतुष्ट रहना चाहिए। यदि वे गरीबों के लिए अनाज का भंडार न रखेंगे, तो उन्हें लूटपाट का डर रहेगा। उन्हें चाहिए कि वे अपने पड़ोस के आदमियों से संपर्क बनाए रखें। काँग्रेसियों को चाहिए कि वे इन अनाज के व्यापारियों के यहाँ जाएँ और यह संदेश उन्हें दें।

सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य तो यह है कि गाँवों के लोगों को यह शिक्षा दी जाए कि जो कुछ उनके पास है उसे बचाकर रखें और जहाँ-जहाँ पानी की सुविधा है वहाँ-वहाँ नई फसल बोने और तैयार करने के लिए उन्हें प्रेरित किया जाए। इसके लिए प्रचार की आवश्यकता है, जो बड़े पैमाने पर और बुद्धिमत्तापूर्ण हो। यह बात आम तौर पर लोगों को नहीं मालूम है कि केला, आलू, चुकन्दर, शकरकन्द, सूरन और कुछ हद तक लौकी खाने के लिए सरलता से बोई जाने वाली फसलें हैं और ज़रूरत के समय ये पदार्थ रोटी का स्थान ले सकते हैं।

आजकल पैसे की भी बहुत कमी है। अनाज शायद मिल भी जाए, परन्तु अनाज खरीदने को लोगों के पास पैसा नहीं है। बेकारी के कारण ही पैसे का अभाव है। बेकारी हमें मिटानी है। सूत कातना ही इसका सबसे सरल और सहज उपाय है। स्थानीय ज़रूरतें श्रम के दूसरे जरिए भी पैदा कर सकती हैं। बेकारी न रहने पाए, इसके लिए हरएक प्रकार का साधन ढूँढ़ना होगा। सिर्फ वे ही लोग भूखों मरेंगे जो आलसी हैं। धीरज के साथ काम करने से ऐसे लोग भी अपना आलस्य छोड़ देंगे। [हरिजनसेवक, २५-१-१९४२, पृ. ९]

यह मानकर चलना चाहिए कि हमको अनाज के संकट का सामना करना पड़ेगा | ऐसी हालत में हमको नीचे लिखी बातें तो तुरंत शुरू कर देनी चाहिए :

१. हरएक आदमी को अपने खाने-पीने की ज़रूरत कम-से-कम कर लेनी चाहिए; वह इतनी होनी चाहिए कि उसकी तंदुरुस्ती बनी रहे। शहरों में जहाँ दूध, साग-सब्जी, तेल और फल मिल सकते हैं वहाँ अनाज और दालों का उपयोग घटा देना चाहिए। ऐसा आसानी से किया जा सकता है। अनाजों में पाया जाने वाला स्टार्च गाजर, चुकन्दर, आलू, अरबी, रतालू, जमींकन्द, केला वगैरा चीज़ों से मिल सकता है | इसमें ख़याल यह है कि उन अनाजों और दालों को, जिन्हें संग्रह करके खा जा सके, आज की खुराक में शामिल न किया जाए और उन्हें बचाकर रखा जाए | साग-सब्जी भी स्वाद के लिए न खानी चाहिए, खासकर ऐसी हालत में जब कि लाखों आदमियों को वह बिलकुल ही नसीब नहीं होती और अनाज तथा दालों की कमी की वजह से उनके भूखों मरने का खतरा पैदा हो गया है।

२. हरएक आदमी, जिसे पानी की सुविधा मिल सकती हो, अपने लिए या आम लोगों के लिए कुछ-न-कुछ खाने की चीज़ पैदा करे। इसका सबसे आसान तरीका यह है कि थोड़ी साफ मिट्टी इकट्ठी कर ली जाए, जहाँ मुमकिन हो वहाँ उसके साथ थोड़ी सजीव खाद मित्रा ली जाय – थोड़ा सूखा गोबर भी सजीव खाद का अच्छा काम देता है – और उसे मिट्टी के या टीन के गमले में डाल दिया जाए। फिर उसमें साग-भाजी के कुछ बीज, जैसे राई, सरसों, धनिया, मेथी, पालक, बथुआ वगैरा बो दिए जाए और उन्हें रोज पानी जाए। लोगों को यह देखकर ताज्जुब होगा कि कितनी जल्दी बीज उगते हैं और खाने लायक पत्तियाँ देने लगते हैं, जिनको बिना पकाए कच्चा ही सलाद या चटनी की तरह खाया जा सकता है।

३. फूलों के तमाम बगीचों में खाने की चीज़ें उगाई जानी चाहिए | इस बारे में मैं यह सुझाना चाहूँगा कि वाइसरोय, गवर्नर और दूसरे ऊँचे अफसर इसका उदाहरण प्रस्तुत करें। मैं केन्द्रीय और प्रांतीय सरकारों के कृषि-विभाग के अध्यक्षों से कहूँगा कि वे प्रांतीय भाषाओं में अनगिनत पत्रिकाएँ छपवाकर बाँटें और साधारण आदमियों को समझाएँ कि कौन-कौनसी चीज़ें आसानी से पैदा की जा सकती हैं।

४. सिर्फ आम लोग ही अपनी खुराक न घटावें, बल्कि फौज वालों को भी चाहिए कि वे ज़्यादा नहीं तो आम लोगों के बराबर तो भी अपनी खुराक में कमी करें। सेना के आदमी सैनिक अनुशासन में होने के कारण आसानी से किफायत कर सकते हैं, इसलिए मैंने सेना से ज़्यादा कमी करने की बात कही हैं।

५. तिलहन की और तेल तथा खली की निकासी अगर बंद न की गई हो, तो फौरन बंद कर दी जानी चाहिए। यदि तिलहन में से मिट्टी और कचरा वगैरा अलग कर दिया जाए, तो खली मनुष्य के लिए अच्छी खुराक बन सकती है। उसमें काफ़ी पोषक तत्त्व होते हैं।

६. जहाँ संभव और ज़रूरी हो, सिंचाई के लिए और पीने के पानी के लिए सरकार को गहरे कुएँ खुदवाने चाहिए।

७. अगर सरकारी नौकरों और आम जनता की तरफ से सच्चा सहयोग मिले, तो इसमें जरा भी शंका नहीं कि देश इस संकट से पार हो जाएगा। जिस तरह घबरा जाने पर हार निश्चित हो जाती है, उसी तरह जहाँ व्यापक संकट आने वाला हो वहाँ तुरंत कार्रवाई न की जाए, तो धोखा हुए बिना नहीं रहता। हम इस मुसीबत के कारणों पर विचार न करें। कारण कुछ भी हों, सचाई यह है कि अगर सरकार और जनता ने संकट का धीरज और हिम्मत से सामना नहीं किया तो बरबादी निश्चित है। इस एक मोर्चे को छोड़कर और सब मोर्चो पर हम सरकार से लड़ेंगे और अगर सरकार हृदयहीनता से काम क्लेगी या उचित लोकमत को ठुकरायेगी, तो इस मोर्चे पर भी हमको उससे लड़ना होगा। इस बारे में मैं जनता को मेरी इस राय से सहमत होने के लिए कहूँगा कि हम सरकार की बात को वह कहती है उसी तरह मान लें और समझ लें कि स्वराज्य कुछ ही महीनों में मिल जाने वाला है।

८. सबसे ज़रूरी चीज़ यह है कि चोरबाजारों का और बेईमानी व मुनाफाखोरी का तो बिलकुल खातमा ही हो जाना चाहिए; और जहाँ तक आज के इस संकट का सवाल है, सब दलों के बीच सहयोग होना चाहिए। [हरिजनसेवक, २४-२-१९४६, पृ. २२-२३]

अनाज की तंगी और अधिक जनसंख्या

यदि वह कहा जाए कि जनसंख्या की अतिवृद्धि के कारण कृत्रिम साधनों द्वारा संतति-नियमन की राष्ट्र के लिए आवश्यकता है, तो मुझे इस बात में पूरी शंका है। यह बात अब तक साबित ही नहीं की गई है। मेरी राय में तो यदि ज़मीन-संबंधी कानूनों में समुचित सुधार कर दिया जाए, खेती की दशा सुधारी जाय और एक सहायक धंधे की तजवीज कर दी जाए, तो हमारा यह देश अपनी जनसंख्या से दूने लोगों का भरण-पोषण कर सकता है। [यंग इंडिया, २-४-१९२५, पृ. ११८]

हमारा यह छोटासा पृथ्वी-मंडल कल का खिलौना नहीं है। अनगिनत युगों से यह ऐसा ही चला आ रहा है। जनसंख्या की वृद्धि के भार से उसने कभी कष्ट का अनुभव नहीं किया। तब कुछ लोगों के मनमें एकाएक इस सत्य का कहाँ से उदय हो गया कि यदि संतति-नियमन के कृत्रिम साधनों से जनसंख्या की वृद्धि को रोका न गया, तो अन्न न मिलने से इस पृथ्वी-मंडल का नाश हो जाएगा? [हरिजनसेवक, २०-९-१९३५, पृ. २४९]

१९. खादी और कताई

खादी देश में सबकी आर्थिक स्वतंत्रता और समानता के प्रारंभ का चिह्न है। खादी को उसके सारे फलितार्थों सहित स्वीकार करना चाहिए। उसका अर्थ है संपूर्ण विदेशी मनोवृत्ति रखना और जीवन की सारी आवश्यक वस्तुएँ भारत में ही और वह भी ग्रामवासियों की मेहनत और बुद्धि से प्राप्त करना | गाँव अधिकतर बातों में आत्म-निर्भर होंगे और भारत के शहरों और बाहरी दुनिया तक की स्वेच्छापूर्वक सेवा करेंगे, जब तक कि उससे दोनों पक्षों को लाभ होता रहेगा।

इसके लिए बहुत से लोगों की मनोवृत्ति और रुचियों में क्रांतिकारी परिवर्तन की आवश्यकता है | यद्यपि कई बातों में अहिंसक मार्ग सरल हैं, परन्तु बहुत सी बातों में वह बड़ा कठिन भी है। वह प्रत्येक भारतीय के जीवन के मर्म को स्पर्श करता है, उसे अपने भीतर की सुप्त शक्तियों का भान कराता है और उसे इस बात का गर्व अनुभव कराता है कि उसका भारतीय जनता के महासागर की प्रत्येक बूंद के साथ तादात्म्य है।

मेरे लिए खादी भारतीय मानव-समाज की एकता, उसकी आर्थिक स्वतंत्रता और समानता का प्रतीक है और इसलिए अंत में वह जवाहरलाल नेहरू के काव्यमय शब्दों में 'हिन्दुस्तान की आज़ादी का गणवेश' है।

इसके सिवा, खादी-मनोवृत्ति का अर्थ है जीवन के आवश्यक पदार्थों के उत्पादन और वितरण का विकेन्द्रीकरण। इसलिए अब तक जो सिद्धांत बन पाया है वह यह है कि प्रत्येक गाँव अपनी ज़रूरत की तमाम चीज़ें स्वयं पैदा कर ले और शहरों की आवश्यकताओं के लिए कुछ उत्पत्ति और भी कर ले।

खादी के फलितार्थ समझा चुकने के बाद अब मुझे यह बताना चाहिए कि खादी के प्रचार के लिए काँग्रेसजन क्या कर सकते हैं और उन्हें क्या करना चाहिए। खादी के उत्पादन में कपास उपजाना, उसे चुनना, लोढ़ना, साफ करना और घुनना, पूनियाँ बनाना, सूत कातना, माँड लगाना, रंगना, ताना-बाना तैयार करना, कपड़ा बुनना और कपड़ा धोना जैसी सब क्रियाएँ शामिल है। रंगाई के सिवा ये सब आवश्यक प्रक्रियाएँ हैं। ये सब गाँवों में सफलतापूर्वक की जा सकती है और भारत के जिन गाँवों में चरखा-संघ काम कर रहा है वहाँ आज की जा रही हैं।

अगर काँग्रेसजन खादी-संबंधी काँग्रेस की पुकार के प्रति सच्चे हों, तो वे चरखा-संध की समय समय पर जारी की हुई उन सूचनाओं पर अमल करेंगे, जिनमें बताया जाता है कि खादी-योजना में वे क्या भाग अदा कर सकते हैं। यहाँ तो थोड़े से व्यापक नियम ही दिए जा सकते हैं :

१. जिस किसी परिवार के पास ज़मीन का टुकड़ा हो, वह कमसे कम घर के उपयोग के लिए कपास उगा सकता है। कपास उगाने की प्रक्रिया आसान है। बिहार में किसानों को अपनी ३/२० खेती के योग्य ज़मीन में नील उगाने के लिए कानूनन् मजबूर किया जाता था। यह विदेशी निलहों के हित में होता था। तो फिर हम राष्ट्र के लिए स्वेच्छापूर्वक अपनी ज़मीन के एब निश्चित भाग में कपास क्यों नहीं उगा सकते? पाठक देखेंगे कि विकेन्द्रीकरण की पद्धति खादी की प्रक्रियाओं के प्रारंभ से ही शुरू होती है | आजकल कपास की फसल केन्द्रित रूप में उत्पन्न की जाती है और भारत के दूर दूर के भागों में भेजी जाती है। लड़ाई से पहले वह मुख्यतः ब्रिटेन और जापान भेजी जाती थी। वह पहले भी रुपया पैदा करने वाली फसल थी और आज भी है, इसलिए उसके भावों में उतार-चढ़ाव होते रहते हैं। खादी-योजना के अनुसार कपास का उत्पादन इस अनिश्चितता और सट्टेबाजी से मुक्त हो जाता है। उगाने वाला उतनी ही कपास उगाता है जितनी की उसे ज़रूरत है। किसान को यह जानने की ज़रूरत है कि उसका पहला काम अपनी ही आवश्यकता के लिए कपास उगाना है। जब वह ऐसा करेगा तो बाजार की मंदी से उसके बरबाद होने की संभावना कम हो जाएगी।

२. प्रत्येक कातने वाला लोढ़ने के लिए काफ़ी कपास खरीद लेगा, अगर उसके पास अपनी कपास नहीं है। लोढ़ने का काम वह चरखी के बिना भी आसानी से कर सकता है। वह अपने हिस्से की कपास सलाई और पटरी से लोढ़ सकता है। जहाँ यह अव्यावहारिक समझा जाए, वहाँ हाथ की ओटी हुई कपास खरीद कर उसे धुन लेना चाहिए। अपने उपयोग के लिए धुनाई एक छोटीसी पींजन से बहुत परिश्रम किए बिना अच्छी तरह की जा सकती है। श्रम जितना विकेन्द्रित होगा, औजार उतने ही सस्ते और सादे होंगे। पूनियाँ बनते ही कताई की प्रक्रिया शुरू हो जाती है।

जरा कल्पना तो कीजिए कि सारा राष्ट्र कताई तक की प्रक्रियाओं में एकसाथ भाग ले, तो एकता और शिक्षा की दृष्टि से उसका कितना असर होगा ! साथ साथ श्रम करने से गरीब-अमीर को बराबर करने वाला जो परिणाम होगा उस पर भी विचार कीजिए !

अगर काँग्रेसजन दिल से इस काम में जुट जाएँ, तो वे कताई आदि के औजारों में सुधार कर लेंगे और अनेक नए आविष्कार करेंगे। हमारे देश में श्रम और बुद्धि में संबंध-विच्छेद रहा है। नतीजा यह हुआ कि हम जहाँ के तहाँ रह गए। हमारा विकास रुक गया। अगर दोनों में अविच्छेद्य संबंध हो और वह भी यहाँ सुझाए गए तरीके पर हो, तो उसके परिणामस्वरूप होने वाले लाभ का अंदाज नहीं लगाया जा सकता।

यज्ञ के रूप में राष्ट्रव्यापी कताई की इस योजना में मैं यह आशा नहीं रखता कि औसत स्त्री या पुरुष इस काम के लिए एक घंटा रोज से ज़्यादा समय दे। [कन्स्ट्रक्टिव प्रोग्राम, १९६१, पृ. १२-१४]

चरखे का संदेश उसकी परिधि से कहीं ज़्यादा व्यापक है। उसका संदेश सादगी, मानव-सेवा, अहिंसामय जीवन तथा गरीब और अमीर, पूंजी और श्रम, राजा और किसान के बीच अविच्छेद्य संबंध स्थापित करने का संदेश है। [यंग इंडिया, १७-९-१९२५, पृ. ३२१]

'सर्वोदय' शब्द के जो फलितार्थ निकलते हैं, उनको मैं पूरी तरह स्वीकार करता हूँ। हमें छोटे से छोटे मनुष्य के साथ वैसा ही बरताव करना चाहिए जैसा हम चाहते हैं कि दुनिया हमारे साथ करे। सबको उन्नति तथा विकास का समान अवसर मिलना चाहिए। अवसर मिलने पर सभी मनुष्य आध्यात्मिक विकास कर सकते हैं। चरखा इसी महान सत्य का प्रतीक है। [हरिजन, १७-११-१९४६, पृ. ४०४]

मेरे विचार से यज्ञ के रूप में कताई ही सबसे उपर्युक्त और अपनाने लायक शरीर-श्रम हो सकता है। मैं इससे अधिक पवित्र या राष्ट्रीय अन्य किसी वस्तु की कल्पना नहीं कर सकता कि हम सब घंटेभर रोज वही परिश्रम करें जो गरीबों को करना पड़ता है और इस प्रकार हम उनके साथ और उनके द्वारा सारी मानव-जाति के साथ एक हो जाएँ। मैं इससे अच्छी ईश्वर-पूजा की कल्पना नहीं कर सकता कि उसके नाम पर गरीबों के लिए मैं भी उसी तरह श्रम करूँ जैसे गरीब स्वयं करते हैं। चरखे द्वारा दुनिया की दौलत का अधिक न्यायपूर्ण बँटवारा होता है। [यंग इंडिया, २०-१०-१९२१, पृ. ३२९]

मेरा पक्का विश्वास है कि हाथ-कताई और हाथ-बुनाई के पुनरुज्जीवन से भारत के आर्थिक और नैतिक पुनरुद्धार में सबसे बड़ी मदद मिलेगी। करोड़ों आदमियों को अपनी खेती की आय में वृद्धि करने के लिए कोई सादा उद्योग चाहिए। बरसों पहले वह गृह-उद्योग कताई का था; और करोड़ों को भूखों मरने से बचाना हो तो उन्हें इस योग्य बनाना पड़ेगा कि वे अपने घरों में फिर से कताई जारी कर सकें और हर गाँव को अपना ही बुनकर फिरसे मिल जाए। [यंग इंडिया, २१-७-१९२०, पृ. ४]

अगर हम भारतीय नर-कंकालों का चित्र अपने ध्यान में रखें, तो हमें अपने उन ८० प्रतिशत लोगों का ख़याल करना होगा, जो अपने ही खेतों में काम करते हैं, जिनके पास साल में कमसे कम चार महीने लगभग कोई धंधा नहीं होता और जो इसीलिए भुखमरी के किनारे पर रहते हैं। यह साधारण स्थिति है। आए दिन के अकालों से इस अनिवार्य बेकारी में और भी वृद्धि होती रहती है। ये नर-नारी अपने ही घरों में आसानी से ऐसा कौनसा काम कर सकते हैं, जिससे उनकी अत्यंत अल्प आय में थोड़ी वृद्धि हो? क्या अब भी किसी को संदेह है कि वह काम केवल हाथ-कताई है, कोई दूसरा नहीं? [यंग इंडिया, ३-११-१९२१, पृ. ३५०]

जैसे घर पर भोजन बनाना महँगा नहीं पड़ता और उसका स्थान होटल का खाना नहीं ले सकता, वैसे ही घर पर सूत कात लेना और कपड़ा बुन लेना भी महँगा नहीं पड़ सकता। हमारी आबादी के २५ करोड़ से अधिक लोग अपने ही हाथों से कातेंगे और इस तरह तैयार हुए सूत का आसपास के स्थानों में कपड़ा बुनवा लेंगे। यह आबादी ज़मीन के साथ बँधी हुई है और उसे साल भर में कमसे कम चार माह बेकार रहना पड़ता है।

अगर ये लोग इस समय में सूत कातें और उस सूत का कपड़ा बुनवा कर पहनें, तो उनकी खादी के साथ मिल का कोई कपड़ा स्पर्धा नहीं कर सकता। इस तरह तैयार किया हुआ कपड़ा उनके लिए सस्तेसे सस्ता होगा। [यंग इंडिया, ८-१२-१९२१, पृ. ४०५]

कताई के पक्ष में जो दावे किए जाते हैं वे ये है :

१. जिन लोगों को फुरसत है और जिन्हें थोड़े से पैसों की ज़रूरत है, उन्हें कताई के द्वारा आसानी से धंधा मिल जाता है ।

२. इसका हजारों को ज्ञान है;

3. यह आसानी से सीखी जा सकती है;

४. इसमें लगभग कुछ भी पूंजी लगाने की ज़रूरत नहीं होती;

५. चरखा आसानी से और सस्ते दामों में तैयार किया जा सकता है। हममें से अधिकांश को अभी तक यह मालूम नहीं है कि कताई एक ठीकरी और बाँस की खपचीसे यानी तकली पर भी की जा सकती है;

६. लोगों को इससे अरुचि नहीं है;

७. इससे अकाल के समय तात्कालिक राहत मिल जाती है;

८. विदेशी कपड़ा खरीदने से भारत का जो धन बाहर चला जा रहा है उसे कताई ही रोक सकती है;

९. इससे करोड़ों रुपयों की जो बचत होती है वह अपने-आप सुपात्र गरीबों में बँट जाती है;

१०. इसकी छोटी से छोटी सफलता से भी लोगों को बहुत कुछ तात्कालिक लाभ होता है;

११. लोगों में सहयोग पैदा करने का यह अत्यंत प्रबल साधन है। [यंग इंडिया, २१-८-१९२४, पृ. २७७]

जनसाधारण रुपये की कमी के रोग से इतना कष्ट नहीं भोगते जितना काम की कमी के रोग से भोगते हैं। श्रम ही धन है। यदि कोई करोड़ों के लिए उनके घरों में काम जुटा दे, तो कहना चाहिए कि वह उनके लिए रोटी-कपड़ा या यों कहिए कि रुपया जुटा देता है। चरखा उनके लिए ऐसा ही श्रम सुलभ कर देता है। इसलिए जब तक चरखे से ज़्यादा अच्छी चीज़ नहीं मिल जाती तब तक चरखा कायम रहेगा। [यंग इंडिया, १८-६-१९२५, पृ. २११]

सारी बुराई का बड़ा कारण – उसकी जड़ – बेकारी है। और अगर यह जड़ नष्ट की जा सके तो दूसरी किसी कोशिश के बिना ही अधिकांश बुराइयों का सुधार किया जा सकता है। भूखों मरने वाले राष्ट्र में आशा या प्रारंभ-शक्ति नहीं रह जाती। वह गंदगी और बीमारी के प्रति उदासीन हो जाता है। सभी

सुधारों के लिए वह कहने लगता है कि 'इनसे क्या लाभ होगा?' जीवनदायी चरखे के द्वारा ही करोड़ों लोगों के लिए निराशा का यह अंधकार आशा के प्रकाश में बदला जा सकता है। [यंग इंडिया, २७-८-१९२५, पृ. २९९]

चरखा तो शून्य में से कोई लाभदायी वस्तु उत्पन्न करने का प्रयत्न करता है। अगर उस चरखे के द्वारा राष्ट्र के साठ करोड़ रुपये हम बचा लेते हैं, और यह हम ज़रूर कर सकते हैं, तो हम राष्ट्रीय आय में उतनी विशाल वृद्धि कर देते हैं। इस प्रक्रिया में हमारे गाँवों का संगठन अपने-आप हो जाता है। और चूँकि यह सारी रकम देश के गरीब से गरीब लोगों में ही बाँटनी होती है, इसलिए यह योजना इतनी बड़ी संपत्ति के न्यायपूर्ण और लगभग समान बँटवारे की एक योजना बन जाती है। ऐसे वितरण के नैतिक महत्त्व को भी यदि समझ लिया जाए, तो चरखे का पक्ष अकाट्य बन जाता है। [यंग इंडिया, १७-२-१९२७, पृ. ५२]

बेशक, कुछ स्थानों में ऐसे जुलाहे पाए जाते हैं, जिनकी गिनती उनके धंधे के कारण अछूतों में की जाती है। वे ज़्यादातर बिलकुल सादी मोटी से मोटी खादी बुनने वाले हैं। वे तेजी से नष्ट हो रहे थे। लेकिन खादीने आकार उन्हें बचा लिया और उनके मोटे कपड़े के लिए माँग पैदा हो गई। उस समय यह पता चला कि बहुत से हरिजन परिवार ऐसे भी हैं, जिनका गुजर कताई से होता है। इस प्रकार खादी गरीबों के जीवन में दो तरह से बैसाखी का काम देती है। वह सबसे गरीब लोगों की मददगार है और उनमें हरिजन शामिल हैं। ये लोग गरीबों में भी सबसे ज़्यादा निःसहाय हैं। इसका कारण यह है कि बहुत से धंधे, जो दूसरे लोगों को उपलब्ध हैं, हरिजनों को उपलब्ध नहीं हैं। [हरिजन, २७-४-१९३४, पृ. ८५]

जो ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहते हैं, उनके लिए भी मैं चरखा पेश करता हूँ। यह घृणा करने की चीज़ नहीं है, क्योंकि यह अनुभव की बात है। जो आदमी अपने विकारों को वश में रखना चाहता है, उसे शांत रहने की ज़रूरत है। उसकी सारी भीतरी अशांति मिट जानी चाहिए। और चरखे की गति इतनी शांत और सौम्य है कि जो इसे पूरी श्रद्धा से चलाते हैं, उनके सारे विकार शांत हो जाते हैं। . . . मानव-विकारों का वेग हवा के वेग से भी ज़्यादा होता है। और उन्हें पूरी तरह वश में रखने के लिए अपार धीरज की ज़रूरत होती है। मेरा तो इतना ही दावा है कि स्थिरता प्राप्त करने के लिए चरखा उन्हें एक शक्तिशाली साधन प्रतीत होगा। [यंग इंडिया, २७-५-१९२६, पृ. १९०]

कताई करोड़ों का संगठन करके उन्हें एक सम्मिलित सहयोगी प्रयत्न में लगा देगी, लाखों की शक्ति की रक्षा और उसका उपयोग करेगी और करोड़ों जीवनों को मातृभूमि की सेवा में समर्पित करेगी। इसके सिवा, इतने बड़े भगीरथ कार्य को करने से हमें स्वयं अपनी शक्ति का साक्षात्कार हो जाएगा। इसका यह अर्थ है कि कताई द्वारा सामने आने वाली असंख्य पेचीदा समस्याओं और तफसील की बातों पर हमारा पूरा नियंत्रण हो जाएगा। उदाहरणार्थ, हम पाई पाई का हिसाब रखना सीखेंगे, देहात में स्वच्छता और स्वास्थ्यपूर्ण स्थिति में रहना सीखेंगे, अपने रास्ते की रुकावटों को दूर करेंगे इत्यादि। कारण, अगर हम ये सब बातें नहीं सीखेंगे, तो यह काम पूरा नहीं कर सकेंगे। इस प्रकार चरखे से हमें अपने भीतर यह क्षमता उत्पन्न करने का साधन मिल जाता है। [यंग इंडिया, २७-५-१९२६, पृ. १९०]

उपयोगी मालूम होने वाले सारे उद्योगों को एक-एक कर छांटते छांटते हम इस अनिवार्य परिणाम पर पहुँचते हैं कि लाखों लोगों के लिए एकमात्र सार्वत्रिक उद्योग कताई ही है, दूसरा कोई नहीं। इसका अर्थ यह नहीं कि दूसरे उद्योगों का कोई महत्त्व नहीं या वे निकम्मे हैं। सच तो यह है कि व्यक्तिगत दृष्टिकोण से कोई भी दूसरा उद्योग कताई से ज़्यादा आमदनी देने वाला होता है। घड़ियाँ बनाना बेशक एक अत्यंत आयवर्धक और मोहक उद्योग होगा। परन्तु उसमें कितने आदमी लग सकते हैं? क्या वह लाखों ग्रामीणों के लिए किसी काम का है? परन्तु यदि ग्रामवासी अपने घर की पुनर्रचना कर लें, अपने बाप-दादों की तरह फिरसे रहना शुरू कर दें, अपने बेकारी के समय का सदुपयोग करने लगें, तो अन्य सारे उद्योग अपने-आप पुनर्जीवित हो जाएँगे। [यंग इंडिया, ३०-९-१९२६, पृ. ३४१]

चरखे का पुनरुद्धार तब तक नहीं हो सकता जब तक बुद्धि और देशभक्ति वाले निःस्वार्थ भारतीयों की एक सेना चरखे का संदेश गाँवों में फैलाने और उनकी निस्तेज आँखों में आशा और प्रकाश की किरण जगाने के लिए दत्तचित्त होकर काम न करने लगे। यह सच्चे सहयोग और प्रौढ़शिक्षा का विशाल प्रयत्न है। उससे चरखे की शांत परन्तु प्राणदायक गति की तरह ही एक शांत और निश्चित क्रांति आती है।

चरखे के काम के २० वर्ष के अनुभव ने मुझे अपनी इस बात के सही होने का विश्वास करा दिया है। चरखेने गरीब हिन्दुओं और मुसलमानों की लगभग एकसी सेवा की है। उसके द्वारा हमने शोरगुल मचाए बिना इन लाखों देहाती कारीगरों की जेब में लगभग ५ करोड़ रुपया पहुँचाया है।

इसलिए मैं निःसंकोच कहता हूँ कि चरखा हमें सब धर्मों के सामान्य अनुयायियों को लाभ पहुँचाने वाले स्वराज्य तक पहुँचा देगा। चरखे से गाँवों को फिरसे अपना उचित स्थान प्राप्त हो जाता है और ऊँच-नीच के भेदभाव मिट जाते हैं। [हरिजन, १३-४-१९४०, पृ. ८५]

चरखा व्यापारिक युद्ध की नहीं परन्तु व्यापारिक शांति की निशानी है। संसार के राष्ट्रों के लिए उसका संदेश दुर्भाव का नहीं, परन्तु सद्भाव और स्वावलम्बन का है। उसे संसार की शांति के लिए खतरा बनने वाली या उसके साधनों का शोषण करने वाली किसी जेलसेना के संरक्षण की ज़रूरत नहीं होगी; परन्तु उसे ज़रूरत होगी ऐसे लाखों लोगों के धार्मिक निश्चय की, जो अपने अपने घरों में उसी तरह सूत कात लें जैसे आज वे अपने अपने घरों में अपना भोजन बना लेते हैं। मैंने ऐसी अनेक भूलें की हैं, जिनके लिए मैं भावी संतानों के शाप का भाजन बन सकता हूँ। परन्तु मुझे विश्वास है कि चरखे का पुनरुद्धार सुझाकर तो मैं उनके आशीर्वाद का ही पात्र बना हूँ। मैंने उस पर अपना सर्वस्व निछावर कर दिया है, क्योंकि चरखे के हरएक चक्कर में शांति, सद्भाव और प्रेम भरा है। [यंग इंडिया, ८-१२-१९२१, पृ. ४०६]

मेरा यह दावा है कि (खादी और दूसरे ग्रामोद्योगों का पुनरुद्धार करके) हम इतना विकास कर लेंगे कि आम लोगों के दिलों में सादगी और घरेलूपन का जो आदर्श बसा हुआ है, उसके अनुरूप हम राष्ट्रीय जीवन का पुनर्निर्माण कर सकें। फिर हम ऐसे साम्राज्यवाद में नहीं घसीटे जाएँगे, जिसकी बुनियाद संसार की कमजोर जातियों के शोषण पर है; और न हमें ऐसी मदोन्मत्त बनाने वाली भौतिकतावादी संस्कृति को स्वीकार करना होगा, जिसकी रक्षा शांतिपूर्ण जीवन को लगभग असंभव बना देने वाली जलसेना और वायुसेना करती है। इसके विपरीत, हम उस साम्राज्यवाद को परिष्कृत करके राष्ट्रों का ऐसा संघ बना लेंगे, जिसमें संसार को अपनी उत्तम वस्तु देने के लिए और जगत के कमजोर राष्ट्रों या जातियों की पशुबल के बजाय स्वयं कष्ट उठाकर रक्षा करने के लिए सारे राष्ट्र सम्मिलित होंगे। यह कायापलट चरखे की पूर्ण सफलता के बाद ही हो सकता है। भारत ऐसा संदेश देने के योग्य तभी हो सकता है जब वह अन्न और वस्त्र की अपनी दो मुख्य आवश्यकताओं के बारे में आत्म-निर्भर होकर प्रलोभन से मुक्त और इसलिए बाहरी आक्रमणों से सुरक्षित हो जाए। [यंग इंडिया, २९-६-१९२१, पृ. २०६]

जब हम एक बार (खादी के) उद्योग का पुनरुद्धार कर लेंगे, तो अन्य सब उद्योगों का उद्धार अपने आप हो जाएगा। मैं चरखे को आधार बनाकर सम्यक् ग्राम-जीवन की रचना करना चाहूँगा; मैं चरखे को केन्द्र बनाकर ऐसी व्यवस्था करूँगा कि उसके चारों ओर दूसरे उद्योग पनपते रहें। [यंग इंडिया, २१-५-१९२५, पृ. १७७]

खादी का आदर्श सदा ही ग्रामों के पुनरुद्धार का सबसे उत्तम साधन रहा है। इसके जरिए गरीबों में सच्ची शक्ति पैदा होगी, जिससे स्वराज्य अपने-आप, आ जाएगा। [स्वराज थ्रू चरखा, १९४५, पृ. ८

मुझे अपना अनुभव बताता है कि खादी को शहरों और गाँवों दोनों में सर्वव्यापी बनाने के लिए यह ज़रूरी है कि खादी सूत के बदले में ही मिले। जैसे जैसे समय बीतेगा मुझे आशा है कि लोग स्वयं सूत के सिक्के द्वारा खादी खरीदने का आग्रह रखेंगे। लेकिन ऐसा न हुआ और लोगों ने सूत अनिच्छा से पैदा किया, तो मुझे डर है कि अहिंसा के द्वारा स्वराज्य प्राप्त करना असंभव हो जाएगा।

यह निश्चित है कि मिलों और शहरों की संख्या बढ़ने से हिन्दुस्तान के करोड़ों लोगों की समृद्धि नहीं बढ़ेगी। उलटे, उससे बेकारों की गरीबी ज़्यादा बढ़ जाएगी और भूख से पैदा होने वाले सारे रोग बढ़ जाएँगे। अगर इस दृश्य को शहरों में रहने वाले लोग शांतचित होकर देख सकें, तब तो कहने को कुछ नहीं रह जाता। वैसी सूरत में भारत में सत्य और अहिंसा का राज्य न होकर हिंसा का बोलबाला हो जाएगा। और हमें मान लेना पड़ेगा कि कुदरती तौर पर खादी के लिए भारत में कोई स्थान नहीं है। फिर तो सबके लिए फौजी तालीम अनिवार्य हो जाएगी। परन्तु हमें करोड़ों भूखों की दृष्टि से सोचना चाहिए। अगर उन्हें फिरसे जीवनदान देना है, उन्हें जिंदा रखना है, तो चरखे को हमें मुख्य प्रवृत्ति बनाना पड़ेगा और लोगों को स्वेच्छा से कातना होगा। [स्वराज थ्रू चरखा, १९४५, पृ. ५]

हमारे काम का आरंभ छोटीसी बात से हुआ था। जबसे मैंने चरखे का काम शुरू किया तबसे मेरे साथ विठ्ठलदासभाई और चंद बहनें थीं। उनको मैं अपनी बात समझा सका था। मगनलालभाई आदि दूसरे भी थे। वे जाते तो कहाँ जाते, उनको तो मेरे ही साथ जीना था – मरना था।

आज करोड़ दो करोड़ आदमी चरखे के असर में आ गए हैं। चरखे में स्वराज्य पाने की शक्ति है, ऐसा हम आज तक कहते आ रहे हैं। चरखे के द्वारा इतने सालों में देहात के लोगों के बीच काफ़ी पैसा

भी हम पहुँचा पाए हैं। क्या आज भी हम ऐसा कह सकते हैं कि चरखे के बिना स्वराज्य नहीं आ सकता? जब तक हम अपना यह दावा सिद्ध नहीं कर सकते तब तक चरखा चलाना हमारे लिए एक लाचारी का सहारा मात्र बन जाता है। वह मुक्तिमंत्र नहीं हो सकता।

दूसरी बात यह है कि हम हमारी यह बात करोड़ों को नहीं समझा पाए हैं। आज उन करोड़ों में चरखे के विषय में न जिज्ञासा है, न ज्ञान।

काँग्रेस ने चरखा अपनाया था सही, लेकिन क्या उसने वह अपनी खुशी से अपनाया था? नहीं, वह तो चरखे को मेरे खातिर बरदाश्त करती है। समाजवादी तो उसकी (चरखे की) हँसी उड़ाते हैं। उसके खिलाफ उन्होंने व्याख्यान भी दिए हैं, लिखा भी काफ़ी है। उनका प्रत्यक्ष उत्तर हमारे पास नहीं है। मैं उनको कैसे विश्वास दिलाऊँ कि चरखे से स्वराज्य हासिल हो सकता हैं। इतने वर्षो में तो मैं नहीं बता सका कि इस इस प्रकार से हमारा दावा सिद्ध हो सकता है।

अब तीसरी बात। अहिंसा तो कोई आकाश की चीज़ नहीं है। अगर वह आकाश की चीज़ है तो मेरे काम की नहीं। मैं पृथ्वी में से आया हूँ और उसीमें मुझे मिल भी जाना है। अगर अहिंसा सचमुच ही कोई चीज़ है, तो उसका दर्शन, मेरे पैर पृथ्वी पर हैं इसी बीच, मैं करना चाहता हूँ। करोड़ों लोग जिसका पालन कर सकें ऐसी अहिंसा मुझे चाहिए। जिस समाज में कोमलता आदि गुण बसते हैं, वहाँ अहिंसा न होगी तो कहाँ होगी?

हिंसावादी के घर पर जाओ तो देखोगे कि कहीं शेर का चमड़ा टंगा है, तो कहीं हिरन के सींग। दीवार पर तलवार है, बन्दूक है। मैं वाइसरोय के घर गया हूँ; मुसोलिनी के यहाँ भी मुझे ले गए थे। वहाँ देखा कि चारों ओर शस्त्र लगे हुए हैं। मुझे शस्त्रों की सलामी दी गई, क्योंकि वही उनका प्रतीक है।

उसी प्रकार हमारे लिए अहिंसा का प्रत्यक्ष दर्शन कराने वाला प्रतीक चरखा है। लेकिन हम जब वैसा ही कार्य कर बताएँगे तब न वह सिद्ध होगा? मुसोलिनी के दरबार में तलवार थी। वह कहती थी – अगर तुम मुझे छुओगे तो मैं काट डालूँगी। उसमें हिंसा का प्रत्यक्ष दर्शन हो सकता है। वह कहती है, मुझे छुओ और मेरा प्रताप देखो। उसी प्रकार हमें चरखे का प्रताप सिद्ध करना चाहिए कि चरखे के

दर्शनमात्र से अहिंसा का दर्शन हो जाए। लेकिन आज हम कंगाल बने बैठे हैं। समाजवादियों को क्या जवाब दें? वे कहते हैं, इतने वर्षो से आप चरखा-चरखा रटते रहे। आपने कौनसी सिद्धि हासिल की?

मुसलमानों के वक्त भी चरखा चलता था। उन दिनों ढाका की मलमल निकलती थी। तब भी चरखा कंगालियत की ही निशानी थी, अहिंसा की नहीं। बादशाह लोग औरतों से और नीच से नीच वर्ग के लोगों से बेगार कराते थे। बाद में ईस्ट इंडिया कंपनीने भी वही किया। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी वही बात कही गई है। तबसे ही चरखा हिंसा और जोर-जबरदस्ती का प्रतीक बन रहा था। चरखा चलाने वाले को मुठ्ठीभर अनाज या दो दमड़ियाँ मिलती थीं। और उसमें से प्राप्त मलमल गजों पहनने पर भी बादशाहों की स्त्रियाँ विवस्त्र दिखाई देती थीं।

लेकिन आपको जो चरखा मैंने दिया है वह अहिंसा के प्रतीक के तौर पर दिया है। अगर यह बात इसके पूर्व मैंने आपको नहीं कही तो वह मेरी त्रुटि हैं। मैं पंगु हूँ, आहिस्ते आहिस्ते चलने वाला हूँ। तो भी मैं जानता हूँ कि आज तक जो काम हुआ वह बेकार नहीं गया है।

अब चौथी बात। बगैर चरखे के स्वराज्य प्राप्त नहीं हो सकता, यह बात हमने सिद्ध नहीं की है। काँग्रेस वालों को यह बात न समझा सको तब तक वह सिद्ध नहीं होने वाली है। चरखा और काँग्रेस एक-दूसरे के पर्यायवाची शब्द बनने चाहिए।

अहिंसा के प्रतिपादन का काम कठिन है। जब तक हम उसकी तह में न घुस जाएँ तब तक उसकी सचाई हमारे ध्यान में नहीं आएगी। आज तक मैंने जो कुछ कहा सबका मैं समर्थन करता आया हूँ। जगत मेरी परीक्षा करने वाला है। अगर मेरी इस चरखे की बात में वह मेरी मूर्खता सिद्ध करे तो हर्ज नहीं है। जो चरखा सदियों तक कंगालियत, लाचारी, जुल्म, बेगारी का प्रतीक रहा, उसे हमने आधुनिक संसार की सबसे बड़ी अहिंसक शक्ति, संगठन तथा अर्थ-व्यवस्था का प्रतीक बनाने का बीड़ा उठाया है। हमने उलटी बात सुलटी बना दी है। और यह सब मैं आपके मारफत करना चाहता हूँ।

ये सब बातें समझकर भी यदि आप ऐसा नहीं मानते कि चरखे में स्वराज्य पाने की शक्ति है, तो आप मुझे छोड़ दें। इसमें आपकी परीक्षा है। श्रद्धा न होते हुए भी अगर आप मुझे धोखा देंगे, तो देश

का बड़ा अकल्याण करेंगे। मेरे अंत के दिनों में आप मुझे धोखा न दें, ऐसी मेरी आपसे विनम्र प्रार्थना है।

यदि आज तक की कार्य-प्रणाली में दोष रहा हो, तो उसका जिम्मेवार मैं हूँ। क्योंकि यह सब जानते हुए भी मैं उसका प्रमुख रहा हूँ। लेकिन हम अब गई-गुजरी सब छोड़ दें। क्या आज हम सच्चे दिल से मानते हैं कि चरखा अहिंसा का प्रतीक है? जो लोग दिल की तहसे मानते हैं कि चरखा अहिंसा का प्रतीक है, ऐसे हम में कितने हैं?

यह जो आपका तिरंगी झंडा है, वह क्या है? इतने गज चौड़ा, इतने गज लम्बा एक खादी का टुकड़ा है? इसके बदले में आप दूसरा भी तो लगा सकते हैं। लेकिन इसमें भावना भरी पड़ी है, इसने भावना पैदा की है, इसके पीछे मरने की आपकी ख्वाहिश रही है। वह स्वराज्य का प्रतीक है, जातीय समझौते का वह प्रतीक है। उसे हम नहीं भुला सकते, नहीं मिटा सकते। उसी प्रकार अहिंसा का प्रतीक यह चरखा है।

इस चरखे के नाम पर मेरे विचार का स्रोत आप लोगों पर बहा रहा हूँ। इसे स्वावलम्बन कहो या जो कुछ कहो। राष्ट्रीय संगठन और स्वावलम्बन के नाम पर खुद पश्चिमी मुल्कों में और उन मुल्कों की ओर से करोड़ों लोगों का रक्त-शोषण हो रहा है। वैसा स्वावलम्बन हमारा नहीं है। यह तो अशोषण का, शोषण से और जोर-जबरदस्ती से मुक्ति पाने का तरीका है। मेरा मतलब शब्दों से नहीं है, चीज़ से है। फिर भी शब्दों में चमत्कार भरा होता है। शब्द भावना को देह देता है और भावना शब्द के सहारे साकार बनती है। हमारे धर्म में साकार-निराकार का झगड़ा हमेशा चलता आया है। साकारवादी सगुण भक्ति को श्रेष्ठ मानता है। इस भावना के अनुसार यदि अहिंसा की उपासना करनी है, तो चरखे को उसकी साकार मूर्ति – उसका प्रतीक – मान कर उसे आँखों के सामने रखना चाहिए। मैं अहिंसा का दर्शन करता हूँ तब चरखे का ही दर्शन पाता हूँ। जो निराकारवादी है वह तो कहेगा कृष्ण कौन है? वह तो पहाड़ों की चोटी पर और आसमान के बादलों पर पैर रख कर चलने वाला है। हम पृथ्वी पर चलने वाले हैं। हम हमारी मर्यादा को समझकर चुन लेते हैं कि ऐसी कौनसी चीज़ है, जो हमारे लिए साकार ईश्वर का – हमारी अमूर्त श्रद्धा और भावना का – प्रतीक हो सकती है। यदि आप इस सत्य का दर्शन कर सकते हैं, तो मेरे कथन की दृढ़ता को समझ जाएँगे। जाजूजीसे भी इतनी दृढ़ता से मैंने आगे कभी बातें

नहीं की थीं। जेराजानी कहते हैं, मैं जल्दबाजी कर रहा हूँ। किंतु चरखे की मेरी उपासना के पीछे जो भावना है उसको अपने दिलों में स्थान दिए बिना सौ वर्ष में भी अहिंसा का दर्शन न होगा। मुझे चरखे में अहिंसा की शक्ति का जो दर्शन हुआ है वह आप जब मेरे जैसा हृदय लेकर उसके पास जाएँगे, उसे घुमाएँगे, तभी न होगा? इसलिए मैं कहता हूँ कि या तो मुझे छोड़ दो या मेरा साथ दो। अगर मेरे साथ चलना है तो मैं आपको योजना दूँगा, सब कुछ करूँगा। अगर अभी आप यह सब समझ नहीं पाए हैं, तो सारा दिन आपके साथ बैठूंगा। बिना समझे आप कहेंगे कि समझ गए, तो आप धोखा खाएँगे और मुझे धोखा देंगे। हमने कोई शिवजी की बरात जमा नहीं की है। हम ऐसे पामर थोड़े ही बन गए हैं जो कैसे भी रूखे-सूखे टुकड़े लिए पड़े रहेंगे। देश में सेवा के काम ढेरों पड़े हैं, अनेकों मार्ग मौजूद हैं। मेरी श्रद्धा मुझे ऊँचे ले जाएगी, आपको नहीं। इसलिए धोखे में मत रहिए। मुझे अपना रास्ता काटने दीजिए। यदि यह साबित हुआ कि मैं धोखे में रहा, मेरी चरखे के विषय की मान्यता निरी मूर्तिपूजा थी, तो या तो आप उसी चरखे की लकड़ियों से मुझे जलाएँगे, या मैं ही खुद उस चरखे को अपने हाथों से जलाऊँगा।

अगर चरखा-संघ को मिटना है तो अपने ही हाथों उसे बंद कर दीजिए। इससे सारी झंझट अपने-आप मिट जाएगी, जैसे सूरज के सामने ओस। फिर जिस चरखे ने हमें रौंध रखा है – फँसा रखा है, वह चंद लोगों के हाथ में रह जाएगा। तब शायद उनके हाथों वह एक बड़ा शस्त्र भी साबित हो। अगर आप उसे मूर्खताभरी चीज़ मानते हैं, तो मैं एक मूर्खों का संघ चलाना और हिन्दुस्तान को गिराना नहीं चाहता। अगर आप इस चरखे में से अहिंसा का दर्शन करा सकेंगे, तो फिर आपका चरखा सिर्फ चलेगा नहीं बल्कि दौड़ने लगेगा। तब आपको उसे जिंदा रखने की फिक्र करने की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी।

आपसे मैं फिर कहता हूँ कि या तो मेरा साथ आप छोड़ दें, या नई चीज़ को ग्रहण करके मेरे साथ चलें। दो वर्ष की तपश्चर्या के बाद यह नई चीज़ लेकर मैं आया हूँ। वह आपको दे सकूँगा या नहीं इसका मुझे पता नहीं है। लेकिन देने की चेष्टा तो कर ही रहा हूँ। अब आपको मेरा साथ देना कठिन हो रहा है। अगर मैं आपको समझा सका हूँ तो एक चीज़ कीजिए। आजकी तारीख से जो मेरे साथ रहना चाहते हैं वे मुझको लिख दें कि चरखे को हम अहिंसा का प्रतीक मानते हैं। आज आपको निर्णय करना ही है। अगर आप चरखे को अहिंसा का प्रतीक नहीं मानते, नहीं मान सकते, तथापि आप मेरा साथ देते रहेंगे, तो खुद तो खतरे में पड़ेंगे ही और मुझे भी डूबा देंगे। [खादी, १९५९, पृ. २०५-१०]

खादी का एक युग समाप्त हो गया। खादी ने गरीबों के लाभ के लिए कुछ करके दिखा दिया। अब हमें यह दिखाना होगा कि गरीब स्वाबलम्बी कैसे बन सकते हैं। [दि आइडियालोजी ओफ दि चरखा, १९५९, पृ. ९४]

मैंने देखा कि जब तक चरखे का संदेश हम घर घर नहीं पहुँचाते तब तक हमारा काम अधूरा ही रहेगा। [खादी १९५९, पृ. १९९]

हम सब यही मानें कि चरखा ही अन्नपूर्णा है। अगर चालीस करोड़ जनता यह समझ जाए, तो फिर चरखे की प्रवृत्ति के लिए एक कौड़ी भी लगाने की ज़रूरत नहीं। फिर सल्तनत की ओरसे निकलने वाले फरमानों से घबड़ाने का कोई कारण नहीं। पूंजीपतियों के मुँह की ओर ताकने की ज़रूरत नहीं। हम खुद ही केन्द्र बन जाएँगे और लोग दौड़ते हुए हमारे पास आएँगे। काम ढूँढ़ने के लिए उन्हें कही जाना न होगा। हरएक गाँव आज़ाद हिन्दुस्तान का एक एक चक्रबिंदु बन जाएगा। बम्बई, कलकत्ता जैसे शहरों में नहीं, किंतु सात लाख देहातों में, चालीस करोड़ जनता में, आज़ाद हिन्दुस्तान विभक्त हो जाएगा। फिर हिन्दू-मुसलमान का मसला, अस्पृश्यता की समस्या, झगड़े-फसाद, गलतफहमियाँ, प्रतिस्पर्धा कुछ न रहेंगी। इसी काम के लिए संघ की हस्ती है। इसीलिए हमको जीना है और मरना भी है। [खादी, १९५९, पृ. २०१]

पहला स्थान चरखे का है। उसकी साधना से ही ग्रामोद्योग, नई तालीम आदि अन्य दूसरी चीज़ें पैदा हुई हैं। अगर हम बुद्धिपूर्वक चरखें को अपना लेंगे, तो देहातों को फिरसे जिंदा कर सकते हैं। [खादी, १९५९, पृ. २०१]

चरखे के द्वारा हम इतने सालों में देहात के लोगों के बीच काफ़ी पैसा भी पहुँचा पाए हैं। क्या आज भी हम कह सकते हैं कि चरखे के बिना स्वराज्य नहीं आ सकता? जब तक हम अपना यह दावा सिद्ध नहीं कर सकते तब तक चरखा चलाना हमारे लिए एक लाचारी का सहारा मात्र बन जाता है। वह मुक्तिमंत्र नहीं हो पाता। [खादी, १९५९, पृ. २०५]

अब मैं देखता हूँ कि अकेली खादी ग्रामों का उत्थान नहीं कर सकती। सारे ग्राम-जीवन को, सारे ग्रामोद्योगों को जीवित करके ही ग्रामवासियों को हम उद्यमशील बना सकेंगे। और तब ही ग्रामों का उत्थान होगा। [खादी, १९५९, पृ. २४१]

खादी केवल रोजी देने वाला एक उद्योग भर है, इस ख़याल को हम छोड़ दें। [खादी, १९५९ पृ. २४६]

खादी को आगे बढ़ने के पीछे कारण यह है कि आज लोगों में जो आलस्य घर कर बेठा है उसे हटाने का खादी एक बड़ा साधन है। वह जनता में स्वराज्य की शक्ति पैदा करने वाली चीज़ है। दूसरी चीज़ों को भी वैसा ही बना लेंगे तभी गाँव स्वावलम्बी बनेंगे। [खादी, १९५९, पृ. २४६]

लेकिन हमें जो सिद्ध करना है वह तो खादी के पूरे, समूचे अर्थशास्त्र की अनिवार्यता है। [खादी, १९५९ पृ. २५२]

सच्चा उत्सव (चरखा-जयन्ती का) तो तभी मनाया जाएगा, जब अहिंसा और आज़ादी के प्रतीक के रूप में यह चरखा घर घर गूंजेगा। अगर कुछ गरीब बहनें, चाहे वे एक करोड़ ही क्यों न हों, दो पैसे कमाने के लिए कातती हैं, तो उसका उत्सव क्या मनाया जाए? उसमें ऐसा बड़ा भारी – भगीरथ – काम भी क्या हुआ? ऐसा तो अत्याचारी राज्य में भी हो सकता है। पूंजीवाद में तो ऐसा दिखावा नज़र आता ही है। करोड़पति को अपना बड़प्पन बनाए रखने के लिए गरीबों को थोड़ा दान देना ही पड़ता है, फिर वह दान किसी मज़दूरी के रूप में ही क्यों न हो?

उत्सव तो तभी शोभा देगा जब गरीब और अमीर समझेंगे कि ईश्वर की नज़र में सब समान हैं, ऊँची जगह पाने के लिए सबको मज़दूरी करनी है और सबकी आज़ादी की रक्षा गोला-बारूद नहीं, बल्कि सूत की गोली करेगी – हिंसा नहीं, अहिंसा करेगी। [हरिजनसेवक, २२-९-१९४६, पृ. ३१६]

देशी और विदेशी दोनों प्रकार के मिल के कपड़े की क़ीमत तीन सौ करोड़ तक पहुँचती है। अगर ३०० करोड़ रुपये का यह कपड़ा हम यहाँ हिन्दुस्तान के गाँवों में अपने हाथों पैदा कर लें, तो आप सब सोचिए और समझिए कि हिन्दुस्तान को कितना धन मिल जाएगा ! हमारे लिए तो यह सोने के सिक्कों की एक टकसाल ही है। अगर सब लोग खादी बरतने लग जाएँ, तो हमारे गाँवों की वह तरक्की हो जो

आज तक कभी न हुई थी। आज हमारी आम जनता अपार गरीबी में फँसी है, और उसकी आँखों में बुद्धि या आशा की कोई चमक नज़र नहीं आती। कातने वालों के शुद्ध हाथ उनके लिए यह चमत्कार पैदा कर सकते हैं। और उसमें सब कोई मदद कर सकते हैं। मोटी और खुरदरी होने पर भी खादी के लिए आपको अपने भीतर इतनी सहृदयता और समझदारी पैदा करनी होगी कि आप अपने दिल से और अपनी आँखों से उसकी सुंदरता को अनुभव कर सकें और उसकी प्रशंसा कर सकें। अगर ऐसा हुआ तो आप मिलों के उस महीन और मुलायम कपड़े के मोह में हरगिज न फँसेंगे, जो सच्चे मानों में आपकी लाज कभी ढँक नहीं पाता। अपनी लाज ढँकने और अपने देश से भुखमरी को देशनिकाला देने का एक ही उपाय है, और वह यह है कि आप अपनी ज़रूरत का अनाज स्वयं पैदा कर लें और अपना कपड़ा अपने हाथों बना लें। अगर यह अत्यंत सुखद सफलता हम प्राप्त कर लें, तो सारी दुनिया की आँखे हिन्दुस्तान की तरफ मुड़ जाएँ। [हरिजनसेवक, ६-१०-१९४६, पृ. ३३८]

यहाँ जो चरखा-क्लास जोर-शोर से चल रहा है, उसके सामने मुझे और सब बातें बेजान और फीकी मालूम होती हैं। क्योंकि उसमें चरखें पर कतने वाले एक एक तार पर मुझे मेरा राम नाचता दिखाई पड़ता है। उसमें मुझे स्वराज्य के दर्शन होते हैं | जब मैं चालीस करोड़ हाथों से काते गए सूत के तार की शक्ति और उसके प्रभाव की कल्पना करता हूँ, तो मेरा हृदय आनंद से उछलने लगता है। लेकिन आप हँसेंगे और कहेंगे कि जाने भी दीजिए इस बात को ! यह कभी हो ही नहीं सकता कि बीस करोड़ हिन्दुस्तान कातने लगें। लेकिन क्या इस चीज़ को मानने से इनकार करके हम अपना अज्ञान प्रकट नहीं करते? क्या इससे हमारी श्रद्धा की कमी सिद्ध नहीं होती? क्या यह आशा नहीं रखी जा सकती कि हमारी समूची आबादी का आधा भाग रोज एक घंटा कातेगा? अगर अपनी मातृभूमि के लिए इतना त्याग करने की भी हमारी तैयारी और शक्ति न हो, तो हम उसके प्रेम की जो डींगे हाँकते हैं उनका आखिर कया मतलब हैं? [हरिजनसेवक, ६-१०-१९४६, पृ. ३३८]

२०. अन्य ग्रामोद्योग

ग्रामोद्योग क्यों?

१९२० में जब मैं स्वदेशी-आंदोलन का श्रीगणेश करने जा रहा था तब मेरी श्री फजलभाई से चर्चा हुई थी। वे चतुर आदमी थे, इसलिए उन्होंने मुझसे कहा, 'यदि आप काँग्रेसी लोग हमारे माल का विज्ञापन करने वाले एजेंट बनेंगे, तो हमारे माल की क़ीमत बढ़ाने के सिवा आप देश का और कोई लाभ न कर सकेंगे।' उनकी दलील ठीक थी। लेकिन मैंने उनसे कहा, 'मैं तो केवल हाथकती और हाथबुनी खादी को ही बढ़ावा देने वाला हूँ। यह उद्योग लगभग नष्ट जैसा हो गया है। लेकिन अगर करोड़ों भूख से पीड़ित और बेकार लोगों को काम से लगाना हो, तो इस उद्योग को फिरसे सजीव किए बिना चारा नहीं।' मेरी यह बात सुनकर वे शांत हो गए।

परन्तु केवल खादी ही ऐसा उद्योग नहीं है, जो जीने के लिए संघर्ष कर रहा हो। इसलिए मैं आपको यह सुझाता हूँ कि छोटे और अव्यवस्थित उन सारे ग्रामीण उद्योगों की ओर आपको ध्यान देना चाहिए, जिन्हें प्रजा के प्रोत्साहन की ज़रूरत है। अगर इनको बढ़ावा देने और टिकाए रखने के लिए कोई प्रयत्न नहीं किया गया, तो ये नष्ट हो जाएँगे। आज बड़े पैमाने पर चलने वाले उद्योग अपने माल को तेजी से बाजारों में पहुँचा रहे हैं और इन छोटे उद्योगों में से कुछको पीछे धकेल रहे हैं। वास्तव में इन्हीं छोटे उद्योगों को आपकी मदद की ज़रूरत है। [सेंट परसेंट स्वदेशी, १९५८ पृ. ४]

यदि हम छोटे पैमाने पर चलने वाले उद्योगों की मदद करते हैं, तो हम राष्ट्रीय संपत्ति में वृद्धि करते हैं, इस विषय में मेरे मनमें तनिक भी शंका नहीं है। इन गृह-उद्योगों को प्रोत्साहन और संजीवन देने में ही सच्चा स्वदेशीपन है, इसमें भी मुझे कोई संदेह नहीं है। करोड़ों मूक लोगों की मदद करने का यही एकमात्र मार्ग है। इसीसे लोगों की सर्जनशक्ति और कला-कारीगरी के विकास का द्वार खुल सकता है। देश में जो सैंकड़ों युवक बेकार पड़े हैं, उन्हें इससे अनेक उपयोगी व्यवसाय मिल सकते हैं। आज हमारी जो शक्ति व्यर्थ ही बरबाद हो रही है, उसका इस काम में उपयोग हो सकता है। मैं ऐसा नहीं चाहता कि आज जो लोग दूसरे उद्योग-धंधों में अधिक कमाते हों, वे अपने धंधों को छोड़कर इन छोटे उद्योगों को अपना लें। जो बात मैंने चरखे के विषय में कही थी वही इसके बारे में भी कहता हूँ कि जो लोग बेकारी

और गरीबी से पीड़ित हैं, वे इनमें से किसी उद्योग को अपना लें और अपनी मामूली-सी आमदनी में थोड़ी वृद्धि करें।

इस परसे देखा जा सकता है कि मैं आपको अपनी प्रवृत्ति में जो परिवर्तन करने की बात सुझाता हूँ, उसमें बड़े उद्योगों के हित के साथ किसी प्रकार का संघर्ष नहीं रहता। मैं तो केवल इतना ही कहना चाहता हूँ कि आप राष्ट्रीय सेवक अपनी प्रवृत्ति केवल छोटे उद्योगों तक ही सीमित रखें और बड़े उद्योग जिस प्रकार आज तक अपनी संभाल रखते आए हैं उसी प्रकार उन्हें रखने दें। मेरी कल्पना तो यह है कि छोटे गृहउद्योग बड़े उद्योगों को हटाकर उनकी जगह नहीं लेंगे, बल्कि उसमें पूर्ति करेंगे। [सेंट परसेंट स्वदेशी, १९५८, पृ. ५]

कपड़े की, शक्कर की और चावल की मिलों को हमारी मदद की ज़रुरत नहीं है। किन्तु यदि हम बिनमाँगी मदद इन मिलों को देते रहेंगे, तो चरखा, करघा, खादी, गन्ना पेरने का कोल्हू, जीवनप्रद तथा पोषक तत्त्वों से भरा हुआ गुड़ और इसी तरह ओखली-मूसल का कुटा चावल – गाँव की इन सब चीज़ों का हम नाश कर देंगे। इसलिए यह शोध करते रहना हमारा स्पष्ट कर्तव्य है कि गाँव के चरखे को, गाँव के कोल्हू को और गाँव की ओखली को किस रीति से जिन्दा रखा जा सकता है। चरखे, कोल्हू और ओखली के ही माल का प्रचार किया जाए, उसके गुणों को बतलाया जाए, उनमें काम करने वाले लोगों की स्थिति की जाँच की जाए और बिजली से चलने वाली मिलों द्वारा बेकार बनाए हुए कारीगरों की गणना की जाए, इन साधनों में उनके ग्रामीण रूप को कायम रखकर सुधार करने के तरीके ढूँढ़े जाएँ तथा मिलों की प्रतिस्पर्धा का मुकाबला करने में उनको मदद पहुँचाई जाए। गाँव के इन उद्योग-धंधों के संबंध में हमने कितनी भयंकर और अक्षम्य उपेक्षा दिखाई है ! इन उद्योगों को जिन्दा रखने के प्रयास में कपड़े शक्कर या चावल की मिलों के साथ कोई झगड़ा नहीं है। विदेशी कपड़ा, विदेशी शक्कर या विदेशी चावल की अपेक्षा अपने देश की मिलों में बना हुआ कपड़ा, शक्कर या चावल हमें काम में लाना चाहिए। अगर विदेशी स्पर्धा के मुकाबले में खड़े रहने की उनमें शक्ति न हो, तो उन्हें पूरी मदद भी मिलनी चाहिए। परन्तु आज तो ऐसी किसी मदद की ज़रूरत देशी मिलों के माल को नहीं है। विदेशी माल से देशी मिलों का माल अच्छी तरह टक्कर ले रहा है। मदद की आवश्यकता तो आज ग्रामीण उद्योगों को है। बचे-खुचे ग्रामोद्योगों में लगे हुए लोगों की हमें रक्षा करनी है और विदेशी या स्वदेशी मिलों के आक्रमण

से उन्हें बचाना है। संभव है कि खादी, गुड़ और ओखली का कुटा चावल मिल के माल से घटिया हों और इसीलिए वे उसके मुकाबले में न टिक सकते हों | लेकिन असल बात तो यह है कि खादी के उद्योग के बारे में जितनी खोज हुई है, उतनी गुड़ और हाथकुटे चावल के धंधे में लगे हुए हजारों आदमियों की स्थिति के संबंध में नहीं हुई हैं। [हरिजनसेवक, १७-८-३४, पृ. २६६]

मैने बड़े पैमाने पर चलने वाले संगठित उद्योगों को इस कारण नहीं छोड़ दिया है कि वे स्वदेशी नहीं हैं, लेकिन इसलिए कि उन्हें किसी खास मदद की जरूरत नहीं है। वे अपने पैरों पर खड़े रह सकते हैं और आज की जाग्रति की अवस्था में उनका माल आसानी से बाजार में खप सकता है। [हरिजन, २८-९-१९३४, पृ. २५९]

संक्षेप में, मैं इतना ही कहूँगा कि हमें अपने नित्य के उपयोग के लिए सिर्फ वे ही चीज़ें खरीदनी चाहिए जो कि गाँवों में बनती हों। हो सकता है कि गाँव की बनी चीज़ें अभी भद्दी या बेडौल हों। तब हमें चाहिए कि हम गाँवों की कारीगरी को प्रोत्साहन देने का प्रयत्न करें, न कि यह दलील सामने रखकर उन चीज़ों को लेने से इनकार कर दें कि विदेशी अथवा बड़े बड़े कल-कारखानों की बनी स्वदेशी चीज़ें गाँव की चीज़ों से कहीं बढ़िया होती हैं। असल बात यह है कि ग्रामवासियों की सोई हुई कारीगरी या कलापूर्ण प्रतिभा को हमें जाग्रत कर देना चाहिए। सिर्फ इसी एक तरीके से हम उस भारी ऋण को थोड़ा-बहुत चुका सकेंगे, जो कि गाँव वालों का हमारे ऊपर चढ़ा हुआ है। इस विचार से भयभीत होने का कोई कारण नहीं कि ऐसे प्रयत्न में हम कभी कामयाब हो सकेंगे या नहीं। हमें अपने ही युग की ऐसी मिसालें याद आ सकती हैं जब यह ज्ञान हो जाने के बाद कि अमुक काम देश की तरक्की के लिए अत्यंत आवश्यक हैं, हमारे मार्ग में आने वाली कठिनाइयाँ हमें जरा भी विचलित नहीं कर सकीं और उन कामों में हम असफल भी नहीं हुए। इसलिए अगर हम में से हरएक इस बात पर विश्वास करने लग जाए कि हमारे राष्ट्रीय अस्तित्व के लिए भारतीय ग्रामों का पुनरुद्धार अत्यंत आवश्यक है और अगर हमारा इसमें जीवित विश्वास हो कि ग्रामों के पुनरुद्धार के द्वारा ही हम व्यापक अस्पृश्यता को निर्मूल करके तथा संप्रदाय या धर्म का भेदभाव छोड़कर आत्मा की एकता का अनुभव कर सकते हैं, तो हमें सच्चे हृदय से गाँवों की ओर जाना ही होगा। और बजाय इसके कि हम ग्रामवासियों के सामने उन्हें

लुभाने के लिए शहर के कृत्रिम जीवन को रखें, हमें गाँव की बनी हुई चीज़ों को नमूने के रूप में अपनाना होगा।

अगर यह दृष्टिकोण सही है, तो हमें खुद ही आगे बढ़कर गाँव की बनी चीज़ों को व्यवहार में लाना चाहिए – उदाहरण के लिए, जहाँ संभव हो फाउन्टनपेन या होल्डर के बजाय हम गाँव की कलम को और बडे बड़े कारखानों की बनी स्याही की जगह गाँव की बनी स्याही को काम में लावें। मैं ऐसे और भी अनेक उदाहरण दे सकता हूँ। नित्य के उपयोग की शायद ही कोई ऐसी चीज़ हो, जो आज से पहले गाँव वालों ने नहीं बनाई हो और जिसे वे आज न बना सकते हों। अगर हम इस तरफ पूरी तरह से अपना मन लगा दें और गाँवों पर अपना ध्यान एकाग्र कर लें, तो हम बात की बात में लाखों रुपए गाँव वालों की जेब में पहुँचा सकते हैं। आज तो हम उन्हें कोई मुआवजा दिए बिना उलटे उन गरीबों को लूट-खसोट रहे हैं। इस भयंकर सर्वनाश को आगे बढ़ने से अब हमें रोक देना चाहिए। [हरिजनसेवक, ३०-११-१९३४, पृ. ३८८-८९]

सामान्य ग्रामवासियों की आज बहुत अच्छी स्थिति नहीं है। धीरे धीरे अब वहाँ धरती खरोंच-खरोंच कर दो ग्रास अन्न से पेट भरने की नौबत पहुँच रही है। आज यह बहुत कम लोगों को मालूम होगा कि हिन्दुस्तान के छोटे छोटे बचे-खुचे खेत-खलिहानों में खेती करने में किसान को लाभ के बदले हानि ही हो रही है। गाँव के लोगों में आज जीवन नहीं दिखाई देता। उनके जीवन में न आशा रही है, न उमंग; न उत्साह रहा है, न स्फूर्ति। भूख धीरे धीरे उनके प्राणों को चूस रही है। उधर कर्ज के गरदन-तोड़ बोझ से वे दबे जा रहे हैं। [हरिजनसेवक, २३-११-१९३४, पृ. ३८०]

ग्रामोद्योगों का यदि लोप हो गया, तो भारत के सात लाख गाँवों का सर्वनाश ही समझिए। [हरिजनसेवक २३-११-१९३४, पृ. ३८०]

यंत्रों से काम लेना उसी अवस्था में अच्छा होता है जब कि किसी निर्धारित काम को पूरा करने के लिए आदमी बहुत ही कम हों। परन्तु जहाँ हिन्दुस्तान की तरह कोई काम करने के लिए आवश्यकता से अधिक आदमी हों वहाँ यंत्रों का उपयोग हानिकारक होता है। [हरिजनसेवक, २३-११-१९३४, पृ. ३८०]

अगर मिलों का बना कपड़ा गाँवों के लोगों को बेकार बना रहा है, तो चावल कूटने और आटा पीसने की मिलें हजारों स्त्रियों की न केवल रोजी ही छीन रही हैं, बल्कि बदले में देश की तमाम जनता के स्वास्थ्य को हानि भी पहुँचा रही है। जहाँ लोगों को मांस खाने में कोई आपत्ति न हो और जहाँ मांसाहार पुसाता हो, वहाँ भैदे और पोलिश किए चावल से शायद हानि न होती हो; लेकिन हमारे देश में – जहाँ करोड़ों आदमी ऐसे हैं जो मांस मिले तो खाने में आपत्ति नहीं करेंगे, पर जिन्हें मांस मिलता ही नहीं – उन्हें हाथ की चक्की के पिसे हुए गेहूँ के आटे और हाथकुटे चावल के पौष्टिक तथा जीवनप्रद तत्त्वों से वंचित रखना एक प्रकार का पाप है। इसलिए डोक्टरों तथा दूसरे आहार-विशेषज्ञों को चाहिए कि मैदे और मिल के कुटे पोलिश वाले चावल से लोगों के स्वास्थ्य को जो हानि हो रही है उससे वे जनता को आगाह कर दें। [हरिजनसेवक, २३-११-१९३४, पृ. ३८०-८१]

अगर हमें ग्रामवासियों को कुछ काम देना है, तो वह यंत्रों के द्वारा संभव नहीं। उनके उद्धार का सच्चा मार्ग तो यही है कि जिन उद्योग-धंधी को वे अब तक किसी कदर करते चले आ रहे हैं, उन्हीं को भलीभाँति जीवित किया जाए। [हरिजनसेवक, २३-११-१९३४, पृ. ३८१]

इसलिए मेरे अभिप्राय के अनुसार अखिल भारत ग्रामोद्योग-संघ का काम यह होगा कि जो उद्योग-धंधे आज चल रहे हैं उन्हें प्रोत्साहन दिया जाए और जहाँ संभव और वांछनीय हो वहाँ नष्ट हो चुके या नष्ट हो रहे ग्रामोद्योगों को गाँवों की पद्धति से – अर्थात् उस रीति से जिससे अनादि काल से गाँव वाले अपनी झोंपड़ियों में काम करते चले आ रहे हैं — सजीव किया जाए। जिस प्रकार हाथ की ओटाई, घुनाई, कताई और बुनाई की क्रियाओं और औजारों में बहुत उन्नति हुई है, उसी प्रकार ग्रामोद्योगों की पद्धति में भी काफ़ी सुधार किया जा सकता है। [हरिजनसेवक, २३-११-१९३४, पृ. ३८१]

खादी गाँवों के सौर-मंडल का सूर्य है। और अन्य विविध उद्योग इस मंडल के ग्रह हैं। इन उद्योगरूपी ग्रहों को खादीरूपी सूर्य से जो गरमी और प्राणशक्ति मिल रही है, उसके बदले में वे खादी को टिकाए हुए हैं। बिना खादी के अन्य उद्योगों का विकास होना असंभव है। किन्तु मैंने अपनी गत हरिजन-यात्रा में यह देखा कि अगर दूसरे उद्योग-धंधे जिंदा न किए गए, तो खादी की अधिक उन्नति नहीं हो सकती। ग्रामवासियों में अगर उनके फुरसत के समय का सदुपयोग करने की क्रियाशीलता और क्षमता उत्पन्न

करनी है, तो ग्राम-जीवन का सभी पहलुओं से स्पर्श करके उसमें नवचेतना का संचार करना होगा। [हरिजनसेवक, २३-११-१९३४, पृ. ३८१]

ये ग्रामवासी चाहे अनिच्छा से आलस में बैठे-बैठे दिन काट रहे हों या स्वेच्छा से, तो भी विदेशी तथा देशी लुटेरों के शिकार तो इन्हें सदा बना ही रहना है। इन्हें लूटने वाले विलायत के लोग हों या हिन्दुस्तान के शहरों के लोग हों, इनकी स्थिति तो सदा ऐसी ही रहेगी। इन्हें स्वराज्य मिलने-मिलाने का नहीं। इसलिए मैंने अपने मन में कहा कि 'ये लोग अगर खादी में रस लेना नहीं चाहते, तो इन्हें कोई दूसरा काम करने के लिए कहना चाहिए। ये लोग कोई ऐसा काम क्यों न करें जो इनके बापदादा करते थे, पर जो कुछ समय से बंद हो गया है?, बहुत साल नहीं हुए जब कि ये लोग अपने नित्य के उपयोग की अनेक चीज़ें खुद ही बना लेते थे, पर अब उनके लिए उन्हें बाहर की दुनिया के आसरे रहना पड़ता है। छोटे छोटे कस्बों में रहने वाले लोगों के नित्य उपयोग की ऐसी बहुत सी चीज़ें थीं, जिनके लिए उन्हें गाँव वालों पर निर्भर रहना पड़ता था। पर अब वे लोग उन चीज़ों को शहर से मँगा लेते हैं। जिस क्षण ग्रामवासी अपने अवकाश के सारे समय को किसी उपयोगी काममें लगाने का पक्का निश्चय कर लेंगे, साथ ही शहर वाले भी इन गाँवों में बनी चीज़ों को काम में लाने का संकल्प कर लेंगे, उसी क्षण गाँव वालों तथा शहर वालों का जो पारस्परिक प्रेम-संबंध टूट गया है वह फिर से जुड़ जाएगा। [हरिजनसेवक, २१-१२-१९३४, पृ. ४१२]

शहर के लोगों से मैं यह तो कहता नहीं कि तुम गाँवों में जाकर बस जाओ। मैं तो उनसे इतना ही कहता हूँ कि तुम्हारे ऊपर गाँवों का जो ऋण है उसे तुम उतार दो। गाँव वाला न दे तो शहर वाले को कच्चे माल की एक भी चीज़ कहाँ से मिल सकती है? पहले तो गाँवों के लोग अपनी ज़रूरत की चीज़ें स्वयं तैयार करते ही थे और आज भी तैयार करते होते; परन्तु शहर वालों की लूट-खसोट के कारण बेचारे कर ही नहीं पाते। [हरिजनसेवक, २१-१२-१९३४, पृ. ४१३]

हमें यह भी देखना होगा कि ग्रामवासी सबसे पहले अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति खुद कर लें और इसके बाद ही शहर वालों की आवश्यकताओं के लिए माल पैदा करें। [हरिजनसेवक, २१-१२-१९३४, पृ. ४१३]

इसलिए ये उद्योग खादी के मुख्य काम में सहायक हो सकते हैं। खादी के अभाव में उनकी कोई हस्ती नहीं है और उनके बिना खादी का गौरव या शोभा नहीं है। हाथ से पीसना, हाथ से कूटना और कछोरना, साबुन बनाना, काग़ज़ बनाना, चमड़ा, तेल पेरना और इसी तरह के सामाजिक जीवन के लिए ज़रूरी और महत्त्व के दूसरे धंधों के बिना गाँवों की आर्थिक रचना संपूर्ण नहीं हो सकती, यानी गाँव स्वयंपूर्ण घटक नहीं बन सकते। काँग्रेसी आदमी इन सब धंधों में दिलचस्पी लेगा, और अगर वह गाँव का निवासी होगा या गाँव में जाकर रहता होगा, तो इन धंधों में नई जान फूंकेगा और इन्हें नए रास्ते ले जाएगा, हरएक आदमी को, हर हिन्दुस्तानी को, इसे अपना धर्म समझना चाहिए कि जब-जब और जहाँ-जहाँ मिलें वहाँ वह हमेशा गाँवों की बनी चीज़ें ही काम में ले। अगर ऐसी चीज़ों की माँग पैदा हो जाए, तो इसमें जरा भी शक नहीं कि हमारी ज़्यादातर ज़रूरतें गाँवों से पूरी हो सकती हैं। जब हम गाँवों के लिए सहानुभूति से सोचने लगेंगे और गाँवों की बनी चीज़ें हमें पसंद आने लगेंगी, तो पश्चिम की नकल के रूप में यंत्रों की बनी चीज़ें हमें नहीं जंचेंगी और हम ऐसी राष्ट्रीय अभिरुचि का विकास करेंगे, जो गरीबी, भुखमरी और आलस्य या बेकारी से मुक्त नए हिन्दुस्तान के आदर्श के साथ मेल खाती होगी। [रचनात्मक कार्यक्रम, १९५९, पृ. २६-२७]

ग्रामोद्योगों का यह पुनरुद्धार खादी-कार्य का ही एक विस्तृत रूप है। हाथ का कता-बुना कपड़ा, हाथ का बना काग़ज़, हाथ का कुटा चावल, घर की बनी रोटी और घर का बना अचार-मुरब्बा – ये सब पश्चिमी देशों के लिए सामान्य चीज़ें हैं। बात सिर्फ यह है कि हिन्दुस्तान में इनका जितना महत्त्व है उसका शतांश भी उन देशों में नहीं है। कारण यह है कि हमारे लिए तो इन चीज़ों का पुनरुद्धार ग्रामवासियों के जीवन का और इनका विनाश उनकी मृत्यु का प्रश्न है। यह यंत्रयुग चाहे जो करे, परन्तु यंत्रों के इस अंधाधुंध प्रवेश के कारण जो करोड़ों मनुष्य निश्चित रूप से बेकार हो जाएँगे, उन्हें इससे रोजी तो कभी मिल ही नहीं सकती। [हरिजनसेवक, ११-१-१९३५, पृ. ४४०]

इस बात का हम सबको विश्वास हो जाना चाहिए कि चरखा अहिंसक आर्थिक स्वावलम्बन का प्रतीक है। [खादी, १९५९, पृ. २००]

पहला स्थान चरखे का है। उसकी साधना से ही ग्रामोद्योग नई तालीम आदि अन्य दूसरी चीज़ें पैदा हुई हैं। अगर हम बुद्धिपूर्वक चरखे को अपना लेंगे, तो गाँवों को फिरसे जिंदा कर सकते हैं। [खादी, १९५९, पृ. २०१]

कार्यकर्ता ऐसे हों जो गाँव में जाकर इन सभी कामों में – यानी गाँव के समग्र जीवन में ओतप्रोत हो जाएँ और इन सब कामों का कुछ भी बोझ महसूस न करें। [खादी, १९५९, पृ. २१२]

चरखे को मैंने गाँवों के उत्थान का मध्यबिंदु यानी सूर्य माना है। इसके अलावा अपने गाँव में कौन से देहाती उद्योग चल सकते हैं, यह भी कार्यकर्ता को देखना होगा। इसमें प्रथम आएगी तेलघानी। मगनवाड़ी के झवेरभाई पटेलने इसका पूरा शास्त्र बना लिया है, उसे भी जानना होगा। तीसरा उद्योग है हाथ-काग़ज़ का। इसे सारे हिन्दुस्तान को काग़ज़ पूरा करने की दृष्टि से नहीं, लेकिन अपने गाँव को स्वावलम्बी बनाने और कुछ आमदनी बढ़ाने की दृष्टि से सीखना है।

तेल और हाथ-काग़ज़ के उपरांत आटे की हाथचक्की हर देहात में सजीवन करनी चाहिए। यह न हुआ तो आटे की मिल हमारे नसीब में लिखी है ही। इस बात को लेकर मेरे दिल में कई वर्षों से घबराहट-सी है। जैसे आटे का वैसे ही चावल का। यदि पूरे चावल (Whole rice) खाने की आदत हम देहाती लोगों में फिरसे न डालेंगे, तो खुराक की समस्या को हम हल न कर पाएँगे। मिल-कुटा चावल (Polished rice), सफेद चीनी वगैरा सब मनुष्य के स्वास्थ्य के लिए बड़े ही हानिकारक हैं, यह तो अब मानी हुई बात है। [खादी, १९५९, पृ. २१५-१६]

हमारे यहाँ तो हम सभी को पूरे गाँव के सर्वांगीण विकास का ज्ञान प्राप्त करना होगा। गाँव में थोड़ी सिलाई भी चलेगी। गाँव के काश्तकार, लोहार, बढ़ई, चमार आदि सभी का आपस में सहयोग कराके उनमें मेल बिठाना इसके मानी हुए ग्रामों का संगठन। ये सब बातें दीखने में बहुत कठिन हैं, परन्तु असल में वैसी नहीं है। निश्चयी तथा शरीर और बुद्धि दोनों से पूरा काम लेने वाले कार्यकर्ता को ये बहुत कठिन नहीं लगनी चाहिए। [खादी, १९५९, पृ. २१८]

हमको अब सारा काम समूचे ग्रामोत्थान की कल्पना के ढाँचे में ढालकर नए सिरेसे करना है। देखें, कहाँ तक हम इसे कर पाते हैं। एक कदम आगे जाकर भी मैं जो करने को कहता हूँ सो यह है कि

इन परिवर्तनों के कारण कुछ समय के लिए यदि हमारा काम मंद हो जाए, शून्यवत् भी हो जाए, तब भी हमें इसे करना है। खादी के बारे में जो भावना हमने लोगों में पैदा की है, वह सही होने पर भी उसकी शक्ति के विषय में जो ख़याल हमने लोगों में पैदा किया है, उसमें यदि कहीं भूल थी तो फिरसे उस पर सोचना चाहिए। हमारा दावा यदि गलत था तो घोषणा करके हमें उसे वापिस खींचना होगा।

शहर वालों से मैं कहूँगा कि आप अपने लिए खादी स्वयं पैदा कर लें। इधर-उधर से जुटाकर शहरवासियों को खादी पहुँचाने का लोभ मैं छोड़ दूँगा और फिर हम ग्रामों में डट कर बैठ जावेंगे। इस परिवर्तन के कारण कार्यकर्ता भाग जाएँगे तो हम उन्हें जाने देंगे। हमारे दिल और दिमाग का परिवर्तन जब इस हद तक होगा तब ही हम जो चाहते हैं वह परिणाम मिलने वाला है। चरखा-संघ नीतिमात्र का संरक्षक रहेगा और काम को हम जितना विभक्त कर सकेंगे, कर देंगे और सारे बोझ से हलके हो जाएँगे। फिर हम अपनी सारी शक्ति और सारा ध्यान जिस देहात में हम डटे होंगे वहीं के इर्दगिर्द के पंचकोशी में चलने वाले कामों के निरीक्षण के पीछे लगाएँगे। तब ही हम को पता चलेगा कि हमारे कामों में तथ्यांश कितना है। . . . आज तो इस काम की जितनी गहरी जड़ जा सके उतनी गहरी हमें डालनी है। [खादी, १९५९, पृ. २३५-३६]

अब मैं यही सोचता हूँ कि खेती, गोपालन और अन्य सब ग्रामीण उद्योगों को किस तरह गाँवों में फिरसे खड़ा करूँ, जिससे लोगों की स्थिति अच्छी हो। यदि मैं दो-चार गाँवों में भी यह कर सका, तो मेरी समस्या हल हो जाएगी। 'यथा पिंडे तथा ब्रह्मांडे।' [खादी, १९५९, पृ. २४०]

श्रीगणेश अपने से ही करें

बहुत से सज्जन पत्र लिखकर और अनेक मित्र खुद मुझसे मिलकर यह प्रश्न पूछ रहे हैं कि हम किस प्रकार ग्रामोद्योग-कार्य का आरंभ करें और सबसे पहले किस चीज़ को हाथ में लें?

इसका स्पष्ट उत्तर तो यही है कि “इस कार्य का श्रीगणेश आप अपने से ही करें; और सबसे पहले उसी काम को हाथ में लें, जो आपको आसान से आसान जान पड़े।” पर इस सूत्रात्मक उत्तर से पूछताछ करने वालों को संतोष थोड़े ही होता है। इसलिए मैं इसे जरा और स्पष्ट कर दूँ। |

हममें से हरएक आदमी खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने और अपने नित्य के उपयोग की चीज़ों को जाँच परख सकता है और विलायती अथवा शहर की बनी चीज़ों की जगह ग्रामवासियों की बनाई हुई उन चीज़ों को काम में ला सकता है, जिन्हें वे अपनी मढ़ैया में या खेत-खलिहान में चार-छह पैसे के मामूली औजारों से सहज ही तैयार कर सकते हैं। इन औजारों को वे लोग आसानी से चला सकते हैं और बिगड़ जाएँ तो उन्हें सुधार भी सकते हैं। विदेशी या शहर की बनी चीज़ों की जगह गाँवों की बनी चीज़ों को आप काम में लाने लगें, तो ग्रामोद्योग-कार्य का यह बड़ा अच्छा आरंभ होगा और आपके लिए यह अपने आपमें एक महत्त्व की चीज़ होगी। इसके बाद फिर क्या करना होगा, यह तो आप ही मालूम हो जाएगा। मान लीजिए कि आज तक कोई आदमी बम्बई के किसी कल-कारखाने के बने टूथब्रश से दाँत साफ करता आ रहा है। अब उसकी जगह वह गाँव का बना टूथब्रश चाहता है। तो उसे आप बबूल या नीम की दतौन से दाँत साफ करने की सलाह दें। अगर उसके दाँत कमजोर हैं या दाँत हैं ही नहीं, तो वह दतौन का एक सिरा तो लोढ़ी या हथौड़ी से कुचल ले और दूसरे सिरे को चीरकर उसकी फाँकों से जीभी का काम ले। दतौन का यह ब्रश सस्ता भी काफ़ी पड़ेगा और कारखानों के बने हुए अस्वच्छ ब्रश से स्वच्छ भी अधिक होगा। शहरों के बने दँत-मंजनों को वह छुएगा ही नहीं। वह तो लकड़ी के कोयले को खूब महीन पीसकर और उसमें थोड़ासा साफ नमक मिलाकर अपने घर में ही बढ़िया मंजन तैयार कर लेगा। मिल के बने कपड़े के बजाय वह गाँव की बुनी खादी पहनेगा, मिल के कुटे चावल की जगह हाथ के कुटे तथा बिना पोलिश किए चावल का और सफेद शक्कर के स्थान पर गाँव के बने गुड़ का उपयोग करेगा। . . . इस विषय पर मेरे साथ जिन लोगों की लिखा-पढ़ी या बातचीत चल रही है, उनकी बताई हुई कठिनाइयों को दृष्टि में रखकर मैंने पुनः खादी, चावल और गुड़ का यहाँ उल्लेख किया है। [हरिजनसेवक, २५-१-१९३५, पृ. ४६०]

दूध का उद्योग

हमारे ढोरों की दुर्दशा का एकमात्र कारण हमारी निर्दय लापरवाही है। हालाँकि हमारे पिंजरापोल हमारी दयावृत्ति पर खड़ी हुई संस्थाएँ हैं, तो भी वे उस वृत्ति का अत्यंत भद्दा अमल करने वाली संस्थाए ही हैं। आदर्श डेरियाँ बनने और लाभदायक राष्ट्रीय संस्थाएँ बनने के बजाय वे केवल बूढ़े और कमजोर ढोरों

के आश्रय-स्थान बने हुए हैं। . . . . आज तो गोरक्षा-धर्म का दावा करने वाले हम लोग गाय और उसके वंश को गुलाम बनाकर स्वयं भी गुलाम बने हुए हैं। [हिन्दी नवजीवन, ७-१०-१९२१, पृ. ६२]

आदर्श गोशाला अपने शहर को अपने ही पाले हुए ढोरों का अच्छा और सस्ता दूध काफ़ी मात्रा में पहुँचाएगी और कतल किए हुए ढोरों के नहीं बल्कि मरे हुए ढोरों के चमड़े से बने सस्ते और टिकाऊ जूते लैयार करके देगी। ऐसी गोशाला शहर के मध्य में या उसके आसपास कहीं नजदीक में एक या दो एकड़ ज़मीन पर नहीं हो सकती; वह तो शहर से दूर जंगल में ५० या १०० एकड़ ज़मीन पर ही हो सकती है। वहाँ डेरी और चमड़े का कारखाना भी होगा और वे पूर्ण व्यावसायिक परन्तु राष्ट्रीय दृष्टि से चलाए जाएँगे। इस प्रकार न तो कोई मुनाफा होगा और न मुनाफे का हिस्सा बाँटा जाएगा; साथ ही कोई नुकसान भी नहीं उठाना होगा। कुछ समय बाद जब सारे हिन्दुस्तान में जगह जगह ऐसी गोशालाएँ बन जाएँगी तब वह समय हिन्दू धर्म की संपूर्ण सफलता का समय होगा। और यह गोरक्षा अर्थात् चौपायों की रक्षा के संबंध में हिन्दुओं की सच्ची भावना का प्रमाण होगा। इससे हजारों आदमियों को, शिक्षित मनुष्यों को भी प्रामाणिक रोजी मिलेगी; क्योंकि डेरी और चमड़े के काम में बड़े ही ऊँचे प्रकार के वैज्ञानिक ज्ञान की आवश्यकता होती है। डेरी संबंधी उत्तम से उत्तम अनुभवों के लिए हिन्दुस्तान ही आदर्श राज्य हो सकता है, डेन्मार्क नहीं। हिन्दुस्तान को सालाना ९ करोड़ रुपयों का मरे ढोरों का चमड़ा विदेशों को नहीं भेजना चाहिए और कतल किए हुए ढोरों का चमड़ा अपने उपयोग में नहीं लाना चाहिए, क्योंकि यह उसके लिए लज्जा की बात है। और यदि यह भारत के लिए लज्जा की बात है, तो हिन्दुओं के लिए तो और भी अधिक लज्जा की बात है। मैं चाहता हूँ कि गिरीडीह के अभिनंदन-पत्र का उत्तर देते हुए मैंने जो कुछ कहा है, उस पर सभी गोशाला-समितियाँ ध्यान दें और वे अपनी गोशालाओं को सभी प्रकार की बूढ़ी तथा निकम्मी गायों के आश्रय-स्थानों में, और आदर्श डेरियों में चमड़े के कारखानों में बदल दें। [हिन्दी नवजीवन, २९-१०-१९२५, पृ. ८५-५६]

हरएक गोशाला या पिंजरापोल में – गोरक्षिणी संस्था में – ऐसा चर्मालय होना ही चाहिए जो उसके लिए काफ़ी हो, अर्थात् जो ढोर मरें उनका प्रारंभिक उपयोग करना व्यवस्थापक को आना चाहिए। अगर ऐसा किया जाए तो यह प्रश्न उठता ही नहीं है कि प्रत्येक गोशाला में कितने जानवर होने चाहिए।

मुझे मालूम नहीं कि गोशालाओं में पशुओं की मृत्युसंख्या कितनी है। मगर चर्मालय की आवश्यकता प्रमाणित करने के लिए यह संख्या जानना ज़रुरी नहीं है ! चाहे एक ही ढोर मरे, तो भी जैसे ढोर के जीते-जी उसे दाना-चारा देकर उसकी सार-संभाल की क्रिया गोसेवक जानता है, वैसे ही मरने के बाद की क्रिया भी उसे जान ही लेना चाहिए |

गाँव में मरने वाले पशुओं पर भी स्वभावत: ऐसी धार्मिक संस्था का ही अधिकार होना चाहिए। इसमें चमारों, ढोरों और जनता तीनों की रक्षा है। जहाँ गोशाला या चर्मालय न हो वहाँ ढोर मरे तो गोरक्षा का धर्म स्वीकार करने वाले नागरिकों द्वारा उसे नजदीक से नजदीक की गोशाला में पहुँचा दिया जाए, या उस ढोर की लाश पर प्रारंभिक क्रिया करके बाकी के भाग वहाँ पहुँचा दिए जाएँ।

मेरे सुजाए हुए चर्मालय के लिए बड़ी पूंजी की आवश्यकता नहीं हैं। हाँ, इस शास्त्र को जानने वाले गोसेवक तैयार करने में जो खर्च हो उसकी आवश्यकता है। [गोसेवा, १९६१, पृ. ४९]

हाथकुटा चावल और हाथपिसा आटा

अपने शत-प्रतिशत स्वदेशी के लेख में मैंने यह बताया है कि उसके कुछ अंग तो तुरंत हाथ में लिए जा सकते हैं और इस तरह देश के करोड़ों भूखों मरने वाले लोगों को आर्थिक तथा आरोग्य की दृष्टि से लाभ पहुँच सकता है। देश के धनाढ्य से धनाढ्य लोगों को इस लाभ में भाग मिल सकता है। चावल को ही लीजिए। अगर धान को गाँवों में उसी पुरानी रीति से ऊखली और मूसल से कूटा जाए, तो कूटने वाली बहनों को तो रोजी मिलेगी ही; साथ ही करोड़ों मनुष्यों को, जिन्हें मशीन का कुटा चावल खाने से निरा 'स्टार्च' मिलता है, हाथ के कुटे चावल से कुछ पौष्टिक तत्त्व भी मिलने लगेंगे। हमारे देश के जिन भागों में धान की फसल होती हैं, वहाँ प्राय: सब जगह धान कूटने के बड़े बड़े कारखाने खुल गए हैं। इसका कारण है मनुष्य की लोभवृत्ति। मनुष्य की भयानक लोभवृत्ति न तो प्रजा के स्वास्थ्य का विचार करती है, न संपत्ति का। अगर लोकमत प्रबल हो तो वह हाथकुटे चावल के उपयोग का ही आग्रह कायम रखेगा। चावल के मिल-मालिकों से वह अनुरोध करेगा कि ऐसे हानिकारक धंधे को वे बंद कर दें, जो राष्ट्र के स्वास्थ्य को चौपट कर रहा है और गरीब लोगो के हाथों से ईमानदारी से गुजर-बसर करने का

एक जरिया छीन रहा है; और इस तरह वह धान कूटने की मिलों का चलना असंभव कर देगा। [हरिजनसेवक, २-११-१९३४, पृ. ३५७]

अगर हजारों गाँवों में आटा पीसने की चक्कियाँ है और वे एन्जिन से चलती हैं, तो मैं इसे हमारी लाचारी की सीमा समझता हूँ। मेरा ख़याल है कि हिन्दुस्तान में कहीं इतनी चक्कियाँ या इतने एन्जिन नहीं बनते। . . . ये इतने ज़्यादा एन्जिन और चक्कियाँ गाँवों में डालना इनके मालिकों के अतिलोभ का सूचक है। क्या गरीब लोगों को इस हद तक मोहताज बनाकर धन कमाना मुनासिब होगा? फिर, इस तरह की एन्जिन वाली चक्कियों को रखने से आज देहात में चलने वाली पत्थर की चक्कियाँ बेकार हो जाएँगी। चक्की बनाने का उद्योग करने वाले लोग भी बेकार हो जाएँगे। इस तरह तो गाँव के उद्योगों का और उनके साथ कला का भी लोप हो जाएगा। एक उद्यम का लोप होकर अगर दूसरा उपयोगी उद्यम शुरू हो जाए, तब तो शायद बहुत कहने को न रहे। मगर मैं नहीं जानता कि कहीं ऐसा हुआ है। इसके सिवा, हाथ की चक्की चलाने वाले बड़े तड़के प्रभातियों और भजनों का जो मधुर संगीत बहाते हैं, उसका भी लोप हो जाएगा। [हरिजनसेवक, १०-३-१९४६, पृ. ४०]

मिल का तेल और धानी का तेल

श्री झवेरभाईने गाँव की धानी की गिरावट के कारणों की भी जाँच की है। सबसे जबरदस्त कारण तो उन्होंने यह बताया है कि तेली में अपने धंधे के लिए ज़रूरी तिलहन नियमित रूप से प्राप्त करने की क्षमता नहीं होती। मौसम समाप्त होने पर गाँवों में तिलहन देखने को भी नहीं मिलता। तेली के पास इतने रुपए नहीं होते कि वह तिलहन का संग्रह कर सके; शहरों में जाकर तो वह तिलहन खरीद ही नहीं सकता। इसलिए तेली का गाँव में लोप हो गया है अथवा बड़ी तेजी से लोप होता जा रहा है। लाखों धानियों के आज बेकार पड़े होने से देश की साधन-सामग्री की भयानक बरबादी हो रही है। तिलहन के उत्पादन-क्षेत्रों में उसे सुरक्षित रखकर और उचित भाव पर गाँव के तेलियों को मुहैया करके गाँव की धानियों को फिरसे जिलाने का कार्य निश्चित रूप से सरकार का है। इस प्रकार की मदद करने से सरकार को कोई नुकसान नहीं होता है। श्री झवेरभाई का कहना है कि यह मदद सहकारी समितियों या ग्राम-पंचायतों के जरिए दी जा सकती है। धानी-उद्योग की शोध के आधार पर श्री झवेरभाई का यह मत है कि यदि ऐसा किया जाए तो गाँव की धानी का तेल मशीन के तेल से प्रतिस्पर्धा कर सकेगा और गाँव

के लोगों को आज जो मिलावटी तेल मिलता है उसके कष्ट से उन्हें बचाया जा सकता है। यह याद रखना ज़रूरी है कि गाँव वाले को जो एकमात्र चिकनाई मिलती है वह तेल से ही मिलती है। घी तो उस बेचारे को आम तौर पर देखने को भी नहीं मिलता।

मिल का तेल धानी के तेल से क्यों सस्ता पड़ता है, इसका पता भी श्री झवेरभाईने लगाया है। उन्होंने इसके तीन कारण दिए हैं, जिनमें से दो कारण अनिवार्य हैं। पहला तो है पूँजी; और दूसरा है तिलहन में से आखिरी बूँद तक तेल निकालने की मशीन की शक्ति – वह भी धानी से कम समय में। ये लाभ तेल-मिल के मालिक को आढ़तियों को जो दलाली देनी पड़ती है उससे बराबर हो जाते हैं। लेकिन श्री झवेरभाई तीसरी बुराई का – मिलावट का – सामना नहीं कर सकते, सिवा इसके कि वे खुद भी इस बुराई को अपना लें। यह स्वाभाविक है कि वे ऐसा नहीं करेंगे। इसलिए उन्होंने सुझाया है कि मिलावट की बुराई कानून द्वारा दूर की जाए। यह काम दो तरह से किया जा सकता है: या तो कोई मिलावट-विरोधी कानून बन चुका हो तो उस पर अमल किया जाए; या ऐसा कानून बनाया जाए और तेल-मिलों को परवाने लेने के लिए बाध्य किया जाए। [हरिजन, २-९-१९३९ पृ. २५३]

गुड़ और खांड़सारी

कपड़े के उद्योग के बाद दूसरे नम्बर का बड़ा उद्योग शक्कर का है। इस उद्योग को हमारी मदद की बिलकुल ज़रूरत नहीं है। शक्कर के कारखानों की संख्या बड़ी तेजी से बढ़ रही है। इस उद्योग का विकास लोकप्रिय संस्थाओं की मदद लेने से नहीं हुआ है। इसका विकास तो अनुकूल कायदे-कानून के कारण हुआ है। और आज यह उद्योग इतना समृद्ध हो गया है और इतना फैल रहा है कि गुड़ का उत्पादन भूतकाल की वस्तु होता जा रहा है। यह तो निर्विवाद बात है कि गुड़ में शक्कर की अपेक्षा अधिक पोषक तत्त्व हैं। यह अतिशय मूल्यवान ग्रामोद्योग आपकी मदद के लिए पुकार मचा रहा है। इस एक ही उद्योग में शोध और ठोस मदद के लिए काफ़ी गुंजाइश है। हमें उन तरीकों और साधनों की शोध करना है, जिनसे इस उद्योग को जीवित रखा जा सके। यह तो जो कुछ मैं कहना चाहता हूँ उसे समझाने के लिए एक उदाहरणमात्र है। [सेंट परसेंट स्वदेशी, १९५८, पृ. ५]

ताड़ी में जो गुण माने जाते हैं, वे सब हमें दूसरी खुराक में मिल जाते हैं | ताड़ी खजूरी के रस से बनती है। खजूरी के शुद्ध रस में मादकता बिलकुल नहीं होती। उसे नीरा कहते हैं। ताजी नीरा पीने से कई लोगों को दस्त साफ आता है। मैंने खुद नीरा पीकर देखी है। लेकिन मुझ पर उसका ऐसा असर नहीं हुआ। परन्तु वह खुराक का काम तो अच्छी तरह से देती है। चाय इत्यादि के बदले मनुष्य सबेरे नीरा पी ले, तो उसे दूसरा कुछ पीने या खाने की आवश्यकता नहीं रहनी चाहिए। नीरा को गन्ने के रस की तरह पकाया जाए, तो उससे बहुत अच्छा गुड़ तैयार होता है। खजूरी ताड़ की एक जाति है। हमारे देश में अनेक प्रकार के ताड़ कुदरती तौर पर उगते हैं। उन सबमें से नीरा निकल सकती है। नीरा ऐसी चीज़ है जिसे निकालने की जगह पर ही तुरंत पीना अच्छा है। नीरा में मादकता जल्दी पैदा हो जाती है। इसलिए जहाँ उसका तुरंत उपयोग न हो सके, वहाँ उसका गुड़ बना लिया जाए तो वह गन्ने के गुड़ की जगह ले सकता है। कई लोग मानते हैं कि ताड़-गुड़ गन्ने के गुड़ से अधिक गुणकारी है। उसमें मिठास कम होती है। इसलिए वह गन्ने के गुड़ की अपेक्षा अधिक मात्रा में खाया जा सकता है। ग्रामोद्योग-संघ के द्वारा ताड़-गुड़ का काफ़ी प्रचार हुआ है। मगर अभी और ज़्यादा मात्रा में इसका प्रचार होना चाहिए। जिन ताड़ों के रस से ताड़ी बनाई जाती है उन्हीं से गुड़ बनाया जाए, तो हिन्दुस्तान में गुड़ और खांड की तंगी कभी पैदा न हो और गरीबों को सस्ते दाम में अच्छा गुड़ मिल सके। ताड़-गुड़ की मिश्री और शक्कर भी बनाई जा सकती है। मगर गुड़ शक्कर या चीनी से बहुत अधिक गुणकारी है। गुड़ में जो क्षार होते हैं वे शक्कर या चीनी में नहीं होते। जैसे बिना भूसी का आटा और बिना भूसी का चावल होता है, वैसे ही बिना क्षार की शक्कर को समझना चाहिए। अर्थात् यह कहा जा सकता है कि खुराक जितनी अधिक स्वाभाविक स्थिति में खाई जाए, उतना ही अधिक पोषण उसमें से हमें मिलता हैं। [आरोग्य की कुँजी, १९५९, पृ. २३-२४]

मधुमक्खी-पालन

मुझे ऐसा लगता है कि मधुमक्खियाँ पालने के उद्योग का हमारे देश में बेहद विकास हो सकता है। गाँवों की दृष्टि से तो इस उद्योग का महत्त्व है ही; पर धनाढ्य युवक और युवतियाँ इस काम को शौकिया भी कर सकते हैं। इस काम को करते हुए वे देश की संपत्ति बढ़ायेंगे और अपने लिए उत्तम से उत्तम स्वास्थ्यप्रद शक्कर पैदा करेंगे। अगर उनकी वृत्ति परमार्थ की ओर हो, तो वे शहद को बतौर एक पौष्टिक

आहार के अस्वस्थ हरिजन बालकों में बाँट सकते हैं। शहद श्रीमानों के शौक की चीज़ या वैद्य हकीमों के हाथ में एक क़ीमती दवा के ही रूप में क्यों रहे? इसमें शक नहीं कि अपनी नगण्य जानकारी के आधार पर बनाए हुए अनुमानों पर ही मेरी यह आशा निर्भर करती है। गाँवों और शहरों में युवक-युवतियाँ जो प्रयोग करें, उनसे वह मालूम होना चाहिए कि शहद हमारे आहार की सामान्य वस्तु हो सकता है, या आज की भाँति वह असाधारण या दुर्लभ वस्तु ही बना रहेगा। [हरिजनसेवक, ८-२-१९३५, पृ. ४७७]

चमड़े का धंधा

हिसाब लगाकर देखा गया है कि नौ करोड़ रुपये का कच्चा चमड़ा हर साल हिन्दुस्तान से बाहर जाता है और वह सबका सब बनी-बनाई चीज़ों के रूप में फिर यहाँ वापस आ जाता है। यह देश का सिर्फ आर्थिक ही नहीं, परन्तु बौद्धिक शोषण भी है। चमड़ा कमाने और हमारे नित्य के उपयोग में आने वाली उसकी अनगिनत चीज़ें बनाने की शिक्षा हमें आज कहाँ मिल रही है?

इस हुनर में काफ़ी वैज्ञानिक दिमाग चाहिए। हजारों रसायन विशारद चाहें तो इस महान उद्योग में अपनी आविष्कारक शक्ति का काफ़ी उपयोग कर सकते हैं। उसे विकसित करने के दो मार्ग हैं। एक तो यह है कि जो हरिजन गाँवों में रहते हैं और गाँव की खास बस्ती से दूर, समाज के संसर्ग से अलग, टूटे-फूटे गँदे झोंपड़ों में पड़े सड़ रहे हैं और बड़ी मुश्किल से किसी तरह अपना पेट पाल रहे हैं, उनकी मदद करके उन्हें ऊँचा उठाया जाए। इसका यह अर्थ भी है कि गाँवों को पुनः संगठित करने में अर्थात् कला, शिक्षा, स्वच्छता, समृद्धि और प्रतिष्ठा की वहाँ फिरसे स्थापना करने में हमारे रसायन-विशारदों की बुद्धि का उपयोग हो। रसायनशास्त्रियों को चाहिए कि वे चमड़ा कमाने की अच्छी से अच्छी वैज्ञानिक क्रियाएँ ढूँढ़ निकालें। गाँव के रसायनशास्त्री को नम्रतापूर्वक इस कला पर अधिकार करना है। चमड़ा कमाने की अनघड़ कला गाँवों में अभी तक जीवित है, पर प्रोत्साहन न मिलने से और दुर्लक्ष के कारण वह भी बड़ी तेजी से लुप्त होती जा रही है। इन रसायनशास्त्रियों को वह कला सीखनी और समझनी चाहिए। उस अनघड़ पद्धति को यकायक नहीं छोड़ देना चाहिए; पहले कमसे कम उसकी अच्छी तरह परीक्षा तो होनी ही चाहिए। उस पद्धति से सदियों तक बड़ी अच्छी तरह काम चला है। अगर उसमें कोई गुण नहीं होता, तो उससे यह काम नहीं चलता। जहाँ तक मैं जानता हूँ, हमारे देश में शांतिनिकेतन में ही इस

विषय की शोध हो रही है। उसके बाद साबरमती आश्रम में इस काम का आरंभ किया गया। शांतिनिकेतन के प्रयोग ने कितनी उन्नति की है, इसका पता मैं नहीं लगा सका हूँ। साबरमती आश्रम के स्थान पर अब जो हरिजन-आश्रम है, उसमें इस काम को फिर से आरंभ करने की पूरी संभावना है। यह शोधकार्य तो समुद्र के समान है; उसमें हमारे इन प्रयोगों को तो आप बिंदुमात्र ही समझें।

गोरक्षा हिन्दू धर्म का एक अविभाज्य अंग है। कोई भी सच्चा हरिजन खाने के लिए गाय-भैंस को नहीं मारेगा। किन्तु अस्पृश्य बनकर उसने मुर्दार मांस खाने की बुरी आदत सीख ली है। वह गाय की हत्या तो नहीं करेगा, परन्तु मरी हुई गाय का मांस बड़े ही स्वाद से खाएगा। शारीरिक दृष्टि से यह मांस शायद हानिकारक न हो, लेकिन मनोवैज्ञानिक दृष्टि से तो मुर्दार मांस खाने जैसी घृणा पैदा करने वाली दूसरी कोई चीज़ है ही नहीं। तो भी चमार के घर में जब मरी हुई गाय आती है, तब उसका सारा कुटुम्ब आनंद से फूला नहीं समाता। बालक तो लाश के चारों ओर नाचने लगते हैं और जब उसकी खाल उघेड़ी जाती है तब हड्डियों और मांस के लोथड़ों को वे एक-दूसरे पर फेंकते हैं। अपना घरबार त्यागकर हरिजन-आश्रम में जो एक चमार रहता है, उसने खुद अपने घर का खाका खींचते हुए मुझसे कहा कि मुर्दार जानवर को देखते ही चमार का सारा कुटुम्ब आनंद-विभोर हो जाता है। मैं ही जानता हूँ कि हरिजनों के बीच काम करते हुए उनसे मुर्दार मांस खाने की यह आत्मघातिनी कुटेव छुड़ाने में मुझे कितनी कठिनाइ पड़ी है। चमड़ा कमाने की रीति में सुधार हो जाए, तो मुर्दार मांस का यह रिवाज आप ही बंद हो जाएगा।

इसमें ऊँची बुद्धि और चीरफाड़ की कला की ज़रूरत है। गोरक्षा की दिशा में भी इस काम के सहारे हम काफ़ी आगे बढ़ सकते हैं। अगर हमने गाय की दूध देने की शक्ति बढ़ाने की कला नहीं सीखी, उसकी संतति में हमने सुधार नहीं किया और उसके बछड़े को खेती तथा गाड़ी खींचने के काम के लिए अधिक उपयोगी न बनाया, गाय के गोबर व मूत्र का खाद में उपयोग नहीं किया और गाय तथा उसके बछड़ों को मरने पर उनकी खाल, हड्डियाँ, मांस, आदि का अच्छे से अच्छा उपयोग करने के लिए अगर हम तैयार नहीं हुए, तो गाय को कसाई के हाथों मरना ही है।

अभी तो मैं सिर्फ ढोरों की लाशों की ही बात कर रहा हूँ। यहाँ हमें इतना भलीभाँति स्मरण रखना चाहिए कि ईश्वर की कृपा से गाँवों में चमार को कतल किए हुए ढोरों की नहीं, किन्तु केवल मौत से मरे हुए ढोरों की ही खाल उघड़नी पड़ती है। उसके पास मरे हुए ढोर को अच्छी तरह उठा कर ले जाने का

कोई साधन नहीं होता। वह उसे उठाता है, घसीटता है और इससे ढोर की खाल खराब हो जाती है। कटे-फटे चमड़े के दाम भी कम मिलते हैं। चमार जो अनमोल और सुंदर समाज-सेवा करता है, उसका अगर गाँव वालों और जनता को भान हो, तो वे लाश को उठा ले जानेका कोई ऐसा आसान और सादा तरीका ढूँढ़ निकालेंगे, जिससे चमड़े को जरा भी नुकसान न पहुँचने पाये।

इसके बाद की क्रिया है ढोर की खाल उतारने की। इसमें भारी सुघड़ता की ज़रूरत है। मैंने सुना है कि गाँव का चमार अपनी गाँव की बनी हुई छुरी से इस चीर-फाड़ को जिस कुशलता से और जितनी जल्दी करता है, उस सुघड़ता से और उतनी जल्दी दूसरा कोई, यहाँ तक कि डोक्टर भी नहीं कर सकता। इस विषय का ज्ञान रखने वालों से मैंने इस संबंध में जब पूछताछ की, तो गाँव के चमार के चीर-फाड़ के तरीके से कोई बेहतर तरीका वे मुझे नहीं बता सके। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि इससे बेहतर तरीका दूसरा है ही नहीं। मैं तो पाठकों को अपने अत्यंत सीमित अनुभव का लाभ बता रहा हूँ। गाँव का चमार हड्डियों का कोई भी उपयोग नहीं कर सकता। हड्डियों को वह फेंक देता है। खाल उघेड़ते समय लाश के इर्दगिर्द जो कुत्ते घूमते रहते हैं, वे सब नहीं तो कुछ हड्डियाँ तो उठा ही ले जाते हैं। यह देश के लिए भारी नुकसान है। कुत्तों की छीना-झपटी से बाकी जो हड्डियाँ बच रहती है, वे विदेशों को भेज दी जाती है और वहाँ से मूठ, बटन वगैरा के रूप में वे फिर यहीं वापस आ जाती हैं। इन हड्डियों का अगर अच्छा चूरा बना लिया जाए, तो उसकी बहुत बढ़िया खाद हो सकती है।

दूसरा रास्ता इस महान उद्योग को शहरों में ले जाने का है। हिन्दुस्तान में चमड़े के कई कारखाने आज यह काम कर रहे हैं। उन सबकी परीक्षा करना इस लेख का उद्देश्य नहीं है। शहरों में इस उद्योग को ले जाने से हरिजनों को शायद ही कोई फायदा होगा; गाँवों को तो कुछ भी लाभ पहुँचने वाला नहीं है। इस प्रक्रिया से गाँवों की दूनी बरबादी होगी। भारत में उद्योग-धंधों को शहर में ले जाने और बड़े-बड़े कारखानों के द्वारा उन्हें चलाने का अर्थ है गाँवों को और गाँवों की जनता को धीरे धीरे परन्तु अचूक रीति से मौत के मुँह में धकेलना। शहर के उद्योग भारत के ७ लाख गाँवों में बसने वाली उसकी ९० फीसदी जनसंख्या को कभी सहारा नहीं दे सकते। गाँवों से चमड़े के धंधे को तथा ऐसे ही दूसरे उद्योगों को हटा देने का अर्थ तो यही होगा कि वहाँ हाथ और बुद्धि के कौशल को काम में लाने का जो थोड़ा-सा अवसर अभी किसी तरह बच रहा है वह भी उनसे छीन लिया जाए। और जब गाँव के उद्योग-धंधे

नष्ट हो जाएँगे तब ढोरों के साथ खेत में मज़दूरी करना और बरस के छह या चार महिने आलस में बैठे बैठे बिताना – बस इतना ही ग्रामवासियों के नसीब में रह जाएगा। ऐसा हुआ तब तो स्व. मधुसूदन दास के शब्दों में यही कहना चाहिए कि गाँव के मनुष्य जानवरों जैसे हो जाएँगे – न तो उन्हें मानसिक पोषण कहीं से मिलेगा, न शारीरिक; और इसके फलस्वरूप उनकी आशा और आनंद नष्ट हो जाएँगे।

यहाँ शत-प्रतिशत स्वदेशी-प्रेमी के लिए काफ़ी काम पड़ा हुआ है। साथ ही एक बहुत बड़ा सवाल हल करने में जिस वैज्ञानिक ज्ञान की आवश्यकता है, उसे काम में लाने का क्षेत्र भी मौजूद है। इस एक काम से तीन अर्थ सधते है। एक तो इससे हरिजनों की सेवा होती है, दूसरे ग्रामवासियों की सेवा होती है और तीसरे मध्यम वर्ग के जो बुद्धिशाली लोग रोजगार-धंधे की खोज में फिरते हैं, उन्हें जीविका का एक प्रतिष्ठित साधन मिल जाता है। और यह लाभ तो जुदा ही है कि गाँव की जनता के सीधे संपर्क में आने का भी उन्हें सुंदद अवसर मिलता है। [हरिजनसेवक, १४-९-१९३४, पृ. ३०१]

साबुन

साबुन जैसी चीज़ें सज्जी मिट्टी से घर में ही बनाकर ग्रामवासी साफ रहेंगे। उस साबुन में टाटा के या गोदरेज साबुन के कारखानों की खुशबू नहीं होगी, न वैसा सुहावना पैकिंग होगा। परन्तु देहात के लिए खादी के जितना ही उपयोगिता और स्वावलम्बन उसमें भरा होगा। [खादी, १९५९, पृ. २४६]

हाथ-बना काग़ज़

मुझे बतलाया गया था कि अगर काफ़ी माँग हो तो यह काग़ज़ उसी भाव पर दिया जा सकता है, जिस भाव पर मिल का बना काग़ज़ बिक रहा है। | मैं जानता हूँ कि हाथ का बना देशी काग़ज़ नित्यप्रति बढ़ती हुई काग़ज़ की माँग को कभी पूरा नहीं कर सकता। पर सात लाख गाँवों और वहाँ की दस्तकारियों के भक्त अगर हाथ का बना काग़ज़ आसानी से मिल सके तो उसी कागज़ पर लिखना पसंद करेंगे। जो लोग हाथ के बने काग़ज़ को काम में लाते हैं, उन्हें यह मालूम है कि उसमें अपनी एक खास मनोहरता होती है। अहमदाबाद के प्रसिद्ध कागज़ को कौन नहीं जानता? मिल का काग़ज़ अहमदाबादी काग़ज़ के टिकाऊपन और चिकनाहट का क्या मुकाबला करेगा?

पुराने ढँग के सब बही-खाते अब भी उसी काग़ज़ के बनते हैं। पर दूसरी बहुतसी ऐसी दस्तकारियों की तरह संभवतः यह उद्योग भी अब आखिरी सौसें गिन रहा है। थोड़ा ही प्रोत्साहन मिलने से यह उद्योग मृत्यु के मुख में जाने से बच सकता है। अगर ठीक तरह से देखभाल की जाए, तो इसके बनाने की रीतियों में सुधार हो जाए; और हाथ के बने काग़ज़ में जो दोष आज दिखाई देते हैं वे आसानी से दूर हो जाएँ। इन अप्रसिद्ध उद्योग-धंधों में जो असंख्य आदमी लगे हुए हैं, उनकी आर्थिक अवस्था की भलीभाँति जाँच-पड़ताल क्यों न की जाए? इस काममें रस लेनेवाले लोग अगर उन्हें सही राह बतावें और काम की सलाह दें, तो वे निश्चय ही ऐसे लोगों की बात मानेंगे और उनके कृतज्ञ होंगे। [हरिजनसेवक, ३१-८-१९३४, पृ. २८४]

स्याही

यह स्याही, जिससे मैं लिखता हूँ, टिनाली (मद्रास) की बनी हुई है। इससे १२ आदमियों की जीविका चल रही है। कठिनाई से किसी तरह वे काम को चलाए जा रहे हैं। तीन और नमूने स्याही के मेरे पास अलग अलग बनाने वालों ने भेजे थे। उन सबका भी हाल टिनाली वालों के जैसा ही है। मुझे उनका काम अच्छा लगा। मैंने उनसे पत्रव्यवहार किया। पर इससे अधिक मैं उनके लिए कुछ नहीं कर सका। स्वदेशी संघ हो तो वह वैज्ञानिक ढंग से इन स्याहियों की जाँच-पड़ताल करे और जो सबसे अच्छी चलने वाली हों उन्हें प्रोत्साहन दे। स्याही का यह उद्योग है तो अच्छा और तरक्की भी कर रहा है, पर इसे अच्छे रासायनिक साधनों की ज़रूरत है। [हरिजनसेवक, ३१-८-१९३४, पृ. २८४]

ग्राम-प्रदर्शन

यदि हम चाहते हैं और इसमें विश्वास रखते हैं कि गाँव केवल जिन्दे ही न रहें, बल्कि मज़बूत और खुशहाल भी बनें, तो इसके लिए ग्रामदृष्टि ही सच्ची दृष्टि है। अगर यह सच हो तो हमारे ग्राम-प्रदर्शनों में शहरों की तड़क-भड़क और दिखावे के लिए कोई जगह नहीं हो सकती। वहाँ शहरों के खेल-तमाशों और दूसरे मनोरंजनों की कोई आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। ग्राम-प्रदर्शन को तमाशा नहीं बन जाना चाहिए, न उसे कमाई का जरिया ही बनना चाहिए। उसे व्यापारियों के विज्ञापन का साधन तो कभी बनना ही नहीं चाहिए। वहाँ चीज़ों की बिक्री की इजाजत नहीं होनी चाहिए। यहाँ तक कि खादी और

ग्रामोद्योग की चीज़ें भी नहीं बेची जानी चाहिए। ग्राम-प्रदर्शन शिक्षा का साधन होना चाहिए; वह आकर्षक होना चाहिए और ऐसा होना चाहिए जो ग्रामवासियों में एक या दूसरा ग्रामोद्योग अपनाने की भावना उत्पन्न करे। उसे आज के ग्राम-जीवन के ज्वलन्त दोष और कमियाँ बतानी चाहिए और उन्हें दूर करने के उपाय बताने चाहिए। उसे यह भी बता सकना चाहिए कि जबसे ग्राम-सुधार का विचार प्रचलित हुआ और उस पर अमल किया जाने लगा, तबसे आज तक में इन दोषों और कमियों को दूर करने में कितनी सफलता मिली है। उसे यह भी सिखाना चाहिए कि ग्राम-जीवन को कलात्मक और सुंदर कैसे बनाया जाए।

अब हम यह देखें कि ऊपर की शर्ते पूरी करने वाला ग्राम-प्रदर्शन कैसा होगा।

१. उसमें गाँवों के दो नमूने होने चाहिए – एक आज के गाँव का नमूना और दूसरा सुधरे हुए गाँव का नमूना। सुधरा हुआ गाँव चारों तरफ बिलकुल साफ-सुथरा होगा। उसके मकान, उसकी सड़कें, उसके आसपास का वातावरण और उसके खेत सब साफ-स्वच्छ होंगे | मवेशी की हालत भी सुधरनी चाहिए। कौनसे ग्रामोद्योग अधिक आमदनी देते हैं और कैसे, यह बताने के लिए पुस्तकों, चित्रों और नकशों का उपयोग किया जाना चाहिए ।

२. प्रदर्शन को यह दिखाना चाहिए कि विभिन्न ग्रामोद्योग कैसे चल्लाए जाएँ, उनके लिए आवश्यक औजार कहाँ से प्राप्त किए जाएँ और उन औजारों को कैसे तैयार किया जाए। प्रत्येक उद्योग की सारी प्रक्रियाएँ प्रत्यक्ष करके दिखाई जाएँ। इनके साथ नीचे की बातों को भी प्रदर्शन में स्थान मिलना चाहिए :

   (क) आदर्श ग्राम-आहार।

   (ख) ग्रामोद्योग और यंत्रोद्योग की तुलना।

   (ग) पशुपालन के प्रत्यक्ष पाठ।

   (घ) कला-विभाग।

   (ङ) गाँव के पाखाने का नमूना।

   (च) सजीव खाद बनाम रासायनिक खाद।

   (छ) पशुओं के चमड़े, हड्डियों वगैरा का उपयोग।

(ज) ग्राम-संगीत, तरह-तरह के ग्रामवाद्य, ग्राम-नाटक।

(झ) गाँव के खेलकूद, अखाड़े और विभिन्न कसरतें।

(ञ) नई तालीम।

(ट) गाँव की दवाइयाँ।

(ठ) गाँव का प्रसूति-गृह।

आरंभ में सूचित की गई नीति के आधार पर इस सूची को और भी बढ़ाया जा सकता है। इतनी बातें तो मैंने यहाँ उदाहरण के तौर पर दे दी हैं। यह सूची अपने-आप में पूर्ण नहीं मानी जानी चाहिए। इसमें मैंने चरखे और अन्य ग्रामौद्योगों का कोई उल्लेख नहीं किया है, क्योंकि उनका अस्तित्व तो मैं मानकर ही चला हूँ। उनके बिना ग्राम-प्रदर्शन बिलकुल निकम्मा होगा। [ग्रामोद्योग पत्रिका, जुलाई १९४६]

२१. गाँवों का यातायात

गाँव की गाड़ी की हिमायत

बड़ोदा के श्री ईश्वरभाई एस. अमीनने मशीन के मुकाबले पशुओं के सामर्थ्य के विषय में एक लम्बा पत्र मेरे पास भेजा है। उसमें से प्रस्तुत बातें मैं यहाँ देता हूँ :

"खेतों में या थोड़ी दूर के काम में पशुओं का उपयोग करना मशीन की ताकत से काम लेने के बनिस्बत महँगा नहीं पड़ता और इसलिए अधिकांश बातों में पशु मशीन का मुकाबला कर सकते हैं। लेकिन इस समय प्रवृत्ति यह है कि पशुओं की तुलना में हम मशीन की शक्ति को ही ज़्यादा पसंद करते हैं।

"उदाहरण के लिए, बैलगाड़ी को लीजिए। १०० रुपये गाड़ी के दाम हुए और २०० रुपए बैलों के। यह बैलगाड़ी गाँवों की उबड़-खाबड़ और रेतीली सड़कों पर १६ बंगाली मन का बोझ १५ मील प्रतिदिन के हिसाब से ढो सकती है। इसमें १२ आने दो बैलों का, ६ आने गाड़ीवान का और ४ आने टूट-फूट का – इस तरह कुल रु॰ १-६-० रोज खर्च पड़ेगा। इसके विरुद्ध एक टन वाली मोटर-लारी पर १५ मील के लिए कमसे कम एक गैलन पेट्रोल और कुछ लुब्रिकेटिंग ओइल खर्च होगा। उसकी मरम्मत व सार-संभाल पर भी भारी खर्च आएगा और उसके लिए बड़ी तनखाह का ड्राइवर रखना पड़ेगा। इस तरह १५ मील की मोटर-लारी की यात्रा में लुब्रिकेटिंग ओइल सहित पेट्रोल पर रु॰ १-१२-० खर्च होंगे, १२ आने रोज (८ घंटे के काम के रु॰ ६ प्रतिदिन के हिसाब से) सार-संभाल के पड़ेंगे और ८ आने ड्राइवर, क्लीनर व लारी में सामान चढ़ाने-उतारने के लिए एक और आदमी रखने पर खर्च होंगे, जब कि १६ बंगाली मन बोझा ढोने वाली दो गाड़ियों पर रु १-६-० फी गाड़ी के हिसाब से कुल रु २-१२-० खर्च होगा। एक बैलगाड़ी एक दिन में ७ से ८ गाड़ी तक खाद लादकर गाँव से खेत तक, जो लगभग आधे मील पर होता है, ले जा सकती है। इसमें रु १-६-० + ६ आने गाड़ी को भरने व खाली करने में गाड़ीवान की मदद करने वाले एक और व्यक्ति की मज़दूरी का खर्च पड़ेगा, जब कि मोटर-लारी यह काम करे तो उसमें भी इससे कम खर्च नहीं पड़ेगा। हाँ, बढ़िया पक्की सड़क हो और लगातार काफ़ी लम्बी दूर तक वजन ले जाना

हो, तब ज़रूर मोटर-लारी बाजी मार ले जाएगी और बैलगाड़ी धीमी और आर्थिक दृष्टि से अनुपयोगी मालूम पड़ेगी। बैलों को लगातार लम्बी दूर तक भगाना भी वांछनीय नहीं है, क्योंकि इससे उनकी शक्ति और सामर्थ्य पर बहुत बुरा असर पड़ता है। पर इतने पर भी रेलवे स्टेशन से लेकर दूर-दूर के गाँवों तक बैलगाड़ियाँ मोटर-लारीयों के मुकाबले में रात-दिन लम्बी दूरी का सफर तय करती पाई जाती हैं। यह ज़रूर है कि इन बैलगाड़ियों के बैलों की शारीरिक दशा दयनीय होती है, क्योंकि थोड़ी कमाई के कारण गाड़ी के मालिक उन्हें खाने को कम देते हैं। इस प्रकार माल को शीघ्रता से ले जाने या आदमी के एक जगह से दूसरी जगह जाने के महत्त्व पर विचार करें, तो सिर्फ धीमी चाल ही एक ऐसी चीज़ है, जो बैलगाड़ी के विरुद्ध जाती है। परन्तु जो गाँव वाले खाली वक्त में कोई कमाई नहीं करते और जिनके लिए मोटर के कारण बचनेवाले समय का कोई महत्त्व नहीं है, उन्हें तो यही सोचना चाहिए कि थोड़ी दूर का काम वे पैदल चलकर ही निकालें और लम्बे सफर के लिए बैलगाड़ी का उपयोग करें। अगर कोई किसान अपनी खुद की गाड़ी रखे और उसमें सफर करे, तो नकद पैसे के रूप में उसे कोई रकम खर्च नहीं करनी पड़ेगी, बल्कि अपने खेत में पैदा हुई चीज़ें खिलाकर ही वह बैलों से काम लेगा। सच तो यह है कि किसान चारे व अनाज को ही अपना पेट्रोल, गाड़ी को अपनी मोटर-लारी और बैलों को घास से शक्ति उत्पन्न करने वाला अपना एन्जिन समझे। मशीन न तो घास खाती और न उससे गोबर ही निकलता, जो कि खाद के लिए बड़ा उपयोगी है। गाँव में बैल तो रखने ही पड़ते हैं और घास भी हर हालत में होती है। अगर गाड़ी भी रहे तो उसके कारण गाँव के बढ़ई और लुहार का धंधा चलेगा। और अगर गाय को पालें तो वह कल्पतरु का काम देगी। घास-चारे से वह मक्खन या घी बनाऐगी और साथ ही वह बैल पैदा करने वाली मशीन भी होगी। इस प्रकार एक पंथ दो काज सधेंगे।"

मोटर-लारी का आक्रमण सफल हो या न भी हो। बुद्धिमान कार्यकर्ता इसके हानि-लाभ का अध्ययन करके निश्चित रूप से गाँव वालों का पथ-प्रदर्शन करें, तो यह समझदारी की बात होगी। अतः श्री ईश्वरभाई ने जो कुछ लिखा है और जो दिशा सुझाई है, उस पर सब ग्रामसेवकों को विचार करना चाहिए और देखना चाहिए कि ऐसा करना कहाँ तक ठीक है। [हरिजनसेवक, ३-७-१९३७, पृ. १५६]

मोटर-लारी बनाम बैलगाड़ी

गाँवों में प्रचारकार्य करने के लिए मोटर-लारियाँ उपयोगी होंगी या बैलगाड़ियाँ –इस विषय पर अगस्त १९३९ की 'ग्रामोद्योग पत्रिका' में एक सुंदर तर्कपूर्ण लेख प्रकाशित हुआ है, जो नीचे उद्धृत किया जाता है :

"हमसे पूछा गया है कि जिला बोर्ड और अन्य इसी प्रकार की स्थानीय संस्थाएँ जो ग्रामोद्धार के लिए कुछ घनराशि अलग रखना चाहती है, उस रकम को गाँवों में विभिन्न प्रकार के प्रचारकार्य के लिए मोटर-लारी खरीदने में लगाएँ तो कैसा हो। यह शुभ चिह्न है कि इस प्रकार की संस्थाएँ ग्रामों के प्रति अपनी ज़िम्मेदारी महसूस करने लगी हैं और गाँवों तथा शहरों और शिक्षितों तथा अशिक्षितों के बीच की मौजूदा खाई को पूरने के लिए प्रयत्नशील हो रही हैं। यहाँ सवाल यह उठता है कि मोटर-लारियों का, जो एक रात में कई गाँवों का चक्कर लगा सकती हैं, इस काम को जल्दी करने के लिए उपयोग किया जा सकता है या नहीं?

"सब खर्चों में, विशेषकर उन खर्चों में जो विशुद्ध ग्रामीणों की भलाई के लिए किए जाते हैं, हमें यह देखना ज़रूरी है कि व्यय हुई धनराशि लौटकर गाँवों में जाती है या नहीं। जिला और स्थानीय बोर्ड त्ज्ञोगों से धन प्राप्त करते हैं। अतः उन्हें ऐसी चीज़ें खरीदनी चाहिए, जिनसे लोगों में धन का प्रचलन और तेजीसे हो। यदि जिला और स्थानीय बोर्ड लोगों से टैक्स आदि के रूप में जो रुपया वसूल करते हैं उसे वे बाहर भेज दें, तो इससे वहाँ के लोगों की गरीबी बढ़ेगी और इसका जिला और स्थानीय बोर्डों के कोष पर अवश्य असर पड़ेगा।

"कोई स्थानीय संस्था कुछ हजार रुपयों से अधिक धन ग्रामोद्धार के लिए अलग नहीं रखती। अगर वह इस प्रयोजन के लिए एक भी मोटर-लारी खरीदती है, तो इसका अर्थ यह होता है कि वह ५००० रुपये जिले से बाहर भेज देती है; इसके सिवा टायरों आदि के स्थायी खर्च के साथ पेट्रोल आदि पर वह रोजाना जो खर्च करती है वह भी गाँव वालों के पास लौटकर नहीं आता बल्कि बाहर ही जाता है। इस खर्च का स्पष्ट उद्देश्य गाँव वालों की बेहतरी और खुशहाली है। किन्तु खेती, स्वास्थ्य, बालरक्षा और इसी प्रकार के अन्य विषयों पर कभी-कभी होने वाले भाषण सुन

सकने या ग्रामोफोन व रेडियो सुन सकने के लिए ग्रामवासियों को यह भारी खर्च उठाना पड़ता है, जब कि उन्हें अपना और अपने परिवार का गुजारा केवल २ रुपये माहवार में करना पड़ता है। इस समय गाँव वालों को सबसे अधिक जिस चीज़ की ज़रूरत है, वह है रोजगार और काम। हम बाहर से चीज़ें मँगाकर उन्हें काम से वंचित कर देते हैं और उसके मुआवजे में उन्हें भाषण सुनाते, मैजिक लेन्टर्न के खेल दिखाते और संगीत सुनाते हैं, जिसके लिए वे स्वयं खर्च करते हैं, और हम अपनी पीठ ठोंकते हैं कि हम उनकी बेहतरी के लिए काम कर रहे हैं। कया इससे ज़्यादा बेहूदी और कोई बात हो सकती है?

"अब तुलना कीजिए कि मोटर-लारी की जगह बहुत नफरत से देखी जाने वाली बैलगाड़ी का उपयोग किया जाए तो क्या होगा। इससे बहुत तहलका शायद न मचे और न यह उतने जोरसे ऐलान कर सके कि कुछ आश्चर्यकारक चीज़ दुनिया में गाँवों के लिए की जा रही है। लेकिन अगर हमें सिर्फ अभिनय करना और ढोल पीटना अभीष्ट नहीं है, बल्कि वास्तविक शांत रचनात्मक कार्य की ज़रूरत है, तो हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि बैलगाड़ी मोटर-लारी से ग्रामीणों का कहीं अधिक भला कर सकती है। वह दूर-दूर के गाँवों में पहुँच सकती है, जहाँ मोटर-लारी का जाना कठिन है। उसकी क़ीमत मोटर-लारी की क़ीमत का बहुत छोटा भाग होने के कारण उतनी ही रकम में कई बैलगाड़ियाँ खरीदी जा सकती हैं, जो जिले के कई ग्राम-समूहों का भला कर सकती है। इन पर खर्च किया हुआ पैसा गाँव के बढ़ई, लुहार और गाड़ीवान के जेब में जाता है। बैलगाड़ी भी देखने के लायक सुंदर बनाई जा सकती है, बशर्ते उसे वैज्ञानिक तरीके से बनाया जाए और उसमें बढ़िया पहिए, स्टील की हाल और धुरी वगैरा काम में लिए जाएँ। इन पर किया गया व्यय गाँव में से संपत्ति को बाहर ले जाने के बनिस्बत उसे गाँव की ही ओर मोड़ेगा। मोटर की तो वहाँ ज़रूरत समझी जा सकती है, जहाँ किसी भी काम की सफलता की कसौटी काम का जल्दी होना माना जाए। मगर गाँवों में प्रचार के लिए, जिसका उद्देश्य ग्रामीणों की बेहतरी है, ऐसी किसी चीज़ की ज़रूरत नहीं। इसके विपरीत, धीमे और स्थायी उपाय अधिक फायदेमंद साबित होंगे। एक गाँव से दूसरे गाँव में भागने के बनिस्बत एक ही गाँव में कुछ समय बिताना अधिक लाभप्रद कहा जा सकता है। इसी प्रकार इससे मनुष्यों के जीवन तथा उनकी समस्याएँ अच्छी तरह समझी जा

सकती है और उन समस्याओं को सुलझाने के लिए किया जाने वाला काम प्रभावात्मक हो सकता है |

"इसलिए मोटर-लारियों और ग्रामकार्य का एक साथ चलना बहुत बेतुका मालूम होता है। हमें ज़रूरत है स्थिर रचनात्मक प्रयत्न की, न कि बिजली जैसी तेज़ रफ्तार और ऊपरी तड़क-भड़क की। हम स्थानीय बोर्डो और सार्वजनिक संस्थाओं को, जो गाँव वालों की भलाई के कार्य में वस्तुतः बहुत दिलचस्पी रखती हैं, सलाह देंगे कि वे ग्रामोद्धार के कार्य को गाँव की बनी हुई चीज़ों के इस्तेमाल से प्रारंभ करें और उन हालतों का अध्ययन करें, जिनसे देश में लगातार गरीबी बढ़ती जा रही है, और उन्हें एक एक करके हटाने में अपनी सारी शक्ति लगा दें। जब ग्रामीण जीवन के लिए चारों तरफ से गहरे और खूब सोच-विचारकर प्रयत्न करने की ज़रूरत है, तब ऐसे उपायों पर, जो एक रात में ग्रामोद्धार का सब्जबाग दिखाना चाहते हैं, सार्वजनिक धन खर्च करना उसका नाश ही करना है।"

आशा है कि जो लोग ग्रामसेवा के कार्य में दिलचस्पी रखते हैं, वे बैलगाड़ी के पक्ष में दी हुई इन स्पष्ट दलीलों पर ध्यान देंगे। जो गाँवों की भलाई करना चाहते हैं उन्हीं के द्वारा गाँवों के पैसे का नाश हो, यह बड़ी निर्दयता की बात है। [हरिजनसेवक, २-९-१९३९, पृ. २२७-२२८]

बैल यातायात के साधन के रूप में

बैल हमारे गाँवों में हर जगह यातायात के साधन हैं; शिमला जैसी जगह में भी उनका इस रूप में उपयोग बंद नहीं हुआ है। रेल और मोटर-लारियाँ वहाँ जाती हैं, लेकिन सारे पहाड़ी रास्ते पर मैंने बैलों को भारी बोझ से लदी हुई गाड़ियाँ खींचते देखा है। ऐसा लगता है कि यातायात का यह साधन मानो हमारे जीवन और सभ्यता का अंग बन गया है | और अगर हमारी हाथ-उद्योगों की सभ्यता को जिंदा रहना है, तो बैलों को जिंदा रहना ही होगा।

आपको इस बात का पता लगाना चाहिए कि गाँव में किसके ढोर सबसे अच्छे हैं और फिर इस बात की खोज़ करनी चाहिए कि वह उन्हें इतनी अच्छी हालत में कैसे रख सकता है। आप इसका पता लगावें कि गाँव में किस की गाय सबसे ज़्यादा दूध देती है और यह जानें कि वह उसे किस तरह पालता

और खिलाता है। आप गाँव के सबसे अच्छे बैल और सबसे अच्छी गाय के लिए इनाम रख सकते हैं। आदर्श ढोरों के बिना हमारे गाँव आदर्श नहीं बन सकते। [हरिजन, १५-९-१९४०, पृ. २८२]

२२. मुद्रा, विनिमय और कर

मेरी योजना में नकद (प्रचलित) सिक्का धातु नहीं, परन्तु श्रम है। जो व्यक्ति श्रम कर सकता है, उसे यह सिक्का मिलता है, उसे धन प्राप्त होता है। वह अपने श्रम का रूपांतर कपड़े में करता है, अनाज में करता है। यदि उसे पेरेफीन तेल चाहिए, जिसे वह स्वयं पैदा नहीं कर सकता, तो वह अपने पास का अतिरिक्त अनाज देकर यह तेल प्राप्त कर सकता है। इसमें श्रम का स्वतंत्र, न्यायसंगत और समान स्तर पर विनिमय होता है – इसलिए वह लूट नहीं है। आप आपत्ति कर सकते हैं कि यह तो वस्तु के बदले वस्तु बदलने की पुरानी पद्धति की ओर लौटना है। लेकिन क्या सारा अंतरराष्ट्रीय व्यापार इसी पद्धति पर आधारित नहीं है? [हरिजन, २-११-१९३४, पृ. ३०२]

भारत का हरएक गाँव पोषण और रक्षण के लिए अपने ऊपर आधार रखने वाला बनेगा और जिन वस्तुओं का स्थानीय उत्पादन नहीं होगा उनका ही दूसरे गाँवों से लेन-देन रहेगा। [नटेसन, पृ. ३४२]

मेरा अनुभव मुझे बतलाता है कि यदि खादी को शहरों और गाँवों दोनों में सार्वत्रिक बनाना हो, तो वह सिर्फ सूत के बदले में ही सुलभ होनी चाहिए। मुझे आशा है कि जैसे जैसे समय बीतता जाएगा, लोग खुद ही सूत के सिक्के से खादी खरीदने का आग्रह करेंगे। [स्वराज थ्रू चरखा, १९४५, पृ. ५]

तब वास्तव में, श्रम भी धातु के सिक्के के जितना ही द्रव्य है। यदि कुछ लोग किसी कारखाने में अपनी पूंजी लगाते हैं, तो आप उसमें अपना श्रम लगाते हैं। जिस तरह पूंजी के बिना आपका श्रम बेकार हो जाएगा, उसी तरह आपके श्रम के बिना दुनिया की पूंजी भी पूरी तरह बेकार हो जाएगी। [हरिजन, २-२-१९३४, पृ. २, ६]

स्वावलम्बन का अर्थ कूपमण्डूकता नहीं है। किसी भी हालत में हम सभी चीज़ें पैदा कर भी नहीं सकते और न हमें करना है। हमको तो पूर्ण स्वावलम्बन के नजदीक पहुँचना है। जो चीज़ें हम पैदा नहीं कर सकते उन्हें पाने के लिए उनके बदले में देने को हमें अपनी आवश्यकता से अधिक चीज़ें पैदा करनी ही होंगी। [खादी, १९५९, पृ. २२२]

जिस तरह टकसाल में सोना-चाँदी आता है, लेकिन बाहर तो सोने-चौंदी के सिक्के ही जाते है; उसी तरह सूत के भंडार में से भी सिर्फ खादीरूपी सिक्के ही बाहर जा सकते हैं। [हरिजनसेवक, ७-७-१९४६, पृ. २०९]

भारत के मेरे प्रदेश में कौड़ियों और सूखे हुए थोथे बादामों का आपस में लेन-देन के लिए और सरकारी खजाने में भरने के लिए नकदी के खप में उपयोग होता था। उपयोगिता की दृष्टि से इन चीज़ों का कोई मूल्य नहीं था। यह लोगों की दरिद्रता का सूचक था। इसका मतलब यह था कि छोटे से छोटा नकद सिक्का रखने की भी उनकी ताकत न थी। पाँच कौड़ी से वे एक सूई या थोड़ी-सी साग-सब्जी खरीदते थे। मैंने एक ऐसे माप की सूचना की है, जो प्रतीकमात्र नहीं, बल्कि जिसकी हमेशा अपनी स्वतंत्र क़ीमत रहेगी और वह भी उसके बाजार-भाव के बराबर। इस लिहाज से वह एक आदर्श द्रव्य होगा। हाल के लिए मेरी यह सूचना है कि प्रयोग के रूप में कातने वालों के लिए विशेषतया और खादी प्रेमियों के लिए सामान्य तौर पर आपसी व्यवहार के लिए ताने का एक तार छोटे से छोटे सिक्के की तरह उपयोग किया जाए। कातनेवाले सूत के बदले में अपनी सामान्य दैनिक आवश्यकता की चीज़ें निश्चित भाव पर खरीद सकेंगे। शुरू में चरखा-संघ और ग्रामोद्योग-संघ को साथ में मिलकर भंडार खोलने होंगे। आगे चलकर जो कोई सहकार देना चाहे उसकी सहायता इन भंडारों के खोलने में ली जाए। जिस तरह मैंने इस योजना की कल्पना की है उसके अनुसार यह तभी सफल होगी, जब इसे विकेन्द्रित करके चलाया जाए। वह इसका अवगुण नहीं, बल्कि विशेषण गुण है। [हरिजनसेवक, १८-१-१९४२, पृ. ६]

परिश्रम-रूपी कर प्रजा को पुष्ट तथा बलवान बनाता है। जहाँ प्रजाजन खेच्छापूर्वक समस्त प्रजा के कल्याण के लिए परिश्रम करते हैं, वहाँ रुपये का लेनदेन करने की कम ज़रूरत रहती है और कर वसूल करने तथा उसका हिसाब रखने की मेहनत बच जाती है; इतने पर भी परिणाम कर अदा करने जितना ही होता है। [हरिजनसेवक, १८-३-१९३९, पृ. ३६]

२३. गाँवों की सफाई

श्रम और बुद्धि के बीच जो अलगाव हो गया है, उसके कारण हम अपने गाँवों के प्रति इतने लापरवाह हो गए हैं कि वह एक गुनाह ही माना जा सकता है। नतीजा यह हुआ है कि देश में जगह-जगह सुहावने और मनभावने छोटे-छोटे गाँवों के बदले हमें धूरे जैसे गंदे गाँव देखने को मिलते हैं। बहुत से या यों कहिए कि करीब-करीब सभी गाँवों में घुसते समय जो अनुभव होता है, उससे दिल को खुशी नहीं होती। गाँव के बाहर और उसके आसपास इतनी गंदगी होती है और वहाँ इतनी बदबू आती है कि अकसर गाँव में जानेवाले को आँख मूंदकर और नाक दबाकर ही जाना पड़ता है। ज़्यादातर काँग्रेसी गाँव के निवासी होने चाहिए; अगर ऐसा हो तो उनका कर्तव्य हो जाता है कि वे अपने गाँवों को सब तरह से सफाई के नमूने बनाएँ। लेकिन गाँव वालों के हमेशा के यानी रोज-रोज के जीवन में शरीक होने या उनके साथ धुलने-मिलने को उन्हों ने कभी अपना कर्तव्य माना ही नहीं। हमने राष्ट्रीय या सामाजिक सफाई को न तो ज़रूरी गुण माना, और न उसका विकास ही किया। यों रिवाज के कारण हम अपने ढँग से नहा भर लेते हैं, परन्तु जिस नदी, तालाब या कुएँ के किनारे हम श्राद्ध या वैसी ही दूसरी कोई धार्मिक क्रिया करते हैं और जिन जलाशयों में पवित्र होने के विचार से हम नहाते हैं, उनके पानी को बिगाड़ने या गंदा करने में हमें कोई हिचक नहीं होती। हमारी इस कमजोरी को मैं एक बड़ा दुर्गुण मानता हूँ। इस दुर्गुण का ही यह नतीजा है कि हमारे गाँवों की और हमारी पवित्र नदियों के पवित्र तटों की लज्जाजनक दुर्दशा और गंदगी से पैदा होने वाली बीमारियाँ हमें भोगनी पड़ती हैं | [रचनात्मक कार्यक्रम, १९५९, पृ. २७-२८]

गाँवों में करने के कार्य ये हैं। उनमें जहाँ-जहाँ कूड़े-कर्कट तथा गोबर के ढेर हों वहाँ-वहाँ से उनको हटाया जाए और कुओं तथा तालाबों की सफाई की जाए। अगर कार्यकर्ता लोग नौकर रखे हुए भंगियों की भाँति खुद रोज सफाई का काम करना शुरू कर दें और साथ ही गाँव वालों को यह भी बतलाते रहें कि उनसे सफाई के कार्य में शरीक होने की आशा रखी जाती है, ताकि आगे चलकर अंत में सारा काम गाँव वाले स्वयं करने लग जाएँ, तो यह निश्चित है कि आगे या पीछे गाँव वाले इस कार्य में अवश्य सहयोग देने लगेंगे।

वहाँ के बाजार तथा गलियों को सब प्रकार का कूड़ा- कर्कट हटाकर स्वच्छ बना लेना चाहिए। फिर उस कूड़े का वर्गीकरण कर देना चाहिए। उसमें से कुछ की तो खाद बनाई जा सकेगी, कुछको सिर्फ ज़मीन में गाड़ देना ही बस होगा और कुछ हिस्सा ऐसा होगा कि जो सीधा संपत्ति के रूप में परिणत किया जा सकेगा। वहाँ मिली हुई प्रत्येक हड्डी एक बहुमूल्य कच्चा माल होगी, जिससे बहुत सी उपयोगी चीज़ें बनाई जा सकेंगी, या जिसे पीसकर क़ीमती खाद बनाई जा सकेगी। कपड़े के फटे-पुराने चिथड़ों तथा रद्दी काग़ज़ों से काग़ज़ बनाए जा सकते हैं; और इधर-उधर से इकट्ठा किया हुआ मल-मूत्र गाँव के खेतों के लिए स्वर्णमय खाद का काम देगा।

गाँवों के तालाबों से स्त्री और पुरुष सब स्नान करने, कपड़े धोने, पानी पीने तथा भोजन बनाने का काम लिया करते हैं। बहुत से गाँवों के तालाब पशुओं के काम भी आते हैं। बहुधा उनमें भैंसे बैठी हुई पाई जाती हैं। आश्चर्य तो यह है कि तालाबों का इतना पापपूर्ण दुरुपयोग होते रहने पर भी महामारियों से गाँवों का नाश अब तक क्यों नहीं हो पाया है? यह एक सार्वत्रिक डोक्टरी प्रमाण है कि पानी की सफाई के संबंध में गाँव वालों की उपेक्षा-वृत्ति ही उनकी बहुतसी बीमारियों का कारण है।

सब इस बात को स्वीकार करेंगे कि इस प्रकार का सेवाकार्य शिक्षाप्रद होने के साथ ही साथ अलौकिक रूप से आनंददायक भी है और इसमें भारतवर्ष के संताप-पीड़ित जन-समाज का अनिर्वचनीय कल्याण भी समाया हुआ है। मुझे उम्मीद है कि इस समस्या को सुलझाने के तरीके का मैंने ऊपर जो वर्णन किया है, उससे इतना तो स्पष्ट हो गया होगा कि अगर ऐसे उत्साही कार्यकर्ता मिल जाएँ, जो झाड़ू और फावड़े को भी उतनी ही आसानी और गर्व के साथ हाथ में ले लें जैसे वे कलम और पेंसिल को लेते हैं, तो इस कार्य में खर्च का कोई सवाल ही नहीं उठेगा। अगर किसी खर्च की ज़रूरत पड़ेगी भी तो वह केवल झाड़ू, फावड़ा, टोकरी, कुदाली और शायद कुछ कीटाणुनाशक दवाइयाँ खरीदने तक ही सीमित रहेगा। सूखी राख संभवतः उतनी ही अच्छी कीटाणुनाशक दवा है जितनी कि कोई रसायनशास्त्री दे सकता है। लेकिन यहाँ तो उदार रसायनशास्त्री हमको यह बतलाएँ के गाँव के लिए सबसे सस्ती और कारगर कीटाणुनाशक चीज़ कौनसी है, जिसे गाँववाले स्वयं अपने गाँवों में बना सकते हैं। [हरिजनसेवक, १५-२-१९३५, पृ. ४८४, ८५]

२४. गाँवों का स्वास्थ्य

जो समाज सुव्यवस्थित है उसमें रहने वाले सभी लोग – नागरिक – तंदुरुस्ती के नियमों को जानते हैं और उन पर अमल करते हैं। अब तो यह बात निर्विवाद सिद्ध हो चुकी है कि तंदुरुस्ती के नियमों को न जानने से और उन नियमों के पालन में लापरवाह रहने से ही मनुष्य-जाति का जिन जिन रोगों से परिचय हुआ है, उनमें से ज़्यादातर रोग उसे होते हैं। बेशक, हमारे देश की दूसरे देशों से बढ़ी-चढ़ी मृत्युसंख्या का ज़्यादातर कारण गरीबी है, जो हमारे देशवासियों के शरीर को कुरेदकर खा रही है; लेकिन अगर उनको तंदुरुस्ती के नियमों की ठीक ठीक शिक्षा दी जाए, तो इसमें बहुत कमी की जा सकती हैं।

मनुष्य-जाति के लिए साधारणतः स्वास्थ्य का पहला नियम यह है कि मन चंगा है तो शरीर भी चंगा है। नीरोगी शरीर में निर्विकार मन का वास होता है, यह एक स्वयंसिद्ध सत्य है। मन और शरीर के बीच अटूट संबंध है | अगर हमारे मन निर्विकार यानी नीरोग हों, तो वे हर तरह की हिंसा से मुक्त हो जाएँ; फिर हमारे हाथों तंदुरुस्ती के नियमों का सहज भाव से पालन होने लगे और किसी तरह की खास कोशिश के बिना ही हमारे शरीर तंदुरुस्त रहने लगे। [रचनात्मक कार्यक्रम, १९५९, पृ. ३५]

शरीर के परिचय से पहले आरोग्य किसे कहते हैं यह समझ लेना ठीक होगा। आरोग्य के मानी है तंदुरुस्त शरीर। जिसका शरीर व्याधि रहित है, जिसका शरीर सामान्य काम कर सकता है, अर्थात् जो मनुष्य बगैर थकान के रोज दस-बारह मील चल सकता है, बगैर थकान के सामान्य मेहनत-मज़दूरी कर सकता है, सामान्य भोजन पचा सकता है, जिसकी इंद्रियाँ और मन स्वस्थ है, ऐसे मनुष्य का शरीर तंदुरुस्त कहा जा सकता है। [आरोग्य की कुँजी, १९५८, पृ. १]

तंदुरुस्ती के कायदे और आरोग्यशास्त्र के नियम बिलकुल सरल और सादे हैं और वे आसानी से सीखे जा सकते हैं | लेकिन उन पर अमल करना कठिन है। नीचे मैं ऐसे कुछ नियम देता हूँ :

१. हमेशा शुद्ध विचार कीजिए और तमाम गंदे और निकम्मे विचारों को मनसे निकाल दीजिए।

२. दिन-रात ताजी-से-ताजी हवा का सेवन कीजिए।

३. शरीर और मन के काम का तौल बनाए रखें, यानी दोनों को बेमेल न होने दें।

४. तनकर खड़े रहें, तनकर बैठें और अपने हर काम में साफसुथरे रहें; और इन सब आदतों को अपनी आंतरिक स्वस्थता का प्रतिबिम्ब बनने दें।

५. खाना इसलिए खाइए कि अपने जैसे अपने मानव-बंधुओं की सेवा के लिए ही जिया जा सके। भोग भोगने के लिए जीने और खाने का विचार छोड़ दीजिए। अतएव उतना ही खाइए जितने से आपका मन और आपका शरीर अच्छी हालत में रहे और ठीक से काम कर सके। आदमी जैसा खाना खाता है वैसा ही बन जाता है।

६. आप जो पानी पिएँ, जो खाना खाएँ और जिस हवा में साँस लें, वे सब बिलकुल साफ होने चाहिए। आप सिर्फ अपनी निजकी सफाई से संतोष न मानें, बल्कि हवा, पानी और खुराक की जितनी सफाई आप अपने लिए रखें, उतनी ही सफाई का शौक आप अपने आसपास के वातावरण में भी फैलाएँ। [रचनात्मक कार्यक्रम, १९५९, पृ. ३६]

रोग का कुदरती इलाज

कुदरती इलाज के लिए बहुत बड़ी पंडिताई की या ऊँचे दरजे की युनिवर्सिटी की डिग्रियाँ प्राप्त करने की ज़रूरत नहीं पड़ती। जो चीज़ हमें सब तक पहुँचानी है, सादगी उसकी खास निशानी होनी चाहिए। जो चीज़ करोड़ों के लाभ के लिए है, उसके लिए बड़े-बड़े पोथों को उलटकर प्राप्त किए गए ज्ञान की ज़रूरत नहीं। ऐसा पांडित्य तो बहुत थोड़े लोग पा सकते हैं, इसलिए वह अमीरों के ही काम का होता है। लेकिन हिन्दुस्तान तो ऐसे ७ लाख गाँवों में बसा है, जिन्हें कोई जानता तक नहीं, जो बहुत छोटे-छोटे हैं और दूर-दूर के कोनों में बसे हुए हैं। उनमें से कई तो ऐसे हैं जिनकी आबादी ५००-६०० से ज़्यादा नहीं; और कुछ गाँव १०० से भी कम आबादीवाले होते हैं। मेरा वश चले तो मैं ऐसे ही किसी गाँव में जाकर रहूँ। वह सच्चा हिन्दुस्तान है, मेरा हिन्दुस्तान है; उसीके लिए मैं जीता हूँ। इन गरीबों के बीच आप बड़ी बड़ी डिग्रियोंवाले डोक्टरों और अस्पतालों की क़ीमती चीज़ों के बड़े काफिले को किस तरह ले जाएँगे? उन्हें तो सादे कुदरती इलाज और रामनाम का ही आधार है। [हरिजनसेवक, ७-४-१९४६, पृ. ६९]

मेरी राय में जिस जगह शरीर-सफाई, घर-सफाई और ग्राम-सफाई हो तथा युक्ताहार और योग्य व्यायाम हो, वहाँ कमसे कम बीमारी होती है। और, अगर चित्तशुद्धि भी हो तब तो कहा जा सकता है

कि बीमारी असंभव हो जाती है। रामनाम के बिना चित्तशुद्धि नहीं हो सकती। अगर ग्रामवासी इतनी बात समझ जाएँ, तो उन्हें वैद्य, हकीम या डोक्टर की ज़रूरत न रह जाए।

कुदरती उपचार के गर्भ में यह बात रही है कि मानव-जीवन की आदर्श रचना में गाँव या शहर की आदर्श रचना आ ही जाती है। और उसका मध्यबिन्दु तो ईश्वर ही हो सकता है। [हरिजनसेवक, २६-५-१९४६, पृ. १५६]

कुदरती इलाज के गर्भ में यह बात निहित है कि उसमें कमसे कम खर्च और ज़्यादा से ज़्यादा सादगी होनी चाहिए। कुदरती उपचार का आदर्श ही यह है कि जहाँ तक संभव हो, उसके साधन ऐसे होने चाहिए कि उपचार गाँव में ही हो सके। जो साधन नहीं है वे उत्पन्न किए जाने चाहिए। कुदरती उपचार में जीवन-परिवर्तन की बात आती है। यह कोई वैद्य की दी हुई पुड़िया लेने की बात नहीं है, और न अस्पताल जाकर मुफ्त दवा लेने या वहाँ रहने की बात है। जो मुक्त दवा लेता है वह भिक्षुक बनता है। जो कुदरती उपचार करता है, वह कभी भिक्षुक नहीं बनता। वह अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाता है और अच्छा होने का उपाय खुद ही कर लेता है। वह अपने शरीर में से ज़हर निकाल कर ऐसा प्रयत्न करता है, जिससे दुबारा बीमार न पड़ सके।

पथ्य खुराक – युक्ताहार – इस उपचार का अनिवार्य अंग है। आज हमारे गाँव हमारी ही तरह कंगाल हैं। गाँवों में साग-सब्जी, फल-दूध वगैरा पैदा करना कुदरती इलाज का खास अंग है। इसमें जो समय खर्च होता है वह व्यर्थ नहीं जाता। बल्कि उससे सारे ग्रामवासियों को और अंत में सारे हिन्दुस्तान को लाभ होता है। [हरिजनसेवक, २-६-१९४६, पृ. १६५]

ग्रामवासियों के लिए मेरी कल्पना के नैसर्गिक उपचार का मतलब यह है कि वह गाँव में जितने देहाती साधन मिल सकें, उनसे बिजली और बरफ की मदद के बिना जितना किया जा सके उतना ही किया जाए। यह काम तो मेरे जैसे का ही हो सकता है, जो गाँव का बन गया है और जिसकी देह शहरों में रहते हुए भी मन गाँव में ही रहता है। [हरिजनसेवक, ११-८-१९४६, पृ. २५५]

मेरा कुदरती इलाज तो सिर्फ गाँव वालों और गाँवों के लिए ही है। इसलिए उसमें खुर्दबीन, एक्स-रे वगैरा का कोई स्थान नहीं है। और न ही कुदरती इलाज में कुनैन, एमिटीन, पेनिसिलीन वगैरा दवाओं

की गुंजाइश है, उसमें अपनी सफाई, घर की सफाई, गाँव की सफाई और स्वास्थ्य की रक्षा का पहला और पूरा पूरा स्थान है। इसकी तह में ख़याल यह है कि अगर इतना किया जाए या हो सके, तो कोई बीमारी ही न हो। और बीमारी आ जाए तो उसे मिटाने के लिए कुदरत के सभी कानूनों पर अमल करने के साथ-साथ रामनाम ही सच्चा इलाज है। यह इलाज सार्वजनिक नहीं हो सकता। जब तक स्वयं इलाज करनेवाले में रामनाम की सिद्धि न आ जाए, तब तक रामनाम-रूपी उपचार को पलक मारते ही सार्वजनिक नहीं बनाया जा सकता। लेकिन पंचमहाभूतों में से यानी पृथ्वी, पानी, आकाश, तेज और हवा में से जितनी शक्ति ली जा सके उतनी लेकर रोग को मिटाने का यह एक प्रयत्न है। और मेरे विचार से कुदरती इलाज यहीं खतम हो जाता है। इसलिए आजकल उरुलीकांचन में जो प्रयोग चल रहा है, वह गाँव वालों को स्वास्थ्य की रक्षा करने की कला सिखाने और बीमारों की बीमारी को पंचमहाभूतों की मदद से मिटाने का प्रयोग है। ज़रूरत मालूम होने पर उरुली में मिलने वाली जड़ीबूटी का उपयोग किया जा सकता है, और पथ्य-परहेज तो कुदरती इलाज का ज़रूरी अंग है ही। [हरिजनसेवक, १८-८-१९४६, पृ. २७०]

जिन तत्त्वों से यह मनुष्य-रूपी पुतला बना है, वे ही नैसर्गिक उपचारों के साधन हैं। यह शरीर पृथ्वी, पानी, आकाश (अवकाश), तेज (सूर्य) और वायु का बना हुआ है। [आरोग्य की कुँजी, १९५८, पृ. ३९]

पृथ्वी अर्थात् मिट्टी

जुस्टने अपनी पुस्तक 'रिटर्न टु नेचर' में खास जोर मिट्टी पर दिया है। मुझे लगा कि उसका उपयोग अपने पर मुझे कर लेना चाहिए। जुस्टने क़ब्ज़ियत में मिट्टी को ठंडे पानी में भिगोकर वगैर कपड़े के पेडू पर रखने की सूचना की है। पर मैंने तो एक बारीक कपड़े में पुलटिस की तरह मिट्टी लपेट कर सारी रात अपने पेडू पर रखी। सवेरे उठा तो दस्त की हाजत थी। पाखाने जाते ही बँधा हुआ संतोषकारक दस्त हुआ। [आरोग्य की कुँजी, १९५८, पृ. ४०]

मिट्टी की यह पट्टी तीन इंच चौड़ी, छह इंच लम्बी और बाजरे की रोटी से दुगुनी मोटी या यह कहो कि आधा इंच मोटी होती है। [आरोग्य की कुँजी, १९५८, पृ. ४०]

मेरा यह अनुभव है कि सिर में दर्द होता हो, तो मिट्टी की पट्टी सिर पर रखने से ज़्यादातर लाभ होता है। यह प्रयोग मैंने सैंकड़ों लोगों पर किया है। मैं जानता हूँ कि सरदर्द के अनेक कारण हो सकते हैं। परन्तु सामान्यतः यह कहा जा सकता है कि किसी भी कारण से सिरमें दर्द क्यों न हो, मिट्टी की पट्टी सिर पर रखने से तात्कालिक लाभ तो होता ही है।

सामान्य फोड़े-फुन्सी को भी मिट्टी मिटाती है। मैंने तो बहते हुए फोड़े पर भी मिट्टी रखी है। ऐसे फोड़े पर मिट्टी रखने के पहले में साफ कपड़े को परमेंगनेट के गुलाबी पानी में भिगोता हूँ, फोड़े को साफ करता हूँ और फिर उस पर मिट्टी की पुलटिस रखता हूँ। इससे अधिकांश फोड़े मिट ही जाते हैं। जिन लोगों पर मैंने यह प्रयोग किया है, उनमें से एक भी केस निष्फल रहा हो ऐसा मुझे याद नहीं आता। बर्र वगैरा के डंक पर मिट्टी तुरंत फायदा करती है। बिच्छू के डंक पर भी मैंने मिट्टी का खूब प्रयोग किया है। मिट्टी दूसरे इलाजों से घटिया तो साबित नहीं हुई। [आरोग्य की कुँजी, १९५८, पृ. ४१]

सख्त बुखार में मिट्टी का उपयोग पेडू पर रखने के लिए और सिर में दर्द हो तो सिर पर रखने के लिए मैंने किया है। मैं यह नहीं कह सकता कि उससे हमेशा बुखार उतरा ही है, पर रोगी को उससे शांति ज़रूर मिली ही। टायफाइड में मैंने मिट्टी का खूब प्रयोग किया है। वह बुखार तो अपनी मुदत लेकर ही जाता था, पर मिट्टी से रोगी को हमेशा शांति मिलती थी। सब रोगी मिट्टी माँगते थे। [आरोग्य की कुँजी, १९५८, पृ. ४१]

मिट्टी का उपयोग सेवाग्राम में एन्टीफ्लोजिस्टिन की जगह छूट से हुआ है। उसमें थोड़ा सरसों का तेल और नमक मिलाया जाता है। इस मिट्टी को अच्छी तरह गरम करना पड़ता है। इससे वह बिलकुल निर्दोष बन जाती है। [आरोग्य की कुँजी, १९५८, पृ. ४२]

मिट्टी न तो बहुत चिकनी होनी चाहिए और न बिलकुल रेतीली। खाद वाली तो हरगिज न होनी चाहिए। वह रेशम की तरह मुलायम होनी चाहिए और उसमें कंकरी बिलकुल न होनी चाहिए। इसलिए उसे बारीक छलनी से छान लेना अच्छा है। बिलकुल साफ न लगे तो उसे सेंक लेना चाहिए। मिट्टी बिलकुल सूखी होनी चाहिए। गीली हो तो उसे धूप में या अंगीठी पर सुखा लेना चाहिए। [आरोग्य की कुँजी, १९५८, पृ. ४२]

जुस्ट[६] वि लिखा है कि साफ बारीक समुद्री रेती दस्त लाने के लिए उपयोग में ली जाती है। मिट्टी किस तरह काम करती है, इसके बारे में उसने बताया है कि मिट्टी पचती नहीं, उसे कचरे की तरह बाहर निकलना ही होता है। और अपने साथ वह मलको भी निकालती है। लेकिन इसका मैंने कभी अनुभव नहीं किया है। इसलिए जो लोग यह प्रयोग करना चाहें वे सोच-समझकर करें। एक-दो बार आजमा देखने में कोई नुकसान होने की संभावना नहीं है। [आरोग्य की कुँजी, १९५८, पृ. ४३]

पानी

क्युने के उपचारों में मध्यबिन्दु कटिस्नान और घर्षण-स्नान हैं। उनके लिए उसने खास टब की भी योजना की है। पर उसकी खास आवश्यकता नहीं है। मनुष्य के कद के अनुसार तीससे छत्तीस इंच गहरा टब ठीक काम देता है। अनुभव से ज़्यादा बड़े टब की आवश्यकता मालूम हो, तो ज़्यादा बड़ा ले सकते हैं। उसमें ठंडा पानी भरना चाहिए। गर्मी की ऋतु में पानी को ठंडा रखने की खास आवश्यकता है। पानी को तुरंत ठंडा करने के लिए यदि मिल सके तो उसमें थोड़ी बरफ डाल सकते हैं। समय हो तो मिट्टी के घड़े में ठंडा किया हुआ पानी अच्छी तरह काम दे सकता है। टब में पानी के ऊपर एक कपड़ा ढंककर जल्दी-जल्दी पंखा करने से भी पानी तुरंत ठंडा किया जा सकता है।

टब को दीवार के साथ लगाकर रखना चाहिए और उसमें पीठ को सहारा देने के लिए एक लम्बा लकड़ी का तख्ता रखना चाहिए, ताकि उसका सहारा लेकर रोगी आराम से बैठ सके। रोगी को अपने पैर पानी से बाहर रखकर बैठना चाहिए। पानी से बाहर का शरीर का भाग ढँका रहना चाहिए, ताकि रोगी को सर्दी न लगे। जिस कमरे में टब रखा जाए; वह हवा और रोशनी वाला होना चाहिए। रोगी को आराम से टब में बैठाकर पेडू पर नरम तैलियेसे धीरे-धीरे घर्षण करना चाहिए। पाँच मिनिट से लेकर तीस मिनिट तक टब में बैठ सकते हैं। स्नान के बाद शरीर के गीले हिस्से को सुखाकर रोगी को बिस्तर में सुला देना चाहिए।

यह स्नान बहुत सख्त बुखार को भी उतार देता है। इस तरह स्नान लेने में हानि तो है ही नहीं, जब कि लाभ प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। स्नान भूखे पेट ही लेना चाहिए। इससे क़ब्ज़ियत को भी लाभ होता है और अजीर्ण भी मिटता है। स्नान लेने वाले के शरीर में स्फूर्ति आती है। क़ब्ज़ियत वालों को स्नान के

बाद आधा घंटा टहलने की सलाह क्युनेने दी है। इस स्नान का मैंने बहुत उपयोग किया है। मैं यह नहीं कह सकता कि वह हमेशा ही सफल हुआ है, परन्तु इतना मैं कह सकता हूँ कि सौ में पचहत्तर बार वह सफल हुआ है। खूब बुखार चढ़ा हुआ हो तब यदि रोगी की स्थिति ऐसी हो कि उसे टब में बैठाया जा सके, तो इससे दो तीन डिग्री तक बुखार अवश्य उतर जाएगा और सन्निपात का भय मिट जाएगा। [आरोग्य की कुँजी, १९५८, पृ. ४४]

अब मैं घर्षण-स्नान पर आता हूँ। जननेन्द्रिय बहुत नाजुक इंद्रिय है। उसकी ऊपर की चमड़ी के सिरे में कोई अद्भुत वस्तु होती है। उसका वर्णन करना मुझे नहीं आता है। इस ज्ञान का लाभ लेकर क्युने ने कहा है कि इंद्रिय के सिरे पर (पुरुष हो तो सुपारी पर चमड़ी चढ़ाकर) नरम रूमाल को पानी में भिगोकर घिसतें जाना चाहिए और पानी डालते जाना चाहिए। उपचार की पद्धति यह बताई है : पानी के टब में एक स्टूल रखा जाए। स्टूल की बैठक पानी की सतहसे थोड़ी ऊँची होनी चाहिए। इस स्टूल पर पाँव टब से बहार रखकर बैठ जाना चाहिए और इंद्रिय के सिरे पर घर्षण करना चाहिए। उसे तनिक भी तकलीफ नहीं पहुँचनी चाहिए। यह क्रिया बीमार को अच्छी लगनी चाहिए। स्नान लेनेवाले को इस घर्षण से बहुत शांति मिलती है। उसका रोग भले कुछ भी हो, उस समय तो वह शांत हो जाता है। क्यूनेने इस स्नान को कटिस्नान से ऊँचा स्थान दिया है। मुझे जितना अनुभव कटिस्नान का है उतना घर्षण-स्नान का नहीं है। इसमें मुख्य दोष तो मैं अपना ही मानता हूँ। मैंने घर्षण-स्नान का प्रयोग करने में आलस्य किया है। जिनको यह उपचार करने की मैंने सूचना की थी उन्होंने इसका धीरज से प्रयोग नहीं किया। इसलिए इस स्नान के परिणाम के बारे में मैं निजी अनुभव से कुछ नहीं लिख सकता। सबको इसे स्वयं आजमा कर देख लेना चाहिए। टब वगैरा न मिल सके तो लोटे में पानी भरकर भी घर्षण-स्नान किया जा सकता है। उससे रोगी को शांति तो अवश्य मिलेगी। लोग इस इंद्रिय की सफाई पर बहुत कम ध्यान देते हैं। घर्षण-स्नान से वह आसानी से साफ हो जाती है। ध्यान न रखा जाए तो सुपारी को ढँकने वाली चमड़ी में मैल भर जाता है। इस मैल को साफ करने की पूरी आवश्यकता है। जननेन्द्रिय का उपयोग घर्षण-स्नान के लिए करने और उसे साफ-सुथरी रखने से ब्रह्मचर्यपालन में मदद मिलती है। इससे आसपास के तंतु मज़बूत और शांत बनते हैं; और इस इन्द्रिय के द्वारा व्यर्थ वीर्य-स्खलन न होने देने की

सावधानी बढ़ती है। क्योंकि इस तरह स्त्राव होने देने में जो गंदगी रहती है, उसके प्रति मनमें घृणा पैदा होती है, और होनी भी चाहिए। [आरोग्य की कुँजी, १९५८, पृ. ४६-४७]

शरीर में घमोरी निकली हो, पित्ती (prickly heat) निकली हुई हो, आमवात (urticaria) निकला हो, बहुत खुजली आती हो, खसरा या चेचक निकली हो, तब चद्दर-स्नान उपयोगी सिद्ध होता है। मैंने इन रोगों में चद्दर-स्नान का उपयोग छूटसे किया है। चेचक या खसरे का रोग हो तब पानी में गुलाबी रंग आ जाए इतना परमेंगनेट मैं डालता था। चद्दर का उपयोग हो जाने पर उसे उबलते पानी में डाल देना चाहिए और जब पानी कुनकुना हो जाए तब उसे अच्छी तरह धोकर सुखा लेना चाहिए।

मैंने देखा है कि जब रक्त की गति मंद पड़ गई हो, पाँव टूटते हों, तब बरफ घिसने से बहुत फायदा होता है। बरफ के उपचार का असर गर्मी की ऋतु में अधिक अच्छा होता है। सर्दी की ऋतु में कमजोर मनुष्य पर बरफ का उपचार करने में खतरा है।

अब गरम पानी के उपचारों के बारे में हम विचार करें। गरम पानी का समझदारी से उपयोग करने से अनेक रोग शांत हो जाते हैं। जो काम प्रसिद्ध दवा आयोडीन करती है, वही काम काफ़ी हद तक गरम पानी कर देता है। सूजनवाले भाग पर हम आयोडीन लगाते हैं। उस पर गरम पानी की पट्टी रखने से आराम होने की संभावना है। कान के दर्द में आयोडीन की बूँदे डालते हैं; उसमें भी गरम पानी की पिचकारी लगाने से दर्द शांत होने की संभावना है। आयोडीन के उपयोग में कुछ खतरा रहता है, जब कि गरम पानी के उपचार में कुछ नहीं। जिस तरह आयोडीन जंतुनाशक है उसी तरह उबलता गरम पानी भी जंतुनाशक है। इसका यह अर्थ नहीं कि आयोडीन बहुत उपयोगी वस्तु नहीं है। उसकी उपयोगिता के बारे में मेरे मन में तनिक भी शंका नहीं है। पर गरीब के घरमें आयोडीन नहीं होता। वह महँगी चीज़ है। वह हरएक आदमी के हाथ में नहीं रखा जा सकता। पर पानी तो हर जगह होता है। इसीलिए हम दवा के तौर पर उसके उपयोग की अवगणना करते हैं। ऐसी अवगणना से हमें बचना चाहिए। ऐसे घरेलू उपचारों को सीख कर और अपना कर हम अनेक भयों से बच जाते हैं। [आरोग्य की कुँजी, १९५८, पृ. ४९-५०]

भाप के रूप में पानी बहुत काम देता है। रोगी को पसीना न आता हो तो भाप के द्वारा वह लाया जा सकता है। गठिया से जिनका शरीर निकम्मा बन गया हो, या जिनका वजन बहुत बढ़ गया हो, उनके लिए भाप बहुत उपयोगी वस्तु है।

भाप लेने का पुराना और आसान से आसान तरीका यह है : सनकी या सुतली की खाट का उपयोग करना ज़्यादा अच्छा है, लेकिन निवार की खाट भी चल सकती है। खाट पर एक खेस या कम्बल बिछा कर रोगी को उस पर सुला देना चाहिए। उबलते पानी के दो पतीले या हंडे खाट के नीचे रख कर रोगी को इस तरह ढँक देना चाहिए कि कम्बल खाट परसे लटक कर चारों तरफ ज़मीन को छू ले, ताकि खाट के नीचे बाहर की हवा जा ही न सके। इस तरह से लपेटने के बाद पानी के पतीलों या हंडों परसे ढँकना उतार देना चाहिए। इससे रोगी को भाप मिलने लगेगी। अच्छी तरह भाष न मिले, तो पानी को बदल देना चाहिए। दूसरे हंडे में पानी उबलता हो, तो उसे खाट के नीचे रख देना चाहिए। साधारणतया हम लोगों में यह रिवाज है कि खाट के नीचे हम अंगारे रखते हैं और उसके ऊपर उबलते हुए पानी का बरतन रखते हैं। इस तरह पानी की गर्मी कुछ ज़्यादा मिल सकती है, लेकिन उसमें दुर्घटना का डर रहता है। एक चिनगारी भी उड़े और कम्बल या किसी दूसरी चीज़ को आग लग जाए, तो रोगी की जान खतरे में पड़ सकती है। इसलिए तुरंत गर्मी पाने का लोभ छोड़कर जो उपाय मैंने बताया है उसीका उपयोग करना अच्छा है।

कुछ लोग भाप के पानी में वनस्पतियाँ डालते हैं, जैसे कि नीम के पत्ते। मुझे स्वयं इसकी उपयोगिता का अनुभव नहीं है, परन्तु भाप का उपयोग तो प्रत्यक्ष है। यह हुआ पसीना लाने का तरीका।

किसी के पाँव ठंडे हो गऐ हों या टूटते हों, तो एक गहरे बरतन में, जिसमें कि घुटने तक पाँव पहुँच सकें, सहन होने लायक गरम पानी भरना चाहिए और उसमें राई की भुक्की डालकर कुछ मिनिट तक पाँव रखने चाहिए। इससे पाँव गरम हो जाते हैं, बेचैनी मिट जाती है और पाँवों का टूटना बंद हो जाता है, खून नीचे उतरने लगता है और रोगी को आराम मालूम होता है। बलगम हो या गला दुखता हो, तो केतली में उबलता पानी भरकर गले और नाक को भाप दी जा सकती है। केतली को एक स्वतंत्र नली लगा कर उसके द्वारा आराम से भाप ली जा सकती है। यह नली लकड़ी की होनी चाहिए। इस नली पर रबड़ की नली लगा लेने से काम और भी आसान हो जाता है। [आरोग्य की कुँजी, १९५८, पृ. ५०-५२]

आकाश

आकाश को हम अवकाश कह सकते हैं। [आरोग्य की कुँजी, १९५८, पृ. ५२]

हम आकाश से घिरे हुए न हों तो हमारा दम घुट जाए और हम मर जाएँ। जहाँ कुछ नहीं है वहाँ आकाश है। इसलिए हम दूर-दूर जो आसमानी रंग देख रहे हैं वही केवल आकाश नहीं है। आकाश हमारे पास से ही शुरू होता है; वह तो हमारे भीतर भी है। अवकाश-मात्र को हम आकाश नहीं कह सकते। सच है कि जो खाली दिखाई देता है वह हवा से भरा हुआ है |

हम हवा को तो नहीं देख सकते, पर वह कहाँ रहती है? वह आकाश में ही विहार करती है। इसलिए आकाश हमें छोड़ ही नहीं सकता। परन्तु आकाश को कौन खींच सकता है?

इस आकाश की मदद हमें आरोग्य की रक्षा के लिए या आरोग्य खो चूके हों तो उसे पुनः प्राप्त करने के लिए लेनी है। [आरोग्य की कुँजी, १९५८, पृ. ५२-५३]

जिस प्रकार आकाश यहाँ है उसी तरह आवरण के बाहर भी है। इसलिए सर्वव्यापी तो आकाश ही हैं। फिर भले वैज्ञानिक सिद्ध करें कि इस आवरण के ऊपर ईश्वर नामक पदार्थ है अथवा अन्य कोई पदार्थ है। ईश्वर भी जिसमें रहता है वह आकाश है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि ईश्वर का भेद जाना जा सके तो ही आकाश का भेद जाना जा सकता है।

ऐसे महान तत्त्व का अध्ययन और उपयोग हम जितना करेंगे उतना ही अधिक आरोग्य हम भोग सकेंगे।

पहला पाठ तो यह है कि इस सुदूर और अदूर तत्त्व के और हमारे बीच में कोई आवरण नहीं आने देना चाहिए। अर्थात् यदि घरबार के बिना या कपड़ों के बिना हम इस अनंत के साथ अपना संबंध जोड़ सकें, तो हमारा शरीर, बुद्धि और आत्मा पूरी तरह आरोग्य का अनुभव कर सकेंगे। इस आदर्श तक हम भले न पहुँच सकें या करोड़ों में से कोई एक ही पहुँच सके, तो भी इस आदर्श को जानना, समझना और उसके प्रति आदरभाव रखना आवश्यक है। और यदि वह हमारा आदर्श हो तो जिस हद तक हम उसे प्राप्त कर सकेंगे, उस हद तक हम सुख, शांति और संतोष का अनुभव करेंगे। [आरोग्य की कुँजी, १९५८, पृ. ५३-५४]

इस विचारश्रेणी के अनुसार घरबार, वस्त्रादि के उपयोग में हम काफ़ी अवकाश रख सकते हैं। कई घरों में इतना साज-समान देखने में आता है के मेरे जैसे गरीब आदमी का तो उसमें दम ही घुटने लगता है। उन सब चीज़ों का उपयोग क्या है, यह उसकी समझ में नहीं आता। उसे वे सब धूल और जंतुओं को इकट्ठा करने के साधन ही मालूम होंगे। [आरोग्य की कुँजी, १९५८, पृ. ५४-५५]

मनुष्य के सोने का स्थान आकाश के नीचे होना चाहिए। ओस और सर्दी से बचने के लिए काफ़ी ओढ़ने को रखा जा सकता है। वर्षाऋतु में एक छाते की-सी छत भले हो, पर बाकी हर समय उसकी छत अगणित तारागणों से जड़ित आकाश ही होगा। जब आँख खुलेगी तो वह प्रतिक्षण नया दृश्य देखेगा। इस दृश्य से वह कभी ऊबेगा नहीं। इससे उसकी आँखें चौंधियायेंगी नहीं, बल्कि वे शीतलता का अनुभव करेंगी। तारागणों का भव्य संघ उसे घूमता ही दिखाई देगा। जो मनुष्य उनके साथ संपर्क साध कर सोयेगा उन्हें अपने हृदय का साक्षी बनाएगा, वह अपवित्र विचारों को कभी अपने हृदय में स्थान नहीं देगा और शांत निद्रा का उपभोग करेगा।

परन्तु जिस तरह हमारे आसपास आकाश है, उसी तरह हमारे भीतर भी है। चमड़ी के एक-एक छिद्र में, दो छिद्रों के बीच की जगह में भी आकाश है। इस आकाश – अवकाश – को भरने का हम जरा भी प्रयत्न न करें। इसलिए हम जितना आवश्यक हो उतना ही आहार लें, तो शरीर को अवकाश रहेगा। हमें इस बात का हमेशा भाग नहीं रहता कि हम कब अधिक या अयोग्य आहार कर लेते हैं। इसलिए अगर हम हफ्ते में एक दिन या पखवारे में एक दिन या सुविधा से उपवास करें, तो शरीर का संतुलन कायम रख सकते हैं। जो पूरे दिन का उपवास न कर सकें, वे एक या एकसे अधिक जून का खाना छोड़ने से भी लाभ उठाएँगे। [आरोग्य की कुँजी, १९५८, पृ. ५५-५६]

तेज

जैसे हम पानी का स्नान कर के साफ-स्वच्छ होते हैं, वैसे ही सूर्य स्नान करके भी साफ और तंदुरुस्त हो सकते हैं। दुर्बल मनुष्य या जिसका खून सूख गया हो वह यदि प्रातःकाल के सूर्य की किरणे नंगे शरीर पर ले, तो उसके चेहरे का फीकापन और दुर्बलता दूर हो जाएगी और अगर पाचन-क्रिया मंद हो तो वह जाग्रत हो जाएगी। सबेरे जब धूप ज़्यादा न चढ़ी हो, यह स्नान करना चाहिए। जिसे नंगे शरीर लेटने या

बैठने में सर्दी लगे, वह आवश्यक कपड़े ओढ़कर लेटे या बैठे और जैसे जैसे शरीर सहन करता जाए वैसे वैसे कपड़े हटाता जाय। नंगे बदन हम धूप में टहल भी सकते हैं। कोई न देख सके ऐसी जगह ढूँढ़कर यह क्रिया की जा सकती है। अगर ऐसी सहूलियत पैदा करने के लिए दूर जाना पड़े और इतना समय न हो, तो बारीक लंगोटी से गुह्य भागों को ढँककर सूर्य-स्नान लिया जा सकता है। [आरोग्य की कुँजी, १९५८, पृ. ५७]

ऐसे सूर्य-स्नान से बहुत लोगों को लाभ हुआ है। क्षयरोग में इसका खूब उपयोग किया जाता है। [आरोग्य की कुँजी, १९५८, पृ. ५७]

कई बार फोड़े का घाव भरता ही नहीं है। उसे सूर्य-स्नान दिया जाए तो वह भर जाता है। [आरोग्य की कुँजी, १९५८, पृ. ५८]

वायु

जैसे पहले चार तत्त्व उपयोगी हैं वैसे ही यह पाँचवाँ तत्त्व भी अत्यंत उपयोगी है। जिन पाँच तत्त्वों का यह मनुष्य-शरीर बना है, उनके बिना मनुष्य टिक ही नहीं सकता। इसलिए वायु से किसी को डरना नहीं चाहिए। आम तौर पर हम जहाँ कहीं जाते हैं वहाँ घर में वायु और प्रकाश का प्रवेश बंद करके अपने आरोग्य को खतरे में डालते हैं। सच तो यह है कि यदि हम बचपन से ही हवा का डर न रखना सीखे हों, तो शरीर को हवा सहन करने की आदत हो जाती है और हम जुकाम, बलगम इत्यादि से बच जाते हैं। [आरोग्य की कुँजी, १९५८, पृ. ५८]

डोक्टरी मदद की सीमा

अखिल भारत ग्रामोद्योग-संघ की प्रवृत्तियाँ शुरू होते ही डोक्टरी सहायता ने कई कार्यकर्ताओं के कार्यक्रम में यदि एकमात्र नहीं तो अत्यंत महत्त्व का स्थान ज़रूर ले लिया है। इस सहायता में डोक्टरी, आयुर्वेदिक, यूनानी या होमियोपैथी की दवाइयाँ या सब दवाइयाँ मिला कर गाँव वालों को मुफ्त बाँटने का काम रहता है। इन दवाइयों के व्यापारी अपने पास आनेवाले कार्यकर्ताओं को कुछ दवाइयाँ देकर आभारी बनाने के लिए हमेशा तैयार रहते हैं। इन दवाइयों की क़ीमत उन्हें बहुत थोड़ी चुकानी होती है और इस तरह दी गई ये दवाइयाँ, उनकी अपनी राय में – अगर वे इस दान के प्रति केवल स्वार्थ की

दृष्टि से ही देखें – बदले में उन्हें ज़्यादा ग्राहक दे सकती हैं। गरीब बीमार नेकनीयत लेकिन अधूरी जानकारी रखनेवाले या ज़रूरत से ज़्यादा उत्साही कार्यकर्ताओं के शिकार हो जाते हैं। इनमें से तीन-चौथाई दवाइयाँ न सिर्फ बेकार होती हैं, बल्कि दृश्य नहीं तो अदृश्य रूप में बीमारों को नुकसान भी पहुँचाती हैं। जहाँ वे बीमारों को थोड़े समय के लिए राहत भी पहुँचाती हैं, वहाँ गाँव के बाजार में उनकी जगह लेने वाली दवाइयाँ आम तौर पर मिलती हैं।

इसलिए जिस डोक्टरी राहत का मैंने वर्णन किया है, उसे अ॰ भा॰ ग्रामोद्योग-संघ बिलकुल छोड़ रहा है। इसलिए उसकी मुख्य चिंता स्वास्थ्य-संबंधी और आर्थिक बातों में गाँव वालों को शिक्षा देने की है। लेकिन कया इन दोनों का कोई परस्पर संबंध नहीं है? क्या लाखों लोगों के लिए स्वास्थ्य ही धन नहीं है? उनके शरीर, न कि उनकी बुद्धि, धन कमाने के मुख्य साधन हैं। इसलिए ग्रामोद्योग-संघ लोगों को बीमारी से बचने की शिक्षा देना चाहता है। सब कोई जानते हैं कि देश के लाखों लोगों को पोषण की दृष्टि से बहुत घटिया खुराक मिलती है। और जो कुछ वे खाते हैं उसका दुरुपयोग करते हैं। सफाई और स्वच्छता का उन्हें बिलकुल ज्ञान नहीं है। गाँवों में सफाई का नाम नहीं है। इसलिए अगर ये दोष दूर कर दिए जाएँ और गाँव के लोग सफाई के सादे नियमों को समझकर उनका पालन करने लगें, तो उनकी ज़्यादातर बीमारियाँ बिना ज़्यादा प्रयत्न या खर्च के मिट सकती है। इसलिए संघ दवाखाने खोलने का विचार नहीं करता। इस बात की जाँच की जा रही है कि गाँव दवाइयों के रूप में क्या दे सकते हैं। सतीशबाबू के सस्ते इलाज[७] उसी दिशा में किए गए प्रयत्न हैं। यद्यपि वे अत्यंत सादे हैं, फिर भी सतीशबाबू इस बात का प्रयोग कर रहे हैं कि गुणकारिता को कम किए बिना इन इलाजों की संख्या बहुत कम कैसे की जा सकती हैं। वे बाजार में मिलने वाली जड़ी-बूटियों का अध्ययन कर रहे हैं, उनकी परीक्षा कर रहे हैं और उसी तरह की अंग्रेजी दवाओं से उनकी तुलना कर रहे हैं। हेतु यही है कि भोले-भाले ग्रामवासियों को रहस्यमयी गोलियों और दवाओं के डर से दूर रखा जाए। [हरिजन, ५-४-१९३५, पृ. ५९]

जहाँ ज्वर, अजीर्ण या इसी प्रकार के सामान्य रोगों के रोगी ग्रामसेवकों की मदद लेने आएँ, वहाँ वे उनकी जो मदद कर सकें ज़रूर करें। रोग का निदान भर अच्छी तरह मालूम हो जाए, फिर गाँव में उस रोग की सस्ती से सस्ती और अच्छी से अच्छी दवा तो मिल ही जाएगी। दवाइयाँ कोई अपने पास

रखना ही चाहे तो अंडीका तेल, कुनैन और उबला हुआ गरम पानी – ये सबसे बढ़िया दवाइयाँ हैं। अंडीका तेल सभी जगह मिल सकता है। सनायकी पत्ती से भी वही काम निकल सकता है। कुनैन का मैं कम ही उपयोग करता हूँ। प्रत्येक प्रकार के ज्वर में कुनैन देने की ज़रूरत नहीं; और न प्रत्येक ज्वर कुनैन से काबू में ही आता है। अधिकांश ज्वर तो पूर्ण या अर्ध-उपवास से ही शांत हो जाते हैं। अन्न और दूध को छोड़ देना और फलों का रस अथवा मुनक्के का उबला हुआ पानी लेना तथा नीबू के ताजे रस या इमली के साथ गुड़ का उबला हुआ पानी लेना भी अर्ध-उपवास है। उबला पानी तो रामबाण औषध है। आंतों को वह खलभला डालता है और पसीना लाता है, जिससे बुखार का जोर कम हो जाता है। यह एक ऐसी रोगाणुनाशक औषध है, जिसमें किसी भी तरह का खतरा नहीं है और सस्ती इतनी कि एक कौड़ी भी खर्च नहीं होती। हर हालत में जब भी पानी पीना हो उसे कुछ सिराकर पीना चाहिए; उतना ही गरम पानी पीना चाहिए जितना कि अच्छी तरह सहन हो सके। पानी उबालने का मतलब महज गरम करना नहीं है। पानी में जब बुलबुले उठने लगें और उससे भाप निकलने लगे, तभी उसे उबला हुआ समझना चाहिए।

जहाँ ग्रामसेवक खुद किसी निश्चय पर न पहुँच सकें, वहाँ उन्हें स्थानीय वैद्यों का अवश्य पूरा-पूरा सहयोग लेना चाहिए। जहाँ वैद्य न हो अथवा भरोसे का वैद्य न हो और ग्रामसेवक पड़ोस के किसी परमार्थी डोक्टर को जानते हों, वहाँ उन्हें ज़रूर उसकी मदद लेनी चाहिए |

पर उन्हें यह मालूम होना चाहिए कि रोग के उपचार में भी स्वच्छता का स्थान सबसे महत्त्व का है। उन्हें यह याद रखना चाहिए कि सर्वश्रेष्ठ वैद्य तो प्रकृति ही है। इस बात का वे विश्वास रखें कि मनुष्य जिसे बिगाड़ देता है, प्रकृति उसे सुधारती रहती है। लाचार तो वह उस समय मालूम पड़ती है जब मनुष्य लगातार उसकी अवहेलना किया करता है। तब जो असाध्य हो जाता है उसे नष्ट कर डालने के लिए वह अपने अंतिम और अटल दूत 'मृत्यु' को भेजती है और उस देहधारी को नया चोला पहना देती है। इसलिए स्वच्छता और स्वास्थ्यरक्षा का कार्य करनेवाले मनुष्य प्रत्येक व्यक्ति के सर्वश्रेष्ठ सहायक या उत्तम वैद्य हैं, भले उसे इसका पता हो या न हो। [हरिजनसेवक, १७-५-१९३५, पृ. १०४]

भिन्न-भिन्न संस्थाओं की ओर से किए जानेवाले ग्रामकार्य या समाजसेवा के काम की जो रिपोर्ट मेरे पास आती हैं, में देखता हूँ कि उनमें से बहुतों में दवा-दारू की सहायता के काम को बहुत महत्त्व

दिया जाता है। यह सहायता बीमारों को दवा बाँटने के रूप में की जाती है – और बीमारों का तो कहना ही क्या? उन्होंने किसीको दवा बाँटने की बात कहते सुना नहीं कि उसे आकर घेर लिया। इस तरह जो व्यक्ति दवा बाँटता है, उसे इसके लिए कोई खास अभ्यास करने का कष्ट नहीं उठाना पड़ता। रोग और उसके लक्षणों का विशेष या किसी तरह का भी ज्ञान रखने की उसे ज़रूरत नहीं होती। यहाँ तक कि दवाएँ भी अकसर दयालु दवाफरोशों से मुफ्त ही मिल जाती हैं। ऐसे दानियों से इसके लिए चंदा भी हमेशा मिल ही जाता है, जो चंदा देते समय ज़्यादा सोच-विचार नहीं करते। बस इसी ख़याल से उन्हें आत्म-संतोष हो जाता है कि हम जो दान दे रहे हैं उससे दीन-दुखियों को मदद होगी।

सेवा के जितने भी तरीके हैं उनमें यह सामाजिक सेवा मुझे सबसे ज़्यादा काहिल और अकसर हानिकारक मालूम होती है। इसकी बुराई का आरंभ तो तभी हो जाता है जब कि मरीज यह समजने लगता है कि बस दवा गटक जाने के सिवा मुझे और कुछ नहीं करना है। दवा पाकर वह आगे के लिए सावधान बने ऐसा नहीं होता। अलबत्ता, कभी-कभी वह पहले से भी गया-बीता बन जाता है –क्योंकि इस ख़याल से वह तत्संबंधी बचाव या संयम रखने की चिंता नहीं करता कि अनियमितता और लापरवाही से कुछ गड़बड़ी भी हुई तो क्या, सेंत-मेंत या बराय नाम पैसों की कुछ दवा लेकर खा लूँगा और सब ठीक-ठाक हो जाएगा। फिर इस बात से कि उसे ऐसी (दवा-दारू की) मदद बिना कुछ खर्च किये मुफ्त ही मिल जाती है, उसके उस आत्म-सम्मान का भी ह्रास होता है, जो बिना कोई काम किये दान में कुछ लेना गवारा नहीं कर सकता।

लेकिन दवा-दारु की सहायता का एक और भी तरीका है, और निस्संदेह वह हमारे लिए एक बड़ी नियामत है। जो लोग रोग और उसे पैदा करनेवाले कारणों को जानते हैं, वही ऐसी सहायता कर सकते हैं। वे बीमारों को खाली दवा ही नहीं देंगे, बल्कि यह भी बताएँगे कि उन्हें क्या खास बीमारी है और क्या करने से आगे वे उससे बचे रह सकते हैं। ऐसे सेवक रात-दिन की कोई परवाह नहीं करेंगे और हर समय सहायता के लिए तैयार रहेंगे। ऐसी सहायता से रोग-निवारण ही नहीं होगा, बल्कि स्वास्थ्य-विज्ञान की शिक्षा भी लोगों को मिलेगी, जिससे वे यह जान सकेंगे कि स्वास्थ्य और सफाई के नियमों का पालन करते हुए वे किस प्रकार तंदुरुस्त रह सकते हैं। लेकिन ऐसी सेवा बहुत कम देखने में आती है। अधिकांश रिपोर्टो में तो दवा-दारू की सहायता का उल्लेख बतौर विज्ञापन के ही होता है, ताकि लोग उसे पढ़कर

उनके दूसेर ऐसे कामकाज के लिए चंदा देने को प्रेरित हों, जिनमें शायद दवा-दारु की सहायता से भी कम ज्ञान की आवश्यकता होती है। इसलिए समाज-सेवा के कार्य में लगे हुए सब भाइयों से, चाहे वे शहरों में काम करते हों या गाँवों में, मेरी प्रार्थना है कि दवा-दारू की अपनी इस हलचल को वे अपने सेवाकार्य का सबसे कम महत्त्वपूर्ण अंग मानें। बेहतर तो यह होगा कि वे अपनी रिपोर्टों में ऐसे सहायता-कार्य का कोई उल्लेख ही न करें। इसके बजाय यदि वे ऐसे उपायों का सहारा लें जिनसे उस स्थान में बीमारी में रुकावट हो, तो अलबत्ता वे अच्छा काम करेंगे। दवा-दारू का सामान तो जहाँ तक हो कम करना चाहिए। जो दवाएँ उनके गाँव में ही मिल सकें उनके उपयोग की जानकारी उन्हें हासिल करनी चाहिए और जहाँ तक हो उन्हीं का उपयोग करना चाहिए। ऐसा करने पर उन्हें पता लगेगा, जैसा कि सिन्दी गाँव में हमें मालूम होता जा रहा है, कि बहुत से रोगों में तो गरम पानी, धूप, साफ नमक और सोडा के साथ कभी-कभी अंडी के तेल व कुनैन का प्रयोग करने से ही काम चल जाता है। जो भी ज़्यादा बीमार हो उन सबको शहर के बड़े अस्पताल में भेज देने का हमने नियम बना लिया है। नतीजा यह हुआ है कि मरीज लोग मीराबहन के पास दौड़े चले आते हैं और उनसे स्वास्थ्य, सफाई व रोग-निवारण के उपाय मालूम करते हैं। दवा के बजाय रोग-निवारण का उपाय ग्रहण करने में उन्हें कोई आपत्ति हो, ऐसा मालूम नहीं पड़ता। [हरिजनसेवक, १६-११-१९३५, पृ. ३१८]

---

६. 'आरोग्य की कुँजी' में यहाँ क्युनेका नाम दिया गया है। परन्तु इस पुस्तक के अंग्रेजी संस्करण में जुस्ट का नाम है। जुस्ट नाम ही सही मालूम होने से यहाँ क्युने के बदले जुस्ट कर दिया गया है।

७. 'घर और गाँव का डोक्टर' – लेखक: सतीशचंद्र दासगुप्त, खादी प्रतिष्ठान, १५ – कोलेज स्क्वेअर, कलकत्ता; पृष्ठ २४+१२८७; क़ीमत १०-०-०।

२५. आहार

यह बात सच है कि हवा और पानी के बिना आदमी जीवित ही नहीं रह सकता। परन्तु जीवन की टिकाने वाली चीज़ तो भोजन ही है। अन्न मनुष्य का प्राण है।

आहार तीन प्रकार का होता है – मांसाहार, शाकाहार और मिश्राहार। असंख्य लोग मिश्राहारी हैं। मांस में मछली और पक्षी भी आ जाते हैं। दूध को हम किसी भी तरह शाकाहार नहीं मान सकते। सच पूछा जाए तो वह मांस का ही एक रूप है। परन्तु लौकिक भाषा में वह मांसाहार में नहीं गिना जाता। जो गुण मांस में हैं वे अधिकतर दूध में भी है। डोक्टरी भाषा में वह प्राणिज आहार – एनिमल फूड – माना जाता है। अंडे सामान्यतः मांसाहार में गिने जाते हैं, लेकिन दरअसल वे मांस नहीं हैं। आजकल तो अंडे ऐसे तरीके से पैदा किये जाते हैं कि मुर्गी मुर्गे को देखे बिना भी अंडे देती है। इन अंडों में चूजा कभी बनता ही नहीं। इसलिए जिन्हें दूध पीने में कोई संकोच नहीं, उन्हें इस प्रकार के अंडे खाने में भी कोई संकोच नहीं होना चाहिए।

डोक्टरी मत का झुकाव मुख्यतः मिश्राहार की ओर है। परन्तु पश्चिम में डोक्टरों का एक बड़ा समुदाय ऐसा है, जिसका यह दृढ़ मत है कि मनुष्य के शरीर की रचना को देखने से वह शाकाहारी ही लगता है। उसके दाँत, आमाशय इत्यादि उसे शाकाहारी सिद्ध करते हैं। शाकाहार में फलों का समावेश होता है। फलों में ताजे फल और सूखा मेवा अर्थात् बादाम, पिस्ता, अखरोट, चिलगोजा इत्यादि आ जाते हैं।

मैं शाकाहार का पक्षपाती हूँ। परन्तु अनुभव से मुझे यह स्वीकार करना पड़ा है कि दूध और दूध से बननेवाले पदार्थ जैसे मक्खन, दही वगैरा के बिना मनुष्य-शरीर पूरी तरह टिक नहीं सकता। मेरे विचारों में यह महत्त्व का परिवर्तन हुआ है। मैंने दूध-घी के बगैर छह वर्ष निकाले हैं। उस समय मेरी शक्ति में किसी तरह की कमी नहीं आई थी। पर अपनी मूर्खता के कारण मुझे १९१७ में सख्त पेचिश हो गई। मेरा शरीर हाड़-पिंजर बन गया। मैंने हठपूर्वक दवा न ली और उतने ही हठ से दूध या छाछ भी लेने से इनकार किया। शरीर किसी तरह बनता ही नहीं था। मैंने दूध न लेने का व्रत लिया था। लेकिन डोक्टर कहने लगा – “यह व्रत तो आपने गाय-भैंस के दूध को नज़र में रखकर लिया था।” “बकरी का

दूध लेने में आपको कोई हर्ज नहीं होना चाहिए।" – मेरी धर्मपत्नीने डोक्टर का समर्थन किया और मैं पिघला। सच कहा जाए तो जिसने गाय- भैंस के दूध का त्याग किया है, उसे बकरी वगैरा का दूध लेने की छूट नहीं होनी चाहिए। क्योंकि उस दूध में भी पदार्थ तो वही होते हैं, सिर्फ मात्रा का ही फरक होता है। इसलिए मेरे व्रत के अक्षरों का ही पालन हुआ है, उसकी आत्मा का नहीं।

जो भी हो, बकरी का दूध तुरंत आया और मैंने उसे लिया। लेते ही मुझ में नया चेतन आया, शरीर में शक्ति आयी और मैं खाट से उठा। इस परसे और ऐसे अनेक दूसरे अनुभवों परसे मैं लाचार होकर दूध का पक्षपाती बना हूँ। लेकिन मेरा यह दृढ़ मत है कि असंख्य वनस्पतियों में से कोई न कोई ऐसी ज़रूर होगी, जो दूध और मांस की आवश्यकता अच्छी तरह पूरी कर सके और उनके दोषों से मुक्त हो।

मेरी दृष्टि से दूध और मांस लेने में दोष तो हैं ही। मांस के लिए हम पशु-पक्षियों का नाश करते हैं। और माँ के दूध के सिवा दूसरा दूध पीने का हमें अधिकार नहीं है। नैतिक दोष के सिवा केवल आरोग्य की दृष्टि से भी इनमें दोष हैं। दोनों में पशु के दोष आ ही जाते हैं। पालतू पशु सामान्यतः पूरे तंदुरुस्त नहीं होते। मनुष्य की तरह पशुओं में भी अनेक रोग होते हैं। अनेक परीक्षाएँ करने के बाद भी कई रोग परीक्षक की नज़र से छूट जाते हैं। सब पशुओं की अच्छी तरह परीक्षा करवाना असंभव लगता है। मेरे पास गोशाला है। मित्रों की मदद आसानी से मिल जाती है। परन्तु मैं निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता कि मेरी गोशाला में सब पशु निरोगी ही हैं। इससे उलटे यह देखने में आया है कि जो गाय निरोगी मानी जाती थी वह अंत में रोगी सिद्ध हुई। इसका पता चलने से पहले तो उस रोगी गाय के दूध का उपयोग होता ही रहता था।

सेवाग्राम-आश्रम आसपास के किसानों से भी दूध लेता है। उनके पशुओं की परीक्षा कौन करता है? दूध निर्दोष है या नहीं, इसकी परीक्षा करना कठिन है। इसलिए दूध उबालने से जितना निर्दोष बन सके उससे ही काम चलाना होगा। दूसरी सब जगहों पर आश्रम से तो पशुओं की परीक्षा कम ही हो सकती है। जो बात दूध देने वाले पशुओं के लिए सच है, वह मांस के लिए कतल होनेवाले पशुओं के लिए तो है ही। पर अधिकतर तो हमारा काम भगवान के भरोसे ही चलता है। मनुष्य अपने आरोग्य की बहुत चिंता नहीं रखता। उसने अपने लिए वैद्यों, डोक्टरों और नीम-हकीमों की एक संरक्षक फौज़ खड़ी कर रखी है और उसके बल पर वह अपने-आपको सुरक्षित मानता है। उसे सबसे अधिक चिंता रहती है

धन और प्रतिष्ठा वगैरा प्राप्त करने की। यह चिंता दूसरी सब चिंताओं को हजम कर जाती है। इसलिए जब तक कोई पारमार्थिक डोक्टर, वैद्य या हकीम लगने से परिश्रम कर के संपूर्ण गुणों वाली कोई वनस्पति नहीं ढूँढ़ निकालता, तब तक मनुष्य दुग्धाहार या मांसाहार करता ही रहेगा।

अब जरा युक्ताहार के बारे में विचार करें। मनुष्य-शरीर को स्नायु बनानेवाले, गर्मी देनेवाले, चर्बी बढ़ाने वाले, क्षार देने वाले और मल निकालने वाले द्रव्यों की आवश्यकता रहती है। स्नायु बनाने वाले द्रव्य दूध, मांस, दालों और सूखे मेवों से मिलते हैं। दूध और मांस से मिलने वाले द्रव्य दालों बगैरा की अपेक्षा अधिक आसानी से पच जाते हैं और सर्वांश में अधिक लाभदायक हैं। दूध और मांस में दूध का स्थान अधिक ऊँचा है। डोक्टर लोग कहते हैं कि जब मांस नहीं पचता तब भी दूध पच जाता है। जो लोग मांस नहीं खाते उन्हें तो दूध से बहुत बड़ी मदद मिलती है। पाचन की दृष्टि से कच्चे अंडे सबसे अच्छे माने जाते हैं।

परन्तु दूध या अंडे सब लोग कहाँ से पायें? सब जगह ये मिलते भी नहीं। दूध के बारे में एक बहुत ज़रूरी बात मैं यहीं कह दूँ। मक्खन निकाला हुआ दूध निकम्मा नहीं होता। वह अत्यंत क़ीमती पदार्थ है। कभी-कभी तो वह मक्खन वाले दूध से भी अधिक उपयोगी होता है। दूध का मुख्य गुण स्नायु बनाने वाले प्राणिज पदार्थ की आवश्यकता पूरी करना है। मक्खन निकाल लेने पर भी उसका यह गुण कायम रहता है। इसके अलावा, सबका सब मक्खन दूध में से निकाल सके, ऐसा यंत्र तो अभी तक बना ही नहीं है; और बनने की संभावना भी कम ही है |

पूर्ण या अपूर्ण दूध के सिवा दूसरे पदार्थों की शरीर को आवश्यकता रहती है। दूध से दूसरे दर्जे पर गेहूँ, बाजरा, जुआर, चावल वगैरा अनाज रखे जा सकते हैं। हिन्दुस्तान के अलग अलग प्रांतों में अलग अलग किस्म के अनाज पाए जाते हैं। कई जगहों पर केवल स्वाद के लिए एक ही गुण वाले एकसे अधिक अनाज खाये जाते हैं। जैसे कि गेहूँ, बाजरा और चावल तीनों चीज़ें थोड़ी-थोड़ी मात्रा में एकसाथ खाई जाती हैं। शरीर के पोषण के लिए इस मिश्रण की आवश्यकता नहीं है। इससे आहार की मात्रा पर अंकुश नहीं रहता और आमाशय का काम अधिक बढ़ जाता है। एक समय में एक ही तरह का अनाज खाना ठीक माना जाएगा। इन अनाजों में से मुख्यतः स्टार्च (निशास्ता) मिलता है। गेहूँ सब अनाजों का राजा है। दुनिया पर नज़र डालें तो गेहूँ सबसे ज़्यादा खाया जाता है। आरोग्य की दृष्टि से गेहूँ मिले तो

चावल अनावश्यक है। जहाँ गेहूँ न मिले और बाजरा, जुआर इत्यादि अच्छे न लगे या अनुकूल न आएँ वहाँ चावल लेना चाहिए।

अनाज मात्र को अच्छी तरह साफ करके हाथ-चक्की में पीसकर आटे का बिना छाने इस्तेमाल करना चाहिए। अनाज की भूसी में सत्त्व और क्षार भी रहते हैं। दोनों बड़े उपयोगी पदार्थ हैं। इसके उपरांत भूसी में एक ऐसा पदार्थ होता है, जो बगैर पचे बाहर निकल जाता है और अपने साथ मलको भी निकालता है। चावल का दाना नाजुक होने के कारण ईश्वर ने उसके ऊपर छिलका बनाया है, जो खाने के काम में नहीं आता। इसलिए चावल को कूटना पड़ता है। कुटाई उतनी ही करनी चाहिए जिससे ऊपर का छिलका निकल जाए। मशीन में चावल के छिलके के अलावा उसकी भूसी भी बिलकुल निकाल डाली जाती है। इसका कारण यह है कि चावल की भूसी में बहुत मीठास रहती है, इसलिए अगर भूसी रखी जाय तो उसमें सुसरी या कीड़ा पड़ जाता है। गेहूँ और चावल की भूसी निकाल दें तो बाकी केवल स्टार्च ही रह जाता है; और भूसी में अनाज का बहुत क़ीमती हिस्सा चला जाता है। गेहूँ और चावल की भूसी को अकेली पका कर भी खाया जा सकता है। उसकी रोटी भी बन सकती है। कोकणी चावलों का तो आटा पीसकर उसकी ही रोटी गरीब लोग खाते हैं। पूरे चावल पका कर खाने की अपेक्षा चावल के आटे की रोटी शायद अधिक आसानी से पचती हो और थोड़ी खाने से पूरा संतोष भी दे।

हम लोगों को दाल या शाक के साथ रोटी खाने की आदत है। इससे रोटी पूरी तरह चबाई नहीं जाती। स्टार्चवाले पदार्थों को जितना चबायें और वे लार के साथ जितने मिलें उतना ही अच्छा है। यह लार स्टार्च के पचने में मदद करती है। अगर भोजन को बिना चबाये निगल जाएँ, तो उसके पचने में लार की मदद नहीं मिल सकती। इसलिए खुराक को ऐसी स्थिति में खाना अधिक लाभदायक है जिसमें उसे चबाना पड़े।

स्टार्च-प्रधान अनाजों के बाद स्नायु बाँधने वाली (प्रोटीड-प्रधान) दालों इत्यादि को दूसरा स्थान दिया जाता है। दाल के बिना भोजन को सब लोग अपूर्ण मानते हैं। मांसाहारी को भी दाल तो चाहिए ही। जिसको मेहनत-मज़दूरी करनी पड़ती है और जिसे पूरी मात्रा में या बिलकुल दूध नहीं मिलता, उसका गुजारा दाल के बिना नहीं हो सकता। इसे मैं समझ सकता हूँ। पर मुझे यह कहने में जरा भी

संकोच नहीं होता कि जिन्हें शारीरिक काम कम करना पड़ता है – जैसे कि व्यापारी, वकील, डोक्टर या शिक्षक – और जिन्हें दूध पूरी मात्रा में मिल जाता है, उन्हें दाल की आवश्यकता नहीं है। सामान्यतः दाल भारी आहार मानी जाती है और स्टार्च-प्रधान अनाज की अपेक्षा बहुत कम मात्रा में खाई जाती है। दालों में मटर और लोबिया बहुत भारी हैं। मूंग और मसूर हलके माने जाते हैं।

तीसरा दर्जा शाकभाजी और फलों को देना चाहिए। शाक और फल हिन्दुस्तान में सस्ते होने चाहिए, लेकिन ऐसा नहीं है। वे केवल शहरियों का भोजन माने जाते हैं। गाँवों में हरी तरकारी भाग्य से ही मिलती है और बहुत जगह फल भी नहीं मिलते। शाकभाजी और फलों की कमी हिन्दुस्तान के लिए बड़ी शरम की बात है। ग्रामवासी चाहें तो काफ़ी शाकभाजी पैदा कर सकते हैं | फलों के पेड़ों के बारे में कठिनाई ज़रूर है, क्योंकि ज़मीन की खेती के कानून सख्त और गरीबों को दबानेवाले हैं | लेकिन यह तो हमारे विषय के बाहर की बात हुई।

ताजी शाकभाजी में पत्तों वाली जो भी भाजी मिले वह काफ़ी मात्रा में हर रोज लेनी चाहिए। जो शाक स्टार्च-प्रधान हैं उनकी गिनती यहाँ मैंने शाकभाजी में नहीं की है। आलू, शकरकंद, रतालू और जमींकंद स्टार्च-प्रधान शाक हैं। इन्हें अनाज की श्रेणी में रखना चाहिए। दूसरे कम स्टार्चवाले शाक काफ़ी मात्रा में लेने चाहिए। ककड़ी, लूनी की भाजी, सरसों का साग, सोएकी भाजी, टमाटर इत्यादि को पकाने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। उन्हें साफ करके और अच्छी तरह धोकर थोड़ी मात्रा में कच्चा खाना चाहिए।

फलों में मौसम के जो फल मिल सकें उन्हें लेना चाहिए। आम के मौसम में आम, जामुन के मौसम में जामुन, इसी तरह अमरूद, पपीता, संतरा, अंगूर, मीठे नीबू (शरबती या स्वीट लाइम), मोसंबी वगैरा फलों का ठीक ठीक उपयोग होना चाहिए। फल खाने का सबसे अच्छा समय सुबह का है। सवेरे दूध और फल का नास्ता करने से पूरा संतोष मिल जाता है। जो लोग खाना जल्दी खाते हैं उनके लिए सवेरे केवल फल ही खाना अच्छा है।

केला एक अच्छा फल है। परन्तु उसमें स्टार्च बहुत रहता है। इसलिए वह रोटी की जगह लेता है। केला, दूध और भाजी संपूर्ण आहार है।

मनुष्य के आहार में थोड़ी-बहुत चिकनाई की आवश्यकता रहती है। वह घी और तेल से मिल जाती है। घी मिल सके तो तेल की कोई आवश्यकता नहीं रहती। तेल पचने में भारी होते हैं और शुद्ध घीके बराबर गुणकारी नहीं होते। सामान्य मनुष्य के लिए तीन तोला घी काफ़ी समझना चाहिए। दूध में घी आ ही जाता है। इसलिए जिसे घी न मिल सके वह तेल खाकर चर्बी की मात्रा पुरी कर सकता है। तेलों में तिलका, नारियल का और मूगफली का तेल अच्छा माना जाता है। तेल ताजा होना चाहिए। इसलिए देशी घानी का तेल मिल सके तो अच्छा है। जो घी और तेल बाजार में मिलता है, वह लगभग निकम्मा होता है। यह दुःख की और शरम की बात है। परन्तु जब तक व्यापार में कानून या लोकशिक्षण के द्वारा ईमानदारी दाखिल नहीं होती, तब तक लोगों को सावधानी रखकर और मेहनत करके अच्छी और शुद्ध चीज़ें प्राप्त करनी होंगी | अच्छी और शुद्ध चीज़ के बदले जैसे वैसी चीज़ से कभी संतोष नहीं मानना चाहिए। बनावटी घी या खराब तेल खाने के बदले घी-तेल के बिना रहने का निश्चय ज़्यादा पसंद करने योग्य है।

जैसे आहार में चिकनाई की आवश्यकता रहती है, वैसे ही गुड़ और खांड की भी। मीठे फलों से काफ़ी मिठास मिल जाती है, तो भी तीन तोला गुड़ या खांड़ लेने में कोई हानि नहीं है। मीठे फल न मिलें तो गुड़ और खांड़ लेने की आवश्यकता रहती है। पर आजकल मिठाई पर जोर दिया जाता है वह ठीक नहीं है। शहरों में रहने वाले बहुत ज़्यादा मिठाई खाते हैं – जैसे कि खीर, रबड़ी, श्रीखंड, पेड़ा, बर्फी, जलेबी वगैरा। ये सब अनावश्यक है और अधिक खाने से नुकसान ही करती हैं। जिस देश में करोड़ों लोगों को पेटभर अन्न भी नहीं मिलता, वहाँ जो लोग पकवान खाते हैं वे चोरी का माल खाते हैं, यह कहने में मुझे तनिक भी अतिशयोक्ति नहीं लगती।

जो मिठाई के बारे में कहा गया है, वह घी-तेल को भी लागू होता है। घी-तेल में तली हुई चीज़ें खाना बिलकुल ज़रूरी नहीं है। पूरी, लड्डू वगैरा बनाने में घी खर्च करना अविचारीपन है। जिन्हें आदत नहीं होती वे लोग ये चीज़ें खा ही नहीं सकते। अंग्रेज जब हमारे देश में आते हैं तब हमारी मिठाइयाँ और घी में पकाई हुई चीज़ें वे खा ही नहीं सकते। जो खाते हैं वे बीमार पड़ते हैं, यह मैंने कई बार देखा है। स्वाद तो सिर्फ आदत की बात है। भूख तो स्वाद पैदा करती है, वह छप्पन भोगों में भी नहीं मिलता।

भूखा आदमी सूखी रोटी भी बहुत स्वाद से खाएगा। जिसका पेट भरा हुआ है वह अच्छे से अच्छा माना जाने वाला पकवान भी नहीं खा सकेगा।

अब हम यह विचार करें कि हमें कितना खाना चाहिए और कितनी बार खाना चाहिए। सब प्रकार का आहार औषधि के रूप में खाना चाहिए, स्वाद की खातिर हरगिज़ नहीं। स्वाद मात्र रस में होता है और रस भूख में रहता है। पेट क्या चाहता है, इसका पता बहुत कम लोगों को रहता है। कारण यह है कि हमें गलत आदतें पड़ गई हैं।

जन्मदाता माता-पिता त्यागी और संयमी नहीं होते। उनकी आदतें थोड़ी-बहुत बच्चों में भी उतरती हैं। गर्भाधान के बाद माता जो खाती है, उसका असर बालक पर पड़ता ही है। फिर बाल्यावस्था में माता बच्चे को अनेक स्वाद सिखाती है। जो कुछ वह स्वयं खाती है उसमें से बच्चे को भी खिलाती है। परिणाम यह होता है कि बचपन से ही उसके पेट को बुरी आदतें पड़ जाती हैं। पड़ी हुई आदतों को मिटा सकनेवाले विचारशील लोग थोड़े ही होते हैं। लेकिन जब मनुष्य को यह भान होता है कि वह अपने शरीर का संरक्षक है और उसने शरीर को सेवा के लिए अर्पण कर दिया है, तब शरीर को स्वस्थ रखने के नियम जानने की उसे इच्छा होती है और उन नियमों का पालन करने का वह महाप्रयास करता है।

ऊपर के दृष्टिबिन्दु से बुद्धिजीवी मनुष्य के लिए चौबीस घंटे में आहार का नीचे लिखा प्रमाण योग्य माना जा सकता है :

१. गाय का दूध दो पौंड।
२. अनाज छह औंस अर्थात् १५ तोला (चावल, गेहूँ, बाजरा इत्यादि मिलाकर)।
३. शाक में पत्ता-भाजी तीन औंस और दूसरे शाक पाँच औंस।
४. कच्चा शाक एक औंस।
५. तीन तोले घी या चार तोले मक्खन।
६. गुड़ या शक्कर तीन तोले।
७. ताजे फल, जो मिल सकें, रुचि और आर्थिक शक्ति के अनुसार। रोज दो नीबू लिए जाएँ तो अच्छा है। नीबू का रस निकाल कर भाजी के साथ या पानी के साथ लेने से खटाई का दाँतों पर खराब असर नहीं पड़ेगा।

ये सब वजन कच्चे अर्थात् बिना पकाए हुए पदार्थों के हैं। नमक का प्रमाण यहाँ नहीं दिया है। वह रुचि के अनुसार ऊपर से लिया जा सकता है।

हमें दिन में कितनी बार खाना चाहिए? बहुत लोग तो दिन में केवल दो ही बार खाते हैं। सामान्यतः तीन बार खाने की प्रथा है – सवेरे काम पर बैठने से पहले, दोपहर को और शाम या रात्रि को। इससे अधिक बार खाने की आवश्यकता नहीं होती। शहरों में रहने वाले कुछ लोग समय-समय पर कुछ न कुछ खाते ही रहते हैं। यह आदत हानिकारक है। आमाशय को भी आखिर आराम चाहिए। [आरोग्य की कुँजी, १९५८, पृ. ८-१८]

२६. गाँव की रक्षा

शांतिसेना

कुछ समय पहले मैंने ऐसे स्वयंसेवकों की एक सेना बनाने का प्रस्ताव रखा था, जो दंगो – खासकर सांप्रदायिक दंगो को शांत करने में अपने प्राणों तक की बाजी लगा दें। इसके पीछे विचार यह था कि यह सेना पुलिस का ही नहीं, बल्कि फौज तक का स्थान ले ले। यह बात बड़ी महत्त्वाकांक्षा की मालूम पड़ती है। शायद यह असंभव भी साबित हो। फिर भी अगर काँग्रेस को अपनी अहिंसात्मक लड़ाई में सफलता प्राप्त करनी हो, तो उसे परिस्थितियों का शांतिपूर्वक मुकाबला करने की अपनी शक्ति बढ़ानी ही चाहिए।

इसलिए हम देखें कि जिस शांति सेना की हमने कल्पना की है, उसके सदस्यों की योग्यताएँ क्या होनी चाहिए :

१. शांतिसेना का सदस्य पुरुष हो या स्त्री, अहिंसा में उसका जीवित विश्वास होना चाहिए। यह तभी संभव है जब कि ईश्वर में उसका जीवित विश्वास हो। अहिंसक व्यक्ति तो ईश्वर की कृपा और शक्ति के बिना कुछ कर ही नहीं सकता। इसके बिना उसमें क्रोध, भय और बदले की भावना रखते हुए मरने का साहस नहीं आएगा। ऐसा साहस तो इस श्रद्धा से ही आता है कि सबके हृदयों में ईश्वर का निवास है और ईश्वर की उपस्थिति में किसी भी भय की ज़रूरत नहीं है। ईश्वर की सर्वव्यापकता के ज्ञान का यह भी अर्थ है कि जिन्हें विरोधी या गुंडे कहा जा सकता हो, उनके प्राणों का भी हम ख़याल रखें। यह विचारपूर्वक किया जाने वाला हस्तक्षेप उस समय मनुष्य के क्रोध को शांत करने का एक तरीका है, जब कि उसके अंदर का पशुभाव उस पर हावी हो जाए।

२. शांति के इस दूत में दुनिया के सभी खास-खास धर्मों के प्रति समान श्रद्धा होना ज़रूरी है। इस प्रकार अगर वह हिन्दू हो तो हिन्दुस्तान में प्रचलित अन्य धर्मों का आदर करेगा। इसलिए देश में माने जानेवाले विभिन्न धर्मों के सामान्य सिद्धांतों का उसे ज्ञान होना चाहिए।

३. आम तौर पर कहा जाए तो शांति का यह काम केवल स्थानीय लोगों द्वारा अपने-अपने मुहल्लों में ही किया जा सकता है।

४. यह काम अकेले या समूहों में हो सकता है। इसलिए किसी को संगी-साथियों के लिए इन्तजार करने की ज़रूरत नहीं। फिर भी आदमी स्वभावतः अपनी बस्ती में से कुछ साथियों को ढूँढ़कर स्थानिक सेना का निर्माण करेगा।

५. शांति का यह दूत व्यक्तिगत सेवा द्वारा अपनी बस्ती या किसी चुने हुए क्षेत्र में लोगों के साथ ऐसे संबंध स्थापित करेगा, जिससे उसे भद्धी स्थितियों में काम करना पड़े तब उपद्रवियों के लिए वह बिलकुल ऐसा अजनबी न हो, जिस पर वे शक करें या जो उन्हें नागवार मालूम पड़े।

६. यह कहने की तो ज़रूरत नहीं कि शांति के लिए काम करने वाले स्वयंसेवक का चरित्र ऐसा होना चाहिए, जिस पर कोई अंगुली न उठा सके और वह अपनी निष्पक्षता के लिए प्रसिद्ध हो।

७. आम तौर पर दंगो के आने से पहले तूफान आने की चेतावनी मिल जाया करती है। अगर ऐसे आसार दिखाई दें तो शांतिसेना आग भड़क उठने का इन्तजार न करके तभी से परिस्थिति को संभालने का काम शुरू कर देगी जब से उसकी संभावना दिखाई दे।

८. अगर यह आंदोलन बढ़े तो कुछ पूरे समय काम करने वाले कार्यकर्ताओं का इसके लिए रहना अच्छा होगा, लेकिन यह बिलकुल ज़रूरी नहीं कि ऐसा हो ही। कल्पना यह है कि जितने भी अच्छे स्त्री-पुरुष मिल सकें उतने रखे जाएँ। लेकिन वे तभी मिल सकते हैं जब कि स्वयं सेवक ऐसे लोगों में से मिलें, जो जीवन के विविध कार्यो में लगे हुए हों; पर उनके पास इतना अवकाश हो कि अपने क्षेत्रों में रहने वाले लोगों के साथ मित्रता के संबंध पैदा कर सकें तथा वे सब योग्यताएँ रखते हों, जो कि शांतिसेना के सदस्य में होनी चाहिए।

९. इस सेना के सदस्यों की एक खास पोशाक होनी चाहिए, जिससे कालांतर में उन्हें बिना किसी कठिनाई के पहचाना जा सके।

ये सिर्फ सामान्य सूचनाएँ हैं। इनके आधार पर हरएक केन्द्र अपना विधान बना सकता है। [हरिजनसेवक, १८-६-१९३८, पृ. १४०]

पुलिस-बल की मेरी कल्पना

अहिंसक शासन में भी एक मर्यादित हद तक पुलिस-बल के लिए स्थान होगा। यह मान्यता मेरी अपूर्ण अहिंसा का चिह्न है। पुलिस के बिना मैं काम चला सकूँगा, यह कहने की मेरी हिंमत नहीं; जैसे कि यह कहने की हिंमत है कि बिना फौज के मैं काम चला लूँगा। मैं ऐसी स्थिति की कल्पना ज़रूर करता हूँ, जब पुलिस की भी ज़रूरत नहीं होगी। पर इसका सच्चा पता तो अनुभव से ही लग सकता है।

यह पुलिस आज की पुलिस से बिलकुल भिन्न ही प्रकार की होगी। उसमें अहिंसा में विश्वास रखने वालों की भरती होगी। वे लोगों के सेवक होंगे, सरदार नहीं। लोग उनकी मदद करते होंगे और रोज-ब-रोज कम होते जाने वाले उपद्रवों का वे आसानी से मुकाबला कर सकेंगे। पुलिस के पास कुछ शस्त्र तो होंगे, पर उनका उपयोग शायद ही कभी होगा। असल में देखा जाय तो इस पुलिस को सुधारक के तौर पर समझना चाहिए। ऐसी पुलिस का उपयोग मुख्यतः चोर-डाकुओं को काबू में रखने के लिए ही होगा। अहिंसक शासन में मज़दूर-मालिकों का झगड़ा क्वचित् ही होगा, हड़तालें शायद ही होंगी। क्योंकि अहिंसक बहुमत की प्रतिष्ठा स्वभावतः इतनी बढ़ी हुई होगी कि समाज के मुख्य अंग इस शासन का आदर करनेवाले होंगे। सांप्रदायकि झगड़े भी इस शासन में नहीं होने चाहिए। [हरिजनसेवक, २४-८-१९४०, पृ. २३४]

अहिंसक सेवादल

कुछ समय पहले मेरे सुझाने से ही शांतिदल कायम करने की कोशिशें हुई थीं। लेकिन उनका कोई नतीजा नहीं निकला। उनसे इतना सीखने को मिला की शांतिदल बड़े पैमाने पर काम नहीं कर सकते। बड़े-बड़े दलों को चलाने के लिए सजा नहीं तो सजा का डर ज़रूर होना चाहिए और ज़रूरत मालूम होने पर सजा भी दी जानी चाहिए। ऐसे हिंसक दल में आदमी के चाल-चलन को नहीं देखा जाता। उसके कद और डील-डौल को ही देखा जाता है। अहिंसक दल में इसका ठीक उलटा होता है। उसमें शरीर की जगह गौण होती है। शरीरी सब कुछ है यानी चरित्र सब कुछ है। ऐसे चरित्रवान आदमी को

पहचानना कठिन है। इसलिए बड़े-बड़े शांतिदल कायम नहीं किए जा सकते। वे छोटे ही होंगे। जगह-जगह होंगे, हर गाँव या हर मुहल्ले में होंगे। मतलब यह कि जो जाने-पहचाने लोग हैं उन्हीं की टुकड़ियाँ बनेंगी। वे मिल कर अपना एक मुखिया चुन लेंगे। सबका दर्जा बराबर होगा। जहाँ एकसे ज़्यादा आदमी एक ही तरह का काम करते हैं वहाँ उनमें एकाध ऐसा होना चाहिए, जिसके हुक्म के मुताबिक सब कोई चल सकें। ऐसा न हो तो मेलजोल के साथ, सहयोग से काम न हो सकेगा। दो या दोसे ज़्यादा लोग अपनी अपनी मरजी से काम करें, तो मुमकिन है कि उनके काम की दिशा एक-दूसरे से उलटी हो। इसलिए जहाँ दो या दोसे ज़्यादा दल हों वहाँ वे हिल-मिलकर काम करें तभी काम चल सकता है और उसमें कामयाबी हो सकती है |

इस तरह के शांतिदल जगह-जगह हों, तो वे आराम से और आसानी से दंगा-फसाद को रोक सकते हैं। ऐसे दलों को अखाड़ों में दी जाने वाली सभी तरह की तालीम देना ज़रूरी नहीं। उसमें से कुछ तालीम लेना ज़रूरी हो सकता है।

सब शांतिदलों के लिए एक चीज़ सामान्य होनी चाहिए। शांतिदल के हरएक मेम्बर का ईश्वर में अटल विश्वास होना चाहिए। उसमें यह श्रद्धा होनी चाहिए कि ईश्वर ही सच्चा साथी है और वही सबका सरजनहार है, कर्ता है। इसके बिना जो शांतिसेनाएँ बनेंगी, मेरे ख़याल में वे बेजान होंगी। ईश्वर को आप अल्लाह के नाम से पहचानें, अहुरमज्द कहें, जेहोवा कहें, जीता-जागता नियम कहें, राम कहें, रहमान कहें, किसी भी नाम से पुकारें, पर उसकी शक्ति का उपयोग तो आपको करना ही है। ऐसा आदमी किसी को मारेगा नहीं, बल्कि खुद मरकर मृत्यु को जीतेगा और जी जाएगा।

जिस आदमी के लिए यह कानून एक जीती-जागती चीज़ बन जाएगा, उसको समय के अनुसार बुद्धि भी अपने-आप सूझती रहेगी।

फिर भी अपने अनुभव से यहाँ मैं कुछ नियम देता हूँ :

१. सेवक अपने साथ कोई भी हथियार न रखे।

२. वह अपने बदन पर ऐसी कोई निशानी रखे, जिससे फौरन पता चले कि वह शांतिदल का मेम्बर है।

३. सेवक के पास घायलों वगैरा की सार-संभाल के लिए तुरंत काम देने वाली चीज़ें रहनी चाहिए | जैसे, पट्टी, कैची, छोटा चाकू, सुई वगैरा।

४. सेवक को ऐसी तालीम मिलनी चाहिए, जिससे वह घायलों को आसानी से उठाकर ले जा सके।

५. जलती आग को बुझाने की, बिना जले या झुलसे आग वाली जगह में जाने की, ऊपर चढ़ने और उतरने की कला सेवक में होनी चाहिए।

६. अपने मुहल्ले के सब लोगों से उसकी अच्छी जान-पहचान होनी चाहिए। यह अपने-आपमें एक सेवा है।

७. उसे मन ही मन रामनाम का बराबर जप करते रहना चाहिए और इसमें मानने वाले दूसरों को भी ऐसा करने के लिए समझाना चाहिए।

कुछ लोग आलस्य की वजह से या झूठी आदत की वजह से यह मान बैठते हैं कि ईश्वर तो है ही और वह बिना माँगे मदद करता है; फिर उसका नाम रटने से क्या फायदा? हम ईश्वर की हस्ती को स्वीकार करें या न करें, इससे उसकी हस्ती में कोई कमी-बेशी नहीं होती यह सच है। फिर भी उस हस्ती का उपयोग तो अभ्यासी ही कर पाता है। यदि हरएक भौतिकशास्त्र के लिए यह बात सौ फीसदी सच है, तो फिर अध्यात्म के लिए तो यह उससे भी ज़्यादा सच होनी चाहिए। फिर भी हम देखते हैं कि इस मामले में हम तोते की तरह रामनाम रटते हैं और फल की आशा रखते हैं। सेवक में इस सचाई को अपने जीवन में सिद्ध करने की ताकत होनी चाहिए। [हरिजनसेवक, ५-५-१९४६, पृ. ११३]

२७. ग्रामसेवक

आदर्श ग्रामसेवक

आज मुझे तुम्हारे भावी कार्य और जीवन के आदर्श के विषय में कहना है। जिस अर्थ में आज अंग्रेजी का 'केरियर' शब्द प्रयुक्त होता है, वैसा 'केरियर' बनाने को तुम यहाँ नहीं आए हो। आज तो लोग मनुष्य की क़ीमत पैसे से आंकते हैं और उसकी शिक्षा बाजार की बिक्री की चीज़ बन गई है। मन में यह गज लेकर अगर तुम लोग यहाँ आए हो, तब तो समझ लो कि तुम्हारे जीवन में निराशा ही लिखी है। यहाँ से शिक्षा प्राप्त करके निकलोगे तो शुरू में जो १० रुपये माहवार पारिश्रमिक तुम्हें मिलेगा, अंत तक वही मिलता रहेगा। किसी बड़ी कोठी के मैनेजर या बड़े अफसर को जो तनखाह मिलती है, उसके साथ इसकी तुलना न करना।

हमें तो ये चालू पैमाने (स्टैण्डर्ड) ही बदल लेने हैं। हम तुम्हें ऐसे किसी 'केरियर' का वचन नहीं देते। सच्ची बात तो बल्कि यह है कि इस तरह की अगर तुम्हारी महत्त्वाकांक्षा हो, तो हम उससे तुम्हें बचा लेना चाहते हैं। आशा हम यह रखते हैं कि तुम्हारा भोजन खर्च ६ रु॰ मासिक के भीतर हो। एक आई॰ सी॰ एस॰ का भोजन-खर्च शायद ६० रु॰ मासिक आएगा। पर इसका यह मतलब नहीं कि वह किसी तरह तुमसे शारीरिक शक्ति, बुद्धि या नैतिकता में बड़ा होगा। यह राजसी भोग भोगते हुए भी संभव है वह शारीरिक शक्ति, बुद्धि या नैतिकता में तुमसे कम हो। मैं मानता हूँ कि तुम अपनी शक्ति को रुपए पैसे के गज से नापने के लिए इस शिक्षण-शाला में नहीं आए हो; नगण्य-सा निर्वाह-खर्च लेकर देश को अपनी सेवा देने में ही तुम आनंद अनुभव करते हो। शेयर-बाजार में एक मनुष्य भले हजारों रुपये कमाता हो, परन्तु वह हमारे इस काम के लिए बिलकुल निकम्मा साबित हो सकता है। वह मनुष्य हमारे इस सीधे-सादे वातावरण में आ जाए तो दुःखी ही होगा, जिस तरह हम उसके वातावरण में पहुँच जाएँ तो दुःखी होंगे।

देश के लिए हमें आदर्श मज़दूरों की ज़रूरत है। वे इस चिंता में न पड़े कि उन्हें खाने-पहनने को क्या मिलेगा या गाँवों के लोग उन्हें क्या-क्या सुख-सुविधाएँ देंगे। अपनी आवश्यकताओं को वे श्रद्धापूर्वक ईश्वर पर छोड़ दें, और इससे उन्हें जो भी कठिनाइयाँ या दुःख सहने पड़ें उनमें भी वे सुख

मानें। जिस देश में ७ लाख गाँवों का विचार करना है, वहाँ यह सब अनिवार्य हैं। हमें ऐसे वेतनभोगी सेवक नहीं पुसा सकते, जिनकी नज़र हमेशा वेतन-वृद्धि, प्रोविडन्ट फन्ड या पेन्शन पर रहती है। हमारे लिए तो ग्रामवासियों की निष्ठामय सेवा ही संतोष है।

तुममें से कुछ लोगों के मन में यह प्रश्न उठ रहा होगा कि गाँवों के लोगों के लिए भी क्या यही पैमाना है। निश्चय ही नहीं। यह तो हम सेवकों के लिए है, हमारे स्वामी जो ग्रामवासी हैं उनके लिए नहीं। इतने बरसों से हम उनके ऊपर भाररूप बने हुए हैं। अब हम इसलिए अपनी इच्छा से गरीबी स्वीकार करना चाहते हैं कि उनकी स्थिति कुछ सुधरे। हमें करना यह है कि आज वे जो कमाते हैं उसमें वे हमारे प्रयत्न से कुछ वृद्धि कर सकें। ग्रामोद्योग-संघ का यही उद्देश्य है। मैंने जैसे सेवकों का वर्णन किया है उनकी संख्या संघ में अगर बढ़ती न गई, तो यह उद्देश्य सफल नहीं हो सकेगा। तुम सब इस प्रकार के ग्रामसेवक बनो। [हरिजन, २३-५-१९३६ पृ. ११९]

आवश्यक योग्यताएँ

[नीचे दी गई कुछ योग्यताएँ गांधीजीने सत्याग्रहियों के लिए आवश्यक बतलाई थीं। लेकिन चूँकि उनके मतानुसार एक ग्रामसेवक को भी सच्चा सत्याग्रही होना चाहिए, इसलिए ये योग्यताएँ ग्रामसेवक पर भी लागू होने वाली मानी जा सकती हे। **– सं**.]

१. ईश्वर में उसकी सजीव श्रद्धा होनी चाहिए, क्योंकि वही उसका आधार है।

२. वह सत्य और अहिंसा को धर्म मानता हो और इसलिए उसे मनुष्य-स्वभाव की सुप्त सात्त्विकता में विश्वास होना चाहिए। अपनी तपश्चर्या के रूप में प्रदर्शित सत्य और प्रेम के द्वारा वह उस सात्त्विकता को जाग्रत करना चाहता है।

३. वह चरित्रवान हो और अपने लक्ष्य के लिए जान और माल को कुरबान करने के लिए तैयार हो।

४. वह आदतन खादीधारी हो और कातता हो। हिन्दुस्तान के लिए यह बहुत आवश्यक है।

५. वह निर्व्यसनी हो, जिससे कि उसकी बुद्धि हमेशा स्वच्छ और स्थिर रहे।

६. अनुशासन के नियमों का पालन करने में हमेशा तत्पर रहता हो। यह न समझना चाहिए कि इन शर्तों में ही सत्याग्रही की योग्यताओं की परिसमाप्ति हो जाती है। ये तो केवल दिशादर्शक हैं। [हरिजनसेवक, २५-३-१९३९ पृ. ४४]

ग्रामसेवक के कर्तव्य

१. हरएक सेवक अपने हाथों कते हुए सूत की खादी या चरखा-संघ द्वारा प्रमाणित खादी हमेशा पहनने वाला और नशीली चीज़ों से दूर रहने वाला होना चाहिए। अगर वह हिन्दू है तो उसे अपने में से और अपने परिवार में से हर तरह की छुआछूत दूर करनी चाहिए और जातियों के बीच एकता के, सब धर्मों के प्रति समभाव के और जाति, धर्म या स्त्री-पुरुष के किसी भेदभाव के बिना सबके लिए समान अवसर और समान दर्जे के आदर्श में विश्वास रखने वाला होना चाहिए।

२. अपने कार्यक्षेत्र में उसे हरएक गाँव वाले के व्यक्तिगत संसर्ग में रहना चाहिए।

३. वह गाँव वालों में से कार्यकर्ताओं को चुनेगा और उन्हें तालीम देगा। इन सबका वह एक रजिस्टार रखेगा।

४. वह अपने प्रतिदिन के काम का लेखा रखेगा।

५. वह गाँवों को इस तरह संगठित करेगा कि वे अपनी खेती और गृह-उद्योगों द्वारा स्वयंपूर्ण और स्वावलम्बी बन जाएँ।

६. गाँव वालों को वह सफाई और तंदुरुस्ती की तालीम देगा और उनकी बीमारी व रोगों का रोकने के लिए सारे उपाय काम में लाएगा।

७. हिन्दुस्तानी तालीमी संघ की नीति के अनुसार नई तालीम के आधार पर वह गाँव वालों की जन्म से लेकर मृत्यु तक की सारी शिक्षा का प्रबंध करेगा।

८. जिनके नाम मतदाताओं की सरकारी यादी में न आ पाए हों, उनके नाम वह उसमें दर्ज करायेगा।

९. जिन्होंने मतदान के अधिकार के लिए आवश्यक योग्यता प्राप्त न की हो, उन्हें वह योग्यता प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहन देगा। [हरिजनसेवक, २२-२-१९४८, पृ. ४९-५०]

ग्रामसेवा

ग्रामसेवक के जीवन का मध्यबिन्दु चरखा होगा। यह चिंतन मैं करता ही रहता हूँ कि गाँवों में व्यापक और सहायक उद्योग के रूप में तथा दरिद्रता दूर करने वाले साधन के रूप में चरखा किस प्रकार स्थापित किया जा सकता है। अभी तो इस तरह चरखे की हमारे जीवन में ठीक-ठीक साधना हुई ही नहीं। खादी के मूल में मेरी जो कल्पना है, वह तो यह है कि खादी हमारे किसानों के लिए 'अन्नपूर्णा' का काम करेगी। वह उन्हें काम देगी। आज हमारे देश में न तो उद्योग हैं, न स्वावलम्बन। यहाँ तो आलस्यने गहरी जड़ें जमा ली हैं। उद्योग और स्वावलम्बन को यदि देश में पुनः लौटाना है, तो यह केवल चरखे के द्वारा ही संभव है।

ग्रामसेवक गाँव में जाकर नियमपूर्वक चरखा चला कर सूत ही नहीं कातेगा, बल्कि अपनी जीविका के लिए बसूला या हथौड़ा चलाएगा, कुदाली या फावड़ा चलायेगा या हाथ-पैर से जो भी मज़दूरी कर सके करेगा। खाने-पीने और सोने के लिए आठ घंटे निकाल कर बाकी का उसका सारा समय किसी न किसी काम में लगा ही रहेगा। अपना एक मिनट भी वह बेकार न जाने देगा। काहिली को न तो वह अपने पास फटकने देगा, न दूसरों के पास। लोगों को वह यह बतलाता रहेगा कि मुझे तो यज्ञ करना है, शरीर का पालन-पोषण शारीरिक श्रम से ही करना है। हमारे देश से अगर यह आलस्य बिदा न हुआ, तो कितनी ही सुविधाएँ क्यों न मिलें फिर भी लोग भूखों ही मरेंगें। जो अन्न के दो दाने खाता है उसे चार दाने उपजाने का धर्म स्वीकार करना ही चाहिए। ऐसा न हुआ तो जनसंख्या चाहे कितनी ही कम हो जाए, हमारी भुखमरी की समस्या हल न होगी। और अगर ऐसा हो जाए, इसे धर्म मान लिया जाए, तो दूसरे करोड़ों मनुष्य भी हिन्दुस्तान में पलने लगें।

इस तरह ग्रामसेवक उद्यम की जीती-जागती मूर्ति होगा। वह कपास बोने से लेकर कपास चुनने और कपड़ा बुनने तक की खादी की सभी क्रियाओं में निष्णात बनेगा और हमेशा उन्हें पूर्ण बनाने का ही विचार करता रहेगा। अगर वह इसे शास्त्र मानेगा तो यह उसे अरुचिकर नहीं लगेगा; बल्कि ज्यों ज्यों

वह इसकी भारी संभावनाओं को समझेगा, त्यों त्यों रोजाना वह इससे नया आनंद प्राप्त करेगा। इस प्रकार जिन सेवकों ने ग्रामसेवा के काम में रस लिया होगा वे गाँव में जाएँगे तो शिक्षक के रूप में, परन्तु वहाँ खुद सीखने वाले बनकर रहेंगे; नित्य-नूतन शोध और साधना करते रहेंगे। मेरी कल्पना यह नहीं है कि वे १६ घंटे खादी के ही काम में लगे रहें, बल्कि खादी के काम के बाद जितना समय उन्हें मिले, उसमें वे गाँव के चालू उद्योग-धंधों की खोज करें और उनमें दिलचस्पी लें तथा लोगों के जीवन में अपने को ओतप्रोत कर दें। खादी या चरखे में भले ही लोगों का विश्वास न हो तो भी इन सेवकों को वे मनुष्य तो समझेंगे ही और इनके जीवन से उन्हें जो उपयोगी बातें मिलेंगी वे ग्रहण करेंगे। सेवक किसानों के कर्ज की समस्या हल करने जैसे अपनी शक्ति से बाहर के कामों में हाथ नहीं डालेंगे।

गाँवों की सफाई और स्वच्छता ग्रामसेवक का एक दूसरा मुख्य काम होगा। अपने रहने के घर और आसपास की जगह को वह ऐसी साफसुथरी रखेगा कि देखने वालों का दिल ही न भरेगा। पर जिस तरह वह अपने घर-आँगन को साफ रखेगा, उसी तरह लोगों के आँगन और सारे गाँव की सफाई रखेगा।

ग्रामसेवक गाँवों में वैद्याराज या डोक्टर बनने का धंधा नहीं करेंगे। ये ऐसे फन्दे हैं जिनसे बचना चाहिए। हरिजन-प्रवास में मुझे एक ग्रामाश्रम देखने का मौका आया। पर वहाँ मैंने जो देखा उससे बड़ा क्षोभ हुआ। आश्रम के व्यवस्थापक और कार्यकर्ताओं को मैंने खूब खरी-खोटी सुनाई | मैंने कहा, वाह, आपने यह खूब आश्रम बनाया! यहाँ तो आप एक आलीशान महल बनाकर बैठे हैं। इसमें दवाखाना भी खोल दिया। पास-पड़ोंस के गाँवों में आपके स्वयंसेवक घर-घर दवाएँ बाँटते फिरते हैं। आप मुझे बड़े गर्वसे कहते हैं कि नित्य दूर-दूर से लोग दवा लेने हमारे आश्रममें आते हैं और हर माह १२०० मरीजों की औसत हाजिरी रहती है। लोगों को इस तरह दवा-दारू देने का काम आपका नहीं है। आपका काम तो उन्हें सफाई, स्वच्छता और आरोग्य के नियम सिखाने का है | स्वेच्छाचारी बन कर, गंदे रह कर और गाँव को गंदा रख कर ये लोग बीमार पड़े और आपका दवाखाना इन्हें दवाइयाँ दे, यह तो ग्रामसेवा नहीं है। आपको तो गाँव वालों को संयम और स्वच्छता सिखानी चाहिए, जिससे बीमारी उनके पास फटकने ही न पावे । इस आलीशान इमारत को छोड़कर आप सामने के झोंपड़े में जा बसें। यह मकान भाड़े से लोकल बोर्ड को उठा दें। आपको याद होगा कि चंपारन में हमारे पास कुनैन, अंडीका तेल और आयोडीन

– यही दो-तीन दवाएँ रहती थीं। आरोग्य और सफाई की बात ही ग्रामसेवक को लोगों के दिलों में बिठानी है।

इसके बाद ग्रामसेवक को गाँव के हरिजनों की सेवा करनी है। उसका घर हमेशा हरिजनों के लिए खुला रहेगा। संकट और कठिनाई के समय स्वभावतः वे लोग उसके पास दौड़े आएँगे। अगर गाँववाले उस सेवक के घर में हरिजनों का आना-जाना पसंद न करें और उसे अपनी बस्ती से निकाल बाहर कर दें, या वह वहाँ रहकर हरिजन-सेवा न कर सके, तो वह हरिजन-बस्ती में ही जाकर बस जाए।

अब दो शब्द शिक्षा के बारे में। बात असल में यह है कि हाथ के पहले बालकों की आँख, कान और जीभ काम करेगी। इसलिए इतिहास, भूगोल आदि जी भी अध्यापक उन्हें पढ़ायेगा वह जबानी ही पढ़ायेगा। इसके बाद बच्चा वर्णमाला और बारहखड़ी पढ़ेगा और फिर अक्षर-चित्र बनाने का अभ्यास करेगा। इसका पूरा-पूरा प्रयोग आपको करना चाहिए। मुझे लगता है कि लोगों की बुद्धि तक पहुँच कर उसे जाग्रत करने का मेरा यह स्वाभाविक मार्ग सुगम से सुगम है।

ग्रामसेवक का जीवन गाँव के जीवन से मेल खाने वाला होगा। वह साहित्यिक या ज्ञान-विलासी जीवन बिताकर गाँव वालों को सच्ची शिक्षा नहीं दे सकेगा। उसके पास तो चरखा, करघा, बसूला, हथौड़ा, कुदाली, फावड़ा वगैरा औजार होंगे। किताबें पढ़ने में वह कमसे कम समय देगा। लोग जब उससे मिलने आएँ तो वे उसे पड़े-पड़े किताबों के पन्ने उलटते न देखेंगे। उन्हें वह औजार चलाता हुआ ही मिलेगा। मनुष्य जितना खाता है उससे अधिक पैदा करने की शक्ति ईश्वर ने उसे दी है। दुर्बल से दुर्बल मनुष्य भी इतना पैदा कर सकता है। इसके लिए वह अपने बुद्धिबल का उपयोग करेगा। लोगों से वह कहेगा कि मैं आपकी सेवा करने के लिए आया हूँ, पेट के लिए आप मुझे दो रोटियाँ दे दें। संभव है कि लोग उसका तिरस्कार करें। फिर भी वह अपने गाँव में जमा रहेगा। किसी जगह उसे सनातनी रोटी न दें, तो हरिजन भाई तो देंगे ही। उसने यदि सर्वार्पण कर दिया है, तो हरिजनों के घरसे रोटी लेने में उसे लज्जित न होना चाहिए। पर जहाँ लोगों का सहयोग न मिले, वहाँ वह खुद कोई भी उद्योग करके अपनी जीविका चला सकता है। शुरू-शुरू में तो जहाँ संभव हो, किसी सामाजिक संस्था से थोड़ा-सा पैसा लेकर वह अपना निर्वाह कर सकता है।

याद रखिए कि हमारे सारे अस्त्र-शस्त्र आध्यात्मिक है। आध्यात्मिक शक्ति हाथ में आई कि फिर उसे कोई रोक नहीं सकता, यद्यपि आध्यात्मिक शक्ति इन आँखों से प्रत्यक्ष दिखाई देने वाली कोई साकार चीज़ नहीं है। इसलिए आपकी सब प्रवृत्तियों की भूमिका आध्यात्मिक ही होनी चाहिए। इसलिए आपका व्यवहार और चरित्र सौ टक्के शुद्ध होना चाहिए।

आप यह न कहें कि ग्रामसेवा का यह कार्यक्रम तो हमसे पूरा नहीं होगा, यह चीज़ असंभव है, हममें इसके लिए ज़रूरी योग्यता नहीं है। मेरा तो यह कहना है कि यदि यह बात अच्छी तरह आपके दिल में बैठ गई हो, तो आप सब लोग यह कार्यक्रम पूरा कर सकते हैं। आप इसके योग्य हैं। प्रयोग करने में शरम कैसी? हमें तो गाँवों में बैठ कर इसे अमल में लाना है। अमल करते-करते ही तो अनुभव प्राप्त होगा। [हरिजनसेवक, ७-९-१९३४, पृ. २९३-९५]

ग्रामसेवा के आवश्यक अंग

एक गाँव के कार्यकर्ता को सबसे पहले गाँव की सफाई और आरोग्य के सवाल को अपने हाथ में लेना चाहिए। यों तो ग्रामसेवकों को किंकर्तव्य-विमूढ़ बना देने वाली अनेक समस्याएँ हैं, पर यह समस्या ऐसी है जिसकी सबसे अधिक उपेक्षा की जा रही है। फलतः गाँव की तंदुरुस्ती बिगड़ती रहती है और रोग फैलते रहते हैं | अगर ग्रामसेवक स्वेच्छापूर्वक भंगी बन जाए, तो वह प्रतिदिन मैला उठाकर उसकी खाद बना सकता है और गाँव के रास्ते बुहार सकता है। वह लोगों से कहे कि उन्हें पाखाना-पेशाब कहाँ करना चाहिए, किस तरह सफाई रखनी चाहिए, उसके कया लाभ हैं और सफाई न रखने से क्या क्या नुकसान होते हैं। गाँव के लोग उसकी बात चाहे सुनें या न सुनें, वह अपना काम बराबर करता रहे। [हरिजन, ९-१-१९३७, पृ. ३८३]

ग्राम-उद्धार में अगर सफाई न आवे, तो हमारे गाँव कचरे के धूरे जैसे ही रहेंगे। ग्राम-सफाई का सवाल प्रजा के जीवन का अविभाज्य अंग है। यह प्रश्न जितना आवश्यक है उतना ही कठिन भी है। अनादि काल से जिस अस्वच्छता की आदत हमें पड़ गए है, उसे दूर करने के लिए महान पराक्रम की आवश्यकता है। जो सेवक ग्राम-सफाई का शास्त्र नहीं जानता, खुद भंगी का काम नहीं करता, वह ग्रामसेवा के लायक नहीं बन सकता।

नई तालीम के बिना हिन्दुस्तान के करोड़ों बालकों को शिक्षण देना लगभग असंभव है, यह चीज़ आज सर्वमान्य हो गई कही जा सकती है। इसलिए ग्रामसेवक को उसका ज्ञान होना ही चाहिए। उसे नई तालीम का शिक्षक होना चाहिए।

इस तालीम के पीछे प्रौढ़-शिक्षण तो अपने-आप चला आएगा। जहाँ नई तालीम ने घर कर लिया होगा, वहाँ बच्चे ही माता-पिता के शिक्षक बन जाने वाले हैं। कुछ भी हो, ग्रामसेवक के मन में प्रौढ़-शिक्षण देने की लगन होनी चाहिए।

स्त्री को अर्धांगिनी माना गया है। जब तक कानून से स्त्री और पुरुष के हक समान नहीं माने जाते, जब तक लड़की के जन्म का लड़के के जन्म जितना ही स्वागत नहीं किया जाता, तब तक समझना चाहिए कि हिन्दुस्तान लकवे के रोग से ग्रस्त है। स्त्री की अवगणना अहिंसा की विरोधी है। इसलिए ग्रामसेवक को चाहिए कि वह हर स्त्री को उमर के अनुसार अपनी माँ, बहन या बेटी के समान समझे और उसके प्रति आदर-भाव रखे। ऐसा ग्रामसेवक ही ग्रामवासियों का विश्वास प्राप्त कर सकेगा।

रोगी प्रजा के लिए स्वराज्य प्राप्त करना मैं असंभव मानता हूँ। इसलिए हम लोग आरोग्य-शास्त्र की जो अवगणना करते हैं वह दूर होनी चाहिए। अतः ग्रामसेवक को आरोग्य-शास्त्र का सामान्य ज्ञान होना चाहिए।

राष्ट्रभाषा के बिना राष्ट्र नहीं बन सकता। ग्रामसेवक अगर राष्ट्रभाषा नहीं जानता, तो 'हिन्दी-हिन्दुस्तानी-उर्दू' के झगड़े में न पड़कर वह राष्ट्रभाषा का ज्ञान प्राप्त करे। उसकी बोली ऐसी होनी चाहिए, जिसे हिन्दू-मुसलमान सब समझ सकें।

हमने अंग्रेजी के मोह में फँसकर मातृभाषा का द्रोह किया है। इस द्रोह के प्रायश्चित के तौर पर भी राष्ट्रसेवक मातृभाषा के प्रति लोगों के मन में प्रेम उत्पन्न करेगा। उसके मन में हिन्दुस्तान की सब भाषाओं के लिए आदर होगा। उसकी अपनी मातृभाषा जो भी हो, जिस प्रदेश में वह बसेगा वहाँ की मातृभाषा सीख कर वह स्वयं अपनी मातृभाषा के प्रति वहाँ के लोगों की भावना बढ़ायेगा।

अगर इस सबके साथ-साथ आर्थिक समानता का प्रचार न किया गया, तो यह सब निकम्मा समझना चाहिए। आर्थिक समानता का यह अर्थ हरगिज़ नहीं कि हरएक के पास धन की समान राशि

होगी। मगर यह अर्थ ज़रूर है कि हरएक के पास ऐसा घरबार, वस्त्र और खाने-पीने का सामान होगा कि जिससे वह सुख से रह सके। और जो घातक असमानता आज मौजूद है वह केवल अहिंसक उपायों से ही नष्ट होगी। [हरिजनसेवक, १७-८-१९४०, पृ. २२४-२५]

ग्रामसेवकों के साथ बातचीत

खादी निश्चय ही हमारे ग्रामोद्योग-रूपी सौर-मंडल का केन्द्रीय स्थान लेगी। किन्तु यह याद रखें कि हमें गाँवों को वस्त्र-स्वावलम्बी बनाने में अपना सारा ध्यान एकाग्र करना है | वस्त्र-स्वावलम्बन की खादी के पीछे व्यापार की खादी तो चलेगी ही।

बेशक, गाँवों में दूसरा जो भी उद्योग प्राप्त हो और जिस चीज़ की बाजार में खपत हो सके, उसे आप अवश्य हाथ में ले लें। पर यह ध्यान में रखना चाहिए कि घाटे पर कोई दुकान न चलाई जाए और न ऐसी चीज़ें बनाई जाएँ जिनकी बाजार में खपत न हो। जो भी देशी हुनर आपको पसंद हो उसमें नित्य आठ घंटे का समय दीजिए और गाँव वालों को यह करके बतलाइए कि जिस तरह हम लोग गुजारे भरका पैसा पैदा कर सकते हैं, उसी तरह आप लोग भी आठ घंटे काम करके इतना पैसा पैदा कर सकते हैं।

गाँव में आप अपने साथ कोई संगी-साथी न ले जाएँ। हमारी नीति यह है कि एक ग्राम में या ग्राम-समूह में केवल एक ही सेवक भेजा जाए। जितने भी संगी-साथी वह चाहे उतने अपने गाँव में से चुन ले। वे सब उसकी निगरानी में काम करेंगे, परन्तु उस गाँव की खास ज़िम्मेदारी तो उसी पर रहेगी।

हमें इस यंत्रयुग के लोभपाश में नहीं फँसना चाहिए। हम तो अपने शरीर-यंत्रों को पूर्ण और काम करने योग्य साधन बनाएँ और उनका अच्छे से अच्छा उपयोग करें। यही आपका कर्तव्य है। इसीको लेकर आप हिंमत के साथ आगे बढ़े। [हरिजनसेवक, २-११-१९३५, पृ. ३०४]

भय की भावना

अनेक ग्रामसेवक इस बात से बड़े भयभीत रहते हैं कि गाँवों में अपने गुजर-बसर के लिए वे क्या करेंगे। उन्हें इस बात का बड़ा भय है कि अगर किसी संस्था या व्यक्ति से उन्हें वेतन न मिला, तो गाँवों में कोई काम करके तो वे अपना गुजारा शायद ही चला सकें। फिर अगर वे कहीं विवाहित हुए और कूटुम्ब का

भार भी उन पर हुआ, तब तो उन्हें और भी ज़्यादा चिंता होती है। लेकिन मेरी राय में उनकी यह धारणा ठीक नहीं है। इसमें शक नहीं कि अगर कोई आदमी शहरी मनोवृत्ति के साथ गाँव में जाए और शहर की ही तरह वहाँ भी अपना रहन-सहन रखना चाहे, तब तो उसके लिए वहाँ अपने निर्वाह के लायक कमाई करना असंभव ही है | उस हालत में तो वह तभी उतनी कमाई कर सकता है, जब कि शहर वालों की तरह वह ग्रामवासियों का शोषण करे। लेकिन अगर कोई किसी एक गाँव में जा बसे और वहाँ गाँव वालों की तरह ही रहने की कोशिश करे, तो अपने परिश्रम द्वारा अपना निर्वाह करने में उसे कोई दिक्कत नहीं होगी। उसे इस बात का विश्वास होना चाहिए कि जब वे ग्रामवासी भी किसी न किसी तरह अपने गुजारे के लायक कमा ही लेते हैं, जो बारहों महीने बाप-दादों के वक्त से चले आए ढर्रे पर, अपनी बुद्धि का उपयोग किए बगैर, आँख मूँदकर चले जाते हैं, तो वह भी कम से कम उतना तो कमा ही लेगा जितना कि औसतन कोई ग्रामवासी कमा लेता है। और ऐसा करते हुए वह किसी ग्रामवासी की रोजी भी नहीं मारेगा; क्योंकि गाँव में वह उत्पादक बनकर जाएगा, न कि दूसरों की कमाई पर गुलछर्रे उड़ाने वाला (परोपजीवी) बनकर।

गाँव में जानेवाले ग्रामसेवक के साथ अगर उसका साधारण परिवार भी हो, तो उसकी पत्नी तथा परिवार के अन्य व्यक्तियों को चाहिए कि वे भी दिनभर पूरी मेहनत करें। यह तो नहीं कहा जा सकता कि गाँव में जाते ही कोई कार्यकर्ता गाँव वालों की तरह कड़ी मेहनत करने लगेगा। लेकिन अगर वह अपनी हिचक और भय की भावना को छोड़ दे, तो यह ज़रूर है कि अपनी मेहनत की कमी की पूर्ति वह बुद्धि का उपयोग करके कर लेगा। जब तक गाँव वाले उसकी सेवा की इतनी कद्र न करने लगें कि उसका सारा समय उनकी अधिक से अधिक सेवा में ही बीतने लगे, तब तक उसे कोई ऐसा उत्पादक कार्य करते रहना चाहिए, जिससे दूसरों पर बोझ पड़े बिना उसका खर्च चलता रहे। हाँ, जब उसका सारा समय सेवा में ही लगने लगे तब वह उस अतिरिक्त उत्पत्ति में से कमीशन के रूप में कुछ पाने का पात्र होगा, जो कि उसके द्वारा प्रेरित उपायों के फलस्वरूप होने लगेगी। लेकिन ग्रामोद्योग-संघ की देखरेख में जो ग्रामकार्य शुरू हुआ है, उसका कुछ महीनों का अनुभव तो यह प्रकट करता है कि गाँव वालों में हमारी पैठ बहुत धीरे-धीरे होगी और कार्यकर्ता को गाँव वालों के सामने अपने आचरण से यह सिद्ध कर देना पड़ेगा कि श्रम और सदाचरण की दृष्टि से वह उनके लिए एक उमदा उदाहरण है। इससे उन्हें बड़ा

सुंदर पाठ मिलेगा और अगर कार्यकर्ता गाँव वालों का संरक्षक बन कर अपनी पूजा कराने के बजाय उन्हींमें से एक बन कर, अर्थात् उनके साथ हिल-मिल कर रहेगा, तो देर-अबेर उसका असर पड़े बिना नहीं रहेगा।

अब सवाल यह है कि जीविका के लिए गाँव में कौनसा काम किया जाए? उसे और उसके घर वालों को अपना कुछ न कुछ समय तो गाँव की सफाई में लगाना ही होगा, चाहे गाँव वाले इसमें उसकी मदद करें या न करें। और साधारण तौर पर वह दवा-दारू की जो सीधी-सादी मदद कर सकता है वह भी करेगा ही। इतना तो हर कोई कर ही सकता है कि कुनैन या किसी तरह की मामूली दवा बता दे, घाव या ज़खम धोकर साफ कर दे, मैली आँखों व कानों को धो दे और घाव पर साफ मरहम लगा दे। मैं ऐसी किसी पुस्तक की खोज में हूँ, जिसमें गाँवों में हमेशा ही होने वाली मामूली बीमारियों के लिए सरल से सरल उपाय और सूचनाएँ हों। क्योंकि कैसी भी हों, ये दोनों बातें तो ग्रामकार्य का मूल अंग होंगी ही। लेकिन इनमें ग्रामसेवक का दो घंटे रोज से अधिक समय न लगना चाहिए। ग्रामसेवक के लिए आठ घंटे का दिन जैसी कोई बात नहीं है। ग्रामवासियों के लिए वह जो श्रम करता है वह तो प्रेम का श्रम है। अतः अपने निर्वाह के लिए, इन दो घंटो के अलावा, उसे कमसे कम आठ घंटे तो लगाने ही होंगे। यह ध्यान रखने की बात है कि चरखा-संघ और ग्रामोद्योग-संघ ने जो नई योजना बनाई है, उसके अनुसार तो सब तरह के श्रम का कमसे कम मूल्य या महत्त्व एकसा ही है। इस प्रकार जो पिंजारा अपनी पींजन पर एक घंटा काम करके औसत परिमाण में रुई धुनकता है, वह ठीक उतनी ही मज़दूरी पाएगा जितनी कि उतने समय के अर्थात् एक घंटे तक निश्चित परिमाण में किए हुए काम के लिए किसी बुनकर, कतवैये या काग़ज़ बनाने वाले को मिलेगी। इसलिए ग्रामसेवक आसानी से कर सके; अलबत्ता, यह सावधानी उसे हमेशा रखनी चाहिए कि काम ऐसा ही चुना जाय, जिसके फलस्वरूप तैयार होने वाला माल उसी गाँव में या उसके आसपास के प्रदेश में खप सके अथवा जिस माल की इन संघों को ज़रूरत हो।

इस बात की बड़ी ज़रूरत तो हरएक गाँव में है ही कि वहाँ ऐसी कोई दुकान हो, जहाँ से खाने-पीने की चीज़ें शुद्ध और वाजिब दामों पर मिल सकें। यह ठीक है कि दुकान चाहे कितनी ही छोटी हो, फिर भी उसके लिए थोड़ी-बहुत पूँजी तो चाहिए ही। लेकिन जो कार्यकर्ता अपने कार्यक्षेत्र में थोड़ा भी

परिचित होगा, उसकी ईमानदारी पर लोगों का इतना विश्वास तो होगा ही कि दुकान के लिए थोड़ा थोक माल उसे उधार मिल जाए।

इस तरह के और उदाहरण देने की अब ज़रूरत नहीं। जो सेवक सतत निरीक्षण की बुद्धि से काम करेगा, उसे नित-नई बातों का पता लगता ही रहेगा और वह जल्दी ही यह जान लेगा कि उसे कौनसा ऐसा काम करना चाहिए, जिससे उसका निर्वाह भी हो और जिन ग्रामवासियों की उसे सेवा करनी है उनके लिए वह आदर्श भी उपस्थित कर सके। अतएव उसे ऐसा कोई काम चुनना पड़ेगा, जिससे ग्रामवासियों का शोषण न हो और न उनके आरोग्य या नैतिकता को ही धक्का लगे, बल्कि उन्हें अपने फुरसत के समय में हुनर-उद्योग का कोई काम करके अपनी बरायनाम आमदनी में कुछ वृद्धि करने की शिक्षा मिले। सतत निरीक्षण से उसका ध्यान उन चीज़ों की ओर जाएगा, जो गाँवों में अकारण ही बरबाद होती हैं – जैसे खेतों में फसल के साथ उग आने वाला घासपात और दूसरी अपने-आप पैदा होने वाली चीज़ें। बहुत जल्द उसे पता लग जाएगा कि उनमें से बहुतसी चीज़ें तो बड़ी उपयोगी हैं। उनमें से वह खाने योग्य या अन्य उपयोग की वनस्पतियों का चुनाव कर ले, तो गोया वह अपनी रोजी कमाने के बराबर ही होगा | मीराबहनने तरह-तरह के पत्थर गाँवों से लाकर मुझे दिए हैं, जो देखने में संगमरमर के जैसे सुंदर लगते हैं और बड़े उपयोगी हैं। मुझे फुरसत मिली तो शीघ्र ही मैं मामूली औजारों से उन्हें तरह-तरह की शकलों में बदल कर बाजार में बेचने लायक बना दूँगा। काकासाहबने बाँस की सड़ी-गली खपचियों को, जो निकम्मी समझकर जलाई जाने वाली थीं, एक मामूली चाकू के सहारे काग़ज़ काटने के चाकूओं और लकड़ी के चम्मचों में परिणत कर दिया, जिन्हें एक हद तक बाजार में बेचा भी जा सकता है। मगनवाड़ी में कुछ लोग फुरसत के समय का उपयोग रद्दी काग़ज़ों के, जो एक तरफ कोरे होते हैं, लिफाफे बनाने में करते हैं।

दरअसल बात यह है कि गाँव वाले अब बिलकुल निराश हो चुके हैं। किसी भी अजनबी को देखकर उन्हें यही ख़याल होता है कि वह उनका गला दबाने और उनका शोषण करने के लिए ही आया है। बुद्धि और श्रम का संबंध-विच्छेद हो जाने से अर्थात् उनमें बुद्धिशक्ति न होने से उनकी विचारशक्ति कुंठित हो गई है। काम के समय का भी वे सर्वोत्तम उपयोग नहीं करते। ग्रामसेवक को चाहिए कि ऐसे गाँवों में वह अपने हृदय में प्रेम और आशा भरकर जाए। उसे इस बात का आत्म-विश्वास होना चाहिए

कि जहाँ विवेकहीनता से काम करके स्त्री-पुरुष सालमें छह महीने बेकार बैठे रहते हैं वहाँ वह पूरे साल विवेकपूर्वक काम करेगा, तो निश्चय ही ग्रामवासियों का विश्वासपात्र बन जाएगा और उनके बीच परिश्रम करते हुए इमानदारी के साथ अपने निर्वाह के लायक कमाई कर सकेगा।

'लेकिन मेरे बालबच्चों और उनकी पढ़ाई का कया होगा?' यह बात ग्रामसेवा के इच्छुक कार्यकर्ता पूछते हैं। अगर बच्चों को आधुनिक ढंग की शिक्षा देनी हो, तब तो मैं कोई ऐसी बात नहीं बता सकता जो कारगर हो। हाँ, अगर उन्हें स्वस्थ, मज़बूत, ईमानदार और समझदार ग्रामवासी बनाना काफ़ी समझा जाए, जिससे कि वे जब चाहें तब गाँव में अपनी रोजी कमा सकें, तो उन्हें सारी शिक्षा अपने माँ-बाप की छत्रछाया में ही मिल जाएगी; और उसके साथ-साथ जैसे ही वे सोचने-समझने लायक उमर को पहुँचेंगे और अपने हाथ-पैरों का ठीक-ठीक उपयोग करने लग जाएँगे, वैसे ही अपने परिवार के लिए वे थोड़ी-बहुत कमाई भी करने लगेंगे। सुघड़ घर के समान कोई स्कूल नहीं हो सकता, न ईमानदार और सदाचारी माता-पिता के सामान कोई अध्यापक हो सकते हैं। आधुनिक माध्यमिक शिक्षा तो गाँव वालों पर एक बोझ है। उनके बच्चे कभी भी उसे ग्रहण नहीं कर सकेंगे। और ईश्वर की कृपा है कि सुघड़ घरेलू शिक्षा यदि उन्हें प्राप्त हो, तो वे उससे महरूम भी हरगिज़ नहीं रहेंगे। ग्रामसेवक, चाहे वह पुरुष हो या स्त्री, अगर ऐसा न हो कि अपने घर को सुघड़ रख सके, तो उसके लिए ग्रामसेवक बनने का ऊँचा विशेषाधिकार और सम्मान प्राप्त करने की आकांक्षा न रखना ही ठीक होगा। [हरिजनसेवक, २३-११-१९३५ पृ. ३२४-३२५]

ग्रामसेवकों के प्रश्न

१

[ग्रामसेवकों की सभा में गांधीजी से कुछ प्रश्न पूछे गए थे। ये प्रश्न ग्रामसेवक के कर्तव्यों, ग्राममेवक की आजीविका के साधनों, शरीर-श्रम, डायरी तथा गुजरात के आदिवासी दूबलों की सेवा आदिसे संबंध रखते थे।]

ग्रामसेवक का एकमात्र कर्तव्य यह है कि वह गाँव वालों की सेवा करे। और वह उनकी सर्वोत्तम सेवा तभी कर सकता है, जब वह ग्यारह व्रतों को प्रकाश-स्तंभ की तरह सदा अपने सामने रखे। ये व्रत

विनोबाजी के बनाए हुए दो पद्यों में आ जाते हैं, जिन्हें देश के अधिकांश आश्रमों में प्रार्थाग के समय रोज गाया जाता है :

अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य असंग्रह।
शरीरश्रम अस्वाद सर्वत्र भय-वर्जन॥
सर्वधर्मी समानत्व स्वदेशी स्पर्श-भावना।
हीं एकादश सेवावीं नम्रत्वें व्रत-निश्चयें॥

[अर्थात्: अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य, असंग्रह (किसी चीज़ पर अपना अधिकार करके न बैठ जाना), शारीरिक श्रम, अस्वाद, निर्भयता, सब धर्मों के प्रति एकसा आदर-भाव, स्वदेशी, छूतछात का भाव न रखते हुए सबके प्रति भ्रातृभाव – इन ग्यारह व्रतों का विनम्रता के साथ पालन करना चाहिए।]

ग्रामसेवकों को अपना निर्वाह कैसे करना चाहिए? कया वे किसी संस्था से वेतन लें या उसके लिए कोई काम करें अथवा गाँव वालों पर आश्रित रहें? आदर्श मार्ग तो गाँव वालों पर आश्रित रहना ही है। इसमें शर्म की कोई बात नहीं; यह तो विनम्रता है। इसमें कार्यकर्ता के बहुत खर्चीले हो जाने की भी गुंजाइश नहीं है, क्योंकि गाँव वाले उसके खर्चीलेपन को न तो प्रोत्साहन देंगे और न बरदाश्त ही करेंगे। इस दशा में कार्यकर्ता का काम इतना ही होगा कि काम के समय वह गाँव वालों के लिए ही काम करे और अपने लिए जितने अनाज और साग-सब्जी की ज़रुरत हो उसे गाँव वालों से जुटा ले। डाक के तथा अन्य छोटे-मोटे खर्च की अगर उसे ज़रूरत हो, हालांकि मेरे ख़याल में तो ये खर्च ऐसे नहीं हैं कि उनके बिना ग्रामसेवक का काम ही न चल सके, तो उनके लिए भी वह उनसे थोड़ी रकम ले सकता है। अगर गाँव वालों के कहने पर ही वह गाँव में गया होगा, तो गाँव वाले खुशी से उसका खर्च चलाएँगे। हाँ, ऐसा भी हो सकता है कि गाँव वालों को उसके विचार न पटें और वे उससे सहयोग करना बंद कर दें, जैसा कि १९१५ में जब मैंने अस्पृश्यों को सत्याग्रह-आश्रम में भरती किया तब मेरे साथ हुआ था। उस समय ग्रामसेवक को अपने निर्वाह के लिए खुद कोई काम करना चाहिए; किसी संस्था पर आश्रित रहना व्यर्थ है।

गाँव में काम करने वाले को जहाँ तक हो सके ज़्यादा से ज़्यादा शारीरिक श्रम करके गाँव वालों को अपनी काहिली दूर करने की शिक्षा देनी चाहिए। वैसे तो वह हर तरह की मेहनत के काम कर सकता

है, लेकिन मैला उठाने के काम को उसे ज़्यादा पसंद करना चाहिए। यह निश्चय ही उत्पादक श्रम है। कुछ कार्यकर्ताओंने कमसे कम आध घंटा पूर्णतः सेवा में और उत्पादक-श्रम में ही लगाने पर जो जोर दिया है वह मुझे पसंद है। और मैला उठाने का काम निश्चय ही इस तरह का है। यही बात चक्की-पिसाई को लागू होती है, क्योंकि बचत करना भी तो एक तरह से कमाई ही है।

ग्रामसेवक को अपने समय के एक-एक मिनट का हिसाब देने के लिए तैयार रहना चाहिए और सब समय के कार्य को स्पष्ट रूप से अपनी डायरी में अंकित करना चाहिए। सच्ची डायरी तो डायरी लिखनेवाले के मन और आत्मा की एक झाँकी होती है। लेकिन यह ज़रूर है कि बहुतों को अपनी मानसिक हलचलों का सच्चा विवरण अंकित करना बहुत मुश्किल मालूम पड़ेगा। उस हालत में वे अपनी शारीरिक हलचलों को ही उसमें अंकित करे। लेकिन यह लापरवाही के साथ नहीं होना चाहिए। खाली इस तरह लिख देने से काम नहीं चलेगा कि 'रसोई में काम किया।' इसके साथ निश्चित रूप से यह भी लिखना होगा कि कबसे कब तक क्या क्या और किस तरह काम किया।

दूबलों की सेवा का अर्थ यह है कि हम उनके दुःख-दर्द में भागीदार बने और उनके मालिकों से मिल-जुलकर इस बात का प्रयत्न करें कि वे उनके साथ न्याय और दयालुता का व्यवहार करें।

ग्रामसेवक को राजनीति से अलग रहना चाहिए। वह काँग्रेस का सदस्य तो बन सकता है, लेकिन चुनाव की हलचल में उसे भाग नहीं लेना चाहिए। क्योंकि वह तो अपने काम की दिशा निश्चित कर चुका है। ग्रामोद्योग-संघ और चरखा-संघ दोनों काँग्रेस के बनाए हुए हैं, पर अपना काम वे स्वतंत्र रूप से करते हैं। यही कारण है कि वे और उनके सदस्य कांग्रेस की राजनीतिक हलचलों से अलग रहते हैं। यही अहिंसक मार्ग है।

गाँव की दलबन्दियों, वहाँ के झगड़ों-टंटों में भी उसे (ग्रामसेवक को) नहीं पड़ना चाहिए। उसे तो वहाँ इस निश्चय के साथ जाकर जमना चाहिए कि जिन बहुतसी बातों के बिना शहर में उसका काम नहीं चलता था उनके बिना उसे वहाँ रहना होगा। अगर मैं किसी गाँव में बैठ जाऊँ तो मुझे इस बात का निश्चय करना पड़ेगा कि कौन-कौन-सी चीज़ें ऐसी हैं, जो चाहे जितनी निर्दोष हों फिर भी मुझे गाँव में नहीं ले जानी चाहिए। देखना यह होगा कि वे चीज़ें साधारण ग्रामवासियों के जीवन से मेल खाती हैं या नहीं

और उनसे वहाँ बजाय भलाई के कोई बुराई तो नहीं फैलेगी ? ग्रामसेवक बहुत शुद्ध और ऊँचे दर्जे का होना चाहिए, जो खुद तो किसी प्रलोभन में फँसे ही नहीं, साथ में गाँव वालों को भी प्रलोभनों का शिकार न होने दे। यह तो निश्चय है कि एक शुद्धात्मा भी सारे गाँव को बचा सकता है, जैसे कि एक विभीषण ने लंका को बचाया था। इसलिए बहुत पहले ही मैं यह कह चुका हूँ कि अपनी रक्षा के लिए हिन्दुस्तान सत्य को छोडे, इसके बजाए खुद वही मिट जाए तो कोई बुराई न होगी। [हरिजन, २९-२-१९३६, पृ. १८-१९]

२

[इस प्रश्न के उत्तर में कि क्या ग्रामसेवक दूध, फल और शाकभाजी ले सकता है, जिन्हें गाँव वाले नहीं खा सकते, गांधीजीने लिखा:]

ग्रामसेवक को खास बात यह ध्यान में रखनी चाहिए कि वह ग्रामवासियों की सेवा करने के लिए ही गाँव में गया है और वहाँ आहार की तथा दूसरी ऐसी ज़रुरत की चीज़ें लेने का उसे अधिकार है, उसका धर्म है, जिनसे वह अपने शरीर में इतना स्वास्थ्य और शक्ति बनाए रखे कि गाँव की सेवा अच्छी तरह कर सके। यह सही है कि ऐसा करते हुए ग्रामसेवक को अपने रहन-सहन के ढंग पर ग्रामवासियों की अपेक्षा कुछ अधिक खर्च करना पड़ेगा। पर मेरा ऐसा ख़याल है कि ग्रामवासी ग्रामसेवक की ज़रूरी चीज़ों को ईर्ष्या की दृष्टि से नहीं देखते। ग्रामसेवक का अंत:करण ही उसके आचरण की कसौटी है। वह संयम से रहे, स्वाद के लिए कोई चीज़ न खाए, विलासिता में न पड़े और जब तक जागता रहे तब तक सेवाकार्य में ही लगा रहे। फिर भी यह संभव है कि उसके रहन-सहन पर कोई टीका-टिप्पणी करें। पर उस आलोचना या निंदा की उसे कोई परवाह नहीं करनी चाहिए। मैंने जिस आहार की सलाह दी है, वह सब गाँवों में मिल सकता है। दूध आम तौर से गाँवों में मिल जाता है और वेर, करौंदा, अमरूद वगैरा अनेक प्रकार के फल भी गाँवों में आसानी से मिल जाते हैं। इन फलों को इसीलिए हम कोई महत्त्व नहीं देते कि वे आसानी से मिल जाते हैं। गाँवों में अनेक तरह की पत्तियाँ या वनस्पतियाँ काफ़ी प्रचुरता से मिलती हैं। पर हम केवल अपने अज्ञान या आलस्य के कारण उन्हें उपयोग में नहीं लाते। मैं खुद आजकल ऐसी अनेक प्रकार की हरी पत्तियाँ खा रहा हूँ, जिन्हें पहले मैंने कभी जीभ पर नहीं रखा था। पर अब मुझे ऐसा मालूम होता है कि ये सब पत्तियाँ मुझे पहले से ही खानी चाहिए थीं। गाँव में गाय रखना पुसा

सकता है और अपना खर्च तो वह खुद निकाल सकती है। मैंने यह प्रयोग किया नहीं है। किन्तु मुझे लगता है कि यह चीज़ संभव होनी चाहिए। मेरा यह भी ख़याल है कि ग्रामसेवक के जैसा ही आहार ग्रामवासियों को भी मिल सकता है और उसे वे ले सकते हैं। और इस तरह ग्रामसेवक के जैसा रहन-सहन रखना ग्रामवासियों के लिए भी कोई असंभव बात नहीं है। [हरिजनसेवक, ३०-८-१९३५, पृ. २२५]

३

प्र॰ – करीब करीब हर गाँव में पार्टियाँ और उनके आपसी मतभेद रहते हैं। इसलिए जब ग्रामसेवा के लिए हम स्थानीय या उसी गाँव की मदद लेने जाते हैं तो हमारी इच्छा हो या न हो, हम सत्ता के लिए होने वाले वहाँ के राजनीतिक झगड़ों में फँस जाते हैं। इस मुश्किल को किस तरह टाला जा सकता है? क्या हमें स्थानीय पार्टियों से अलग रहने की कोशिश करके बाहरी कार्यकर्ताओं की मदद से काम चालू रखना चाहिए? हमारा अनुभव है कि इस तरीके से किया जाने वाला काम तभी तक चलता है जब तक बाहर की मदद मिलती रहती है। और जहाँ वह मदद बंद हुई कि काम भी बंद हो जाता है। इसलिए स्थानीय जनता का सहयोग प्राप्त करने और उसमें आगे बढ़कर काम करने की सूझ पैदा करने के लिए हमें क्या करना चाहिए?

उ॰ – यह हिन्दुस्तान का दुर्भाग्य है कि जैसी दलबंदी और मतभेद उसके शहरों में है वैसे ही गाँवों में भी देखे जाते हैं। और जब गाँवों की भलाई का ख़याल न रखते हुए अपनी पार्टी की ताकत बढ़ाने के लिए गाँवों का उपयोग करने के ख़याल से राजनीतिक सत्ता की बू हमारे गाँवों में पहुँचती है, तो उससे ग्रामवासियों को मदद मिलने के बजाय उनकी तरक्की में रुकावट होती है। मैं तो कहूँगा कि चाहे जो नतीजा हो, हमें ज़्यादा से ज़्यादा मात्रा में स्थानीय मदद लेनी चाहिए; और अगर हम राजनीतिक सत्ता हड़पने की बुराई से दूर रहे, तो हमारे हाथों कोई गलती होने की संभावना नहीं रहती। हमें याद रखना चाहिए कि शहरों के अंग्रेजी शिक्षा पाये हुए स्त्री-पुरुषों ने हिन्दुस्तान के आधारभूत गाँवों को भुला देने का अपराध किया है। इसलिए आज तक की हमारी इस लापरवाही को याद करने से हम में धीरज पैदा होगा। अभी तक मैं जिस जिस गाँव में गया हूँ वहाँ मुझे एक न एक सच्चा कार्यकर्ता मिला ही है। लेकिन गाँवों में भी लेने लायक कोई अच्छी चीज़ होती है, ऐसा मानने की नम्रता जब हम में नहीं होती तब वहाँ

हमें कोई नहीं मिलता। बेशक, हमें स्थानीय राजनीतिक मामलों से दूर रहना चाहिए। लेकिन यह हम तभी कर सकते हैं जब साड़ी पार्टियों की और किसी भी पार्टी में शामिल न होनेवाले लोगों की सच्ची मदद लेना हम सीख जाएँगे। अगर हम गाँव वालों से अलग रहेंगे, या उन्हें अपने कामों से अलग रखेंगे, तो हमारा किया-कराया सब व्यर्थ जाएगा। इस मुश्किल का मुझे ख़याल था। इसलिए एक गाँव में एक कार्यकर्ता रखने के नियम को सख्ती से पालन की मैंने कोशिश की है। जहाँ काम करने वाले भाई या बहन को बंगला नहीं आती; मैंने बंगला जानने वाला एक दुभाषिया रखा है। अभी तो मैं यही कह सकता हूँ कि इस तरीके से मेरा काम अच्छा चल रहा है। यहाँ मैं यह भी कह देना चाहता हूँ कि किसी नतीजे पर जल्दी से पहुँच जाने की हमें बुरी आदत पड़ गई है। प्रश्न करने वाले भाई कहते हैं कि 'इस तरह जारी रखा जाने वाला काम बाहर की मदद से ही चलता है, और इस तरह की मदद के बंद होते ही वह काम भी बंद हो जाता है।' किसी काम में झटसे ऐसा दोष निकालने के पहले मैं तो यह कहूँगा कि किसी एक गाँव में कुछ साल रह कर वहाँ के कार्यकर्ताओं के द्वारा काम करने का अनुभव भी इस बात का पूरा प्रमाण नहीं माना जा सकता कि स्थानीय कार्यकर्ता खुद कोई काम नहीं कर सकते या उनके द्वारा कोई काम नहीं हो सकता। यह स्पष्ट है कि इससे उलटी बात ही सच है। इसलिए प्रश्न के अंतिम भाग की विस्तृत जाँच करना ज़रूरी है। मैं प्रमुख कार्यकर्ता से साफ शब्दों में यह कहूँगा – "अभी बाहर की जो मदद मिल रही है उसे लेना बंद कर दीजिए। सिर्फ स्थानीय मदद से ही अकेले हिंमत और समझ से अपना काम चलाइए। अगर आपका काम सफल न हो तो दूसरे लोगों या परिस्थितियों को दोष देने के बजाय खुद को ही दोष देना सीखिए।" [हरिजनसेवक, २-३-१९४७, पृ. ३६]

ग्रामसेवक-शिक्षणालय के विद्यार्थियों से बातचीत

प्र॰ – इस गाँव के लोग आपसे कभी मिलने आते हैं?

उ॰ – आते हैं, पर कुछ डरते डरते और शायद थोड़ी शंका भी उनके मन में रहती है। ग्रामवासियों की ये भी कमजोरियाँ हैं। उनकी ये कमजोरियाँ भी हमें दूर करनी होंगी।

प्र॰ – यह आप कैसे करेंगे?

उ॰ – धीरे-धीरे उनके दिल में जगह करके हमें उनका यह भय और संदेह दूर करना होगा कि हम उनसे जबरन् कोई काम कराने आए हैं। हम अपने रोज के प्रेमपूर्ण व्यवहार से ही यह दिखा सकेंगे कि हमारा जबरदस्ती करने या स्वार्थ साधने का कोई इरादा नहीं है। पर यह सब धीरज का काम है। आप अपनी सचाई और ईमानदारी का एकाएक तो उन पर विश्वास नहीं जमा सकते।

प्र॰ – क्या यह ठीक है कि जो लोग किसी संस्था या किसी गाँव से कोई पारिश्रमिक या वेतन लिए बिना काम करते हैं, वे ही जनता के विश्वासपात्र बन सकते हैं?

उ॰ – नहीं, मेरा ऐसा ख़याल नहीं है। बेचारे गाँव वालों को तो यह भी पता नहीं होता कि कौन वेतन लेकर काम कर रहा है और कौन नहीं। उनके ऊपर तो असल में हमारी इन बातों का असर पड़ता है कि हम किस ढंग से रहते हैं, हमारी आदतें कैसी हैं, हम कैसी बातचीत करते हैं | यही नहीं, हमारे हरएक भाव या चेष्टा तक का उनके ऊपर असर पड़ता है। शायद उनमें से कुछ लोग हम पर यह संदेह करें कि हम यहाँ रुपया-पैसा कमाने की गरज से काम कर रहे हैं। तो हमें उनका यह संदेह भी दूर करना होगा। पर तुम यह बात दिल में न जमा लेना कि जो ग्रामसेवक किसी संस्था या गाँव से कुछ भी नहीं लेता वही आदर्श ग्रामसेवक है। ऐसा मनुष्य अकसर घमंड में आकर अपने को औरों से ऊँचा समझने लगता है, जिससे उसका पतन हो जाता है।

प्र॰ – आप हमें गाँव के उद्योग-धंधे सिखा रहे हैं। इसका उद्देश्य क्या है? क्या ये धंधे हमारे जीविका कमाने के साधन होंगे या इन्हें हम गाँव के लोगों को सिखा सकेंगे? अगर गाँव के लोगों को सिखाने के लिए ही हमें ये विषय पढ़ाये जा रहे हैं, तो एक वर्ष में हम इन उद्योग-धंधों में निपुण कैसे हो सकते हैं?

उ॰ – तुम्हें तो मामूली धंधों का ही ज्ञान कराया जा रहा है। क्योंकि जब तक तुम्हें इनकी जानकारी न होगी तब तक तुम अपनी सलाह से लोगों को मदद नहीं पहुँचा सकोगे। तुम में जो सबसे अधिक उत्साही और कर्मशील होंगे, वे बेशक किसी एक धंधे के जरिए अपनी रोजी कमा सकते हैं। जो विषय यहाँ सिखाए जाते हैं वे ऐसे हैं कि उनसे तुम ग्रामवासियों को कई बातों का अच्छा ज्ञान करा सकते हों। आटा पीसने की चक्की, धान कूटने की ओखली और तेलघानी में हमने सुधार किए हैं। हम अपने औजारों में सुधार करने के प्रयोग कर रहे हैं। तुम सुधरे हुए औजारों को गाँवों में ले जा सकते हो। पर

सबसे बड़ी बात जो हमें उन्हें सिखानी है वह है आचरण की सचाई और ईमानदारी। जरासे फायदे के लिए वे दूध में, घी में, तेल में और अपनी अपनी सचाई तक में मिलावट कर देते हैं। पर यह उनका नहीं, हमारा दोष है। हम इतने दिनों तक उनकी उपेक्षा और शोषण ही करते रहे। उन्हें कभी कोई अच्छी बातें हमने नहीं सिखाई | अब उनके निकट संपर्क में रहने से हम उनकी बुरी आदतों को आसानी से सुधार सकेंगे। हमारी इतनी लम्बी लापरवाही और अलगावसे उनकी बुद्धि और अंतरात्मा तक जड़ हो गई है | हमें उनकी इन जड़ शक्तियों को फिरसे जाग्रत और अनुप्राणित करना है। [हरिजन, २५-७-१९३६, पृ. १८७]

आंतरिक भय

कोई भी शक्तिशाली आंदोलन या संस्था बाह्य आक्रमणों से नहीं मर सकती। आंतरिक विनाश ही उसकी मृत्यु का कारण हो सकता है। इसलिए जिन चीज़ों की सबसे ज़्यादा ज़रूरत है वे ये है – असंदिग्ध और निष्कलंक चरित्र, कार्य-कुशलता की वृद्धि, अनवरत प्रयत्न और अत्यंत सादा जीवन। कार्य के ज्ञान से शून्य और ग्रामीणों के सादे जीवन की अपेक्षा कहीं ऊँचा जीवन बितानेवाले चरित्रहीन कार्यकर्ता ग्रामीणों पर किसी प्रकार का भी अच्छा असर नहीं डाल सकते।

इन पंक्तियों को लिखते हुए मुझे उन कार्यकर्ताओं का स्मरण आ रहा है, जिन्होंने सच्चरित्र और सादगी के अभाव में ग्रामीणों के हित को तथा खुद को भी नुकसान पहुँचाया है। सौभाग्य से दुश्चरित्रता के स्पष्ट उदाहरण बहुत कम हैं। किन्तु इस कार्य में सबसे बड़ी रुकावट कार्यकर्ताओं की ग्रामीण जीवन के स्तर पर अपने जीवन को चला सकने की अयोग्यता है। अगर प्रत्येक कार्यकर्ता अपने काम की इतनी क़ीमत लगाने लगे जिसका बोझ ग्रामसेवा उठा न सके, तो नतीजा यह होगा कि इन संस्थाओं को अपना कारोबार समेटना पड़ेगा।

कुछ विरले और अपवादरूप अस्थायी इदाहरणों को छोड़कर शहरों के पैमाने पर तनखाहें देने का अर्थ यह हुआ कि गाँवों और शहरों के बीच की खाई को पाटा नहीं जा सकता। हमें इस तथ्य को अपनी आँखों से ओझल न कर देना चाहिए कि ग्राम-सुधार का आंदोलन शहरियों के लिए भी उतना ही शिक्षा की वस्तु है जितना कि स्वयं ग्रामीणों के लिए हैं। शहर से आए हुए कार्यकर्ताओं को ग्रामीण

मनोवृत्ति अपनाकर उसके अनुसार ग्राम्य-जीवन बिताने की कला सीखनी चाहिए। इसका यह मतलब कभी नहीं कि वे भी ग्रामीणों की तरह आधे भूखे रहने लगें। इसका सिर्फ इतना ही मतलब है कि उनके पुराने जीवन के ढंग में मौलिक परिवर्तन होना चाहिए। जहाँ एक तरफ गाँवों के जीवन-मान को ऊँचा उठाने की ज़रूरत है, वहाँ दूसरी तरफ शहरों के जीवन-मान को इस तरह नीचा करने की ज़रूरत है कि जिससे उनके स्वास्थ्य पर कोई बुरा असर न पड़े। [हरिजन, ११-४-१९३६, पृ. ६८]

हमारे गाँव

एक युवकने, जो एक गाँव में रहकर अपना निर्वाह करने की कोशिश कर रहा है, मुझे एक दुःखजनक पत्र भेजा है। वह अंग्रेजी ज़्यादा नहीं जानता। इसलिए उसने जो पत्र भेजा है उसे मैं यहाँ संक्षिप्त रूप में ही देता हूँ :

> "१५ साल एक कस्बे में बिताकर, तीन साल पहले जब कि मैं २० बरस का था, मैंने इस ग्राम-जीवन में प्रवेश किया। अपनी घरेलू परिस्थितियों के कारण मैं कोलेज की शिक्षा प्राप्त नहीं कर सका। अतः आपने ग्राम-पुनर्रचना का जो काम शुरू किया, उसने मुझे ग्राम-जीवन ग्रहण करने का प्रोत्साहन दिया। मेरे पास कुछ ज़मीन है। मेरे गाँव की बस्ती कोई २५०० की है। लेकिन इस गाँव के निकट संपर्क में आने के बाद करीब तीन-चौथाई से भी ज़्यादा लोगों में मुझे नीचे लिखी बातें मिलती हैं :
>
> १. दलबंदी और लड़ाई-झगड़े,
> २. ईर्ष्या-द्वेष,
> ३. निरक्षरता,
> ४. दुष्टता,
> ५. फूट,
> ६. लापरवाही,
> ७. सभ्यता का अभाव,
> ८. पुरानी निरर्थक रूढ़ियों का आग्रह, और
> ९. निर्दयता।

"यह स्थान दूर के एक कोने में है, जहाँ तौर पर कोई आता-जाता नहीं। कोई बड़ा आदमी तो ऐसे दूर के गाँवों में कभी नहीं गया। लेकिन उन्नति के लिए बड़े आदमियों की संगति आवश्यक है। इसलिए गाँव में रहते हुए मैं डरता हूँ। आप मुझे क्या सलाह और आदेश देते हैं?"

इसमें शक नहीं कि इस नवयुवकने ग्राम-जीवन की जो तसवीर खींची है वह अतिशयोक्तिपूर्ण है। पर उसने जो कुछ कहा है उसे आम तौर पर सच माना जा सकता है। गाँवों की यह बुरी हालत क्यों है, इसकी वजह मालूम करने के लिए दूर जाने की ज़रूरत नहीं। क्योंकि जिन्हें शिक्षा का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, उन्हों ने गाँवों की बहुत उपेक्षा की है। उन्होंने अपने लिए शहरी जीवन चुना है। ग्राम-आंदोलन तो इसी बात का एक प्रयत्न है कि जो लोग सेवा की भावना रखते हैं, उन्हें गाँवों में बसने की तथा ग्रामवासियों की सेवा में लग जाने की प्रेरणा देकर गाँवों के साथ स्वास्थ्यप्रद संपर्क स्थापित किया जाए। पत्रप्रेषक युवकने जो बुराइयाँ देखीं, वे ग्राम-जीवन में बद्धमूल नहीं है। फिर, जो लोग सेवाभाव से ग्रामों में बसे हैं, वे अपने सामने कठिनाइयाँ देखकर हतोत्साह नहीं होते। वे तो इस बात को जानकर ही वहाँ जाते हैं कि अनेक कठिनाइयों में, यहाँ तक कि गाँव वालों की उदासीनता के होते हुए भी, उन्हें वहाँ काम करना है। जिन्हें अपने मिशन में और खुद अपने-आपमें विश्वास है, वे ही गाँव वालों की सेवा करके उनके जीवन पर कुछ असर डाल सकेंगे। सच्चा जीवन बिताना अपने-आपमें एक ऐसा सबक है, जिसका आसपास के लोगों पर ज़रूर असर पड़ता है। लेकिन इस नवयुवक के साथ शायद कठिनाई यह है कि वह किसी सेवाभाव से नहीं, बल्कि सिर्फ अपने जीवन-निर्वाह के लिए रोजी कमाने को गाँव में गया है। और जो सिर्फ कमाई के लिए ही गाँव में जाते हैं, उनके लिए ग्राम-जीवन में कोई आकर्षण नहीं है, यह मैं स्वीकार करता हूँ। सेवाभाव के बगैर जो लोग गाँवों में जाते हैं, उनके लिए तो उसकी नवीनता नष्ट होते ही ग्राम-जीवन नीरस हो जाएगा।

अतः गाँवों में जानेवाले किसी नवयुवक को कठिनाइयों से घबराकर कभी अपना रास्ता नहीं छोड़ना चाहिए। धैर्य के साथ प्रयत्न जारी रखा जाय, तो मालूम पड़ेगा कि गाँववाले शहर वालों से बहुत भिन्न नहीं हैं, और उन पर दया करने और ध्यान देने से वे भी साथ देते हैं। यह निःसंदेह सच है कि गाँवो में देश के बड़े आदमियों के संपर्क का अवसर नहीं मिलता। हाँ, ग्राम-मनोवृत्ति की वृद्धि होने पर नेताओं के लिए यह ज़रुरी हो जाएगा कि वे गाँवों में दौरा करके उनके साथ जीवित संपर्क स्थापित करें। परन्तु

चैतन्य, रामकृष्ण, तुलसीदास, कबीर, नानक, दादू, तुकाराम, तिरुवल्लुवर जैसे संतो के ग्रंथों के रूप में महान और श्रेष्ठ जनों का सत्संग तो सबको आज भी प्राप्त है। कठिनाई यही है कि मन को ये स्थायी महत्त्व की बातें ग्रहण करने लायक कैसे बनाया जाए। अगर आधुनिक विचारों का राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और वैज्ञानिक साहित्य प्राप्त करने से पत्रलेखक का मतलब हो, तो कुतूहल शांत करने के लिए ऐसा साहित्य मिल सकता है। लेकिन मैं यह स्वीकार करता हूँ कि जितनी आसानी से धार्मिक साहित्य मिल जाता है, उतनी आसानी से यह साहित्य नहीं मिलता। संतों ने तो सर्व-साधारण के ग्रहण करने योग्य रूप में अनूदित करने की प्रथा अभी पूरी तरह आरंभ नहीं हुई है। यह ज़रूर है कि समय रहते ऐसा होना चाहिए। अतएव इस पत्रप्रेषक जैसे नवयुवकों को मेरी सलाह है कि वे अपना प्रयत्न छोड़ न दें बल्कि उसमें लगे रहें और अपनी उपस्थिति से गाँवों को अधिक प्रिय और रहने योग्य बना दें। लेकिन यह वे करेंगे ऐसी सेवा के ही द्वारा, जो गाँव वालों के अनुकूल हो। अपने ही परिश्रम से गाँवों को अधिक साफ-सुथरा बनाकर और अपनी योग्यतानुसार गाँवों की निरक्षरता दूर करके हरएक व्यक्ति इसका प्रारंभ कर सकता है। और अगर उनके जीवन शुद्ध, सुघड़ और परिश्रमी हों, तो इसमें कोई शक नहीं कि जिन गाँवों में वे काम कर रहे होंगे, उनमें भी इसकी छूत फैलेगी और गाँव वाले भी शुद्ध, सुघड़ और परिश्रमी बनेंगे। [हरिजनसेवक, २०-२-१९३७, पृ. ५-६]

ग्रामसेवकों की तीर्थयात्रा

श्री सीताराम शास्त्री ग्रामसेवकों की ऐसी यात्राओं का आयोजन कर रहे हैं, जिन्हें हम तीर्थयात्रा कह सकते हैं। ये ग्रामसेवक अपने इर्दगिर्द के गाँवों में ग्रामसेवा का संदेश लेकर जाते हैं। मैं यह सलाह दूँगा कि ग्रामयात्रियों को रेल, मोटर और गाँव की बैलगाड़ियों तक की सवारी से दूर रहना चाहिए। अगर वे मेरी सलाह मानेंगे तो देखेंगे कि उनके काम का और भी अधिक असर पड़ेगा और असल में एक पाई भी उनकी खर्च न होगी। दो-तीन आदमियों से अधिक का यात्रीदल नहीं होना चाहिए। मुझे आशा है कि ग्रामवासी ऐसे छोटे-छोटे यात्रीदलों को अपने घरों में टिका भी लेंगे और उन्हें प्रेम से रोटी-भाजी भी खिला देंगे। भार तो बेचारे गाँव वालों पर बड़े-बड़े यात्रीदलों की मेहमानी का पड़ता है, दो-दो, तीन-तीन सेवकों की छोटी टोलियों का नहीं।

इन दलों को अधिक ध्यान ग्रामों के स्वास्थ्य और स्वच्छता पर देना चाहिए। उन्हें गाँवों की स्थिति के तथ्य और आंकड़े इकट्ठे करने चाहिए। गाँव वालों को ऐसी सलाह देनी चाहिए कि बिना अधिक पूंजी लगाए वे कौनसा उद्योग कर सकते हैं और किस तरह अपने स्वास्थ्य और आर्थिक स्थिति को सुधार सकते हैं। [हरिजनसेवक, २९-३-१९३५, पृ. ४६-४७]

पुरानों की जगह नए तरीके?

काफ़ी अनुभव के बिना ग्रामसेवकों को पुराने औजारों, पुराने तरीकों और पुराने नमूनों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। पुरानी वर्तमान भूमिका को कायम रखकर अगर वे सुधार की बात सोचेंगे तो सुरक्षित रहेंगे। और वे देखेंगे कि यही सच्चा अर्थशास्त्र है। [हरिजन, २९-३-१९३५, पृ. ४९]

समग्र ग्रामसेवा

अठारह-विध कार्यक्रम में समग्र ग्रामसेवा आ जाती है; जैसे, गाँव में जितने लोग रहते हैं उन्हें पहचानना, उन्हें जो सेवा चाहिए वह देना, अर्थात् उसके लिए साधन जुटा देना और उनको वह काम करना सिखा देना, दूसरे कार्यकर्ता पैदा करना आदि। ग्रामसेवक ग्रामवासियों पर इतना प्रभाव डालेगा कि वे खुद आकर उससे सेवा माँगेंगे और उसके लिए जो साधन या दूसरे कार्यकर्ता चाहिए उन्हें जुटाने में उसकी पूरी मदद करेंगे। मान लो कि मैं एक देहात में तेलघानी लगाकर बैठा हूँ। तो मैं घानी से संबंध रखनेवाले सब काम तो करूँगा ही, परन्तु मैं १५ से २० रुपये कमाने वाला सामान्य घांची (तेली) नहीं बनूँगा। मैं महात्मा घांची बनूँगा। 'महात्मा' शब्द का मैंने विनोद में उपयोग किया है। इसका अर्थ केवल यह है कि अपने घांचीपन में मैं इतनी सिद्धि डाल दूँगा कि गाँव वाले आश्चर्यचकित हो जाएँगे। मैं गीता पढ़ने वाला, कुरानशरीफ पढ़ने वाला, उनके बच्चों को शिक्षा देने की शक्ति रखने वाला घांची बनूँगा। समय के अभाव में मैं लड़कों को पढ़ा न सकूँ, वह दूसरी बात है। लोग आकर कहेंगे कि 'तेली महाशय, हमारे लड़कों के लिए एक शिक्षक तो ला दीजिए।" मैं कहूँगा: "शिक्षक मैं ला दूँगा, पर उसका खर्चा आपको बरदाश्त करना होगा।" वे खुशी से मेरी बात स्वीकार करेंगे। मैं उन्हें कातना सिखा दूँगा। जब वे बुनकर की मदद की माँग करेंगे, तो शिक्षक की तरह मैं उन्हें बुनकर ला दूँगा, ताकि जो चाहे सो बुनना भी सीख ले। मैं उन्हें ग्राम-सफाई का महत्त्व बताऊँगा। जब वे सफाई के लिए भंगी मांगेंगे तो मैं कहूँगा, "मैं खुद भंगी

हूँ। आइए, आपको यह काम भी सिखा दूँ।" यह है मेरी समग्र ग्राम सेवा की कल्पना। [हरिजनसेवक, १७-३-१९४६, पृ. ४३]

२८. सरकार और गाँव

सरकार क्या कर सकती है?

यह पूछना उचित है कि काँग्रेसी मंत्री, जो अब पदों पर आ गए हैं, खद्दर और दूसरे ग्रामीण उद्योगों के लिए क्या करेंगे? मैं तो इस प्रश्न को और भी फैलाना चाहता हूँ, ताकि यह हिन्दुस्तान के तमाम प्रांतों की सरकारों पर लागू हो। गरीबी तो हिन्दुस्तान के सभी प्रांतों में है। इसी तरह आम जनता के उद्धार के साधन भी हैं। अखिल भारत चरखा-संघ और अखिल भारत ग्रामोद्योग-संघ का ऐसा ही अनुभव है। एक यह सुझाव भी आया है कि इस काम के लिए एक अलग मंत्री होना चाहिए, क्योंकि इसके व्यवस्थित संगठन में एक मंत्री का पूरा समय लग जाएगा। मैं तो इस सुझाव से डरता हूँ, क्योंकि अभी तक हम अपने खर्च के नाप में से अंग्रेजी पैमाने को छोड़ नहीं सके हैं। अलग मंत्री रखा जाए या न रखा जाए, पर इस काम के लिए एक विभाग तो बेशक ज़रूरी है। आजकल खाने और पहनने के संकट के जमाने में यह विभाग बड़ी मदद कर सकता है। अखिल भारत चरखा-संघ और अखिल भारत ग्रामोद्योग-संघ के निष्णात व्यक्ति मंत्रियों को मिल सकते हैं। आज यह संभव है कि थोड़े समय में थोड़ी से थोड़ी रकम लगाकर तमाम हिन्दुस्तान को खादी पहना दी जाए। हर प्रांत की सरकार को गाँव वालों से कहना होगा कि उन्हें अपने उपयोग के लिए खद्दर स्वयं तैयार कर लेना चाहिए। इस तरह स्थानीय उत्पादन और बँटवारे का प्रश्न अपने-आप हल हो जाएगा। और शहरों के लिए कम से कम थोड़ी खादी ज़रूर बच रहेगी, जिससे स्थानीय मिलों पर पड़ने वाला दबाव कम हो जाएगा। तब ये मिलें दुनिया के दूसरे हिस्सों में कपड़े की ज़रूरत पूरी करने में हाथ बँटा सकेंगी।

यह नतीजा कैसे पैदा किया जा सकता है?

सरकारें गाँव वालों को यह सूचना कर दें कि उनसे यह आशा रखी जाएगी कि वे अपनी गाँव की ज़रूरत के लिए एक निश्चित तारीख के अंदर खद्दर तैयार करें। इसके बाद उनको कोई कपड़ा न दिया जाएगा। सरकार अपनी तरफ से गाँव वालों को बिनौले या रुई (जिसकी भी उन्हें ज़रूरत हो) लागत भाव से देगी और उत्पादन के औजार भी ऐसे दामों पर देगी, जो आसानी से वसूल होने वाली किस्तों में लगभग पाँच साल या इससे ज़्यादा समय में अदा हो सके। सरकार जहाँ कहीं ज़रूरी हो उन्हें सिखाने

वाले भी दे और यह जिम्मा ले कि अगर गाँव वालों के तैयार किए हुए खद्दर से उनकी ज़रूरतें पूरी हो जाएँ, तो बाकी का खद्दर सरकार खरीद लेगी | इस तरह बिना किसी शोरगुल के और बहुत थोड़े व्यवस्था-खर्च से कपड़े की कमी दूर हो जाएगी।

गाँवों की जाँच-पड़ताल की जाएगी और ऐसी चीज़ों की एक सूची तैयार की जाएगी, जो किसी मदद के बिना या बहुत थोड़ी मदद से गाँवों में ही तैयार हो सकती हैं और जिनकी ज़रूरत गाँव में बरतने के लिए या बाहर बेचने के लिए हो। जैसे, घानी का तेल, घानी की खली, घानी से निकला हुआ जलाने का तेल, हाथ का कुटा हुआ चावल, ताड़ का गुड़, शहद, खिलौने, मिठाइयाँ, चटाइयाँ, हाथ से बना हुआ काग़ज़, गाँव का साबुन वगैरा चीज़ें। अगर इस तरह काफ़ी ध्यान दिया जाए, तो उन गाँवों में जिनमें से ज़्यादातर उजड़ चुके है या उजड़ रहे हैं, जीवन की चहल-पहल पैदा हो जाए और उनमें अपनी और हिन्दुस्तान के शहरों तथा कस्बों की अधिकतर ज़रूरतें पूरी करने की जो अपार शक्ति है वह दिखाई पड़ने लगे।

फिर हिन्दुस्तान में अपार पशुधन है, जो हमारी भयंकर उपेक्षा के कारण कष्ट भोग रहा है। गोसेवा-संघ को अभी ठीक अनुभव नहीं है; फिर भी वह क़ीमती मदद दे सकता है।

बुनियादी तालीम के बिना गाँव वाले विद्या से वंचित रहते हैं। यह ज़रूरी बात हिन्दुस्तानी तालीमी संघ पूरी कर सकता है। [हरिजनसेवक, २८-४-१९४६, पृ. १०४]

यदि मैं मंत्री होता

ऊपर मैंने जो विचार प्रगट किए थे, उनमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। एक बात से कुछ गलतफहमी पैदा हुई है। कुछ भाइयों को उसमें ज़बरदस्ती दिखाई दी है। मुझे इस अस्पष्टता के लिए खेद है। उसमें मैंने इस प्रश्न का उत्तर दिया था कि आम लोगों की प्रतिनिधि-सरकारें चाहें तो क्या क्या कर सकती हैं। मैंने मान लिया था – आशा है वह मान्यता क्षम्य थी – कि इन सरकारों के नोटिसों को भी कोई जोर ज़बरदस्ती नहीं मानेगा। कारण, किसी सच्ची प्रतिनिधि-सरकार के प्रत्येक कार्य में जिन निर्वाचकों की वह प्रतिनिधि हैं उनकी अनुमति मान ली जाएगी। निर्वाचकों का अर्थ होगा सारी जनता, चाहे उनका नाम निर्वाचकसूची में हो या न हो। इस पृष्ठभूमि को ख़याल में रखकर मैंने लिखा था कि सरकार

ग्रामवासियों को सूचना दे दे कि एक निश्चित तारीख के बाद ग्रामवासियों को मिल का कपड़ा नहीं दिया जाएगा, ताकि वे अपनी ही तैयार की हुई खादी पहन सकें।

मेरे पिछले लेख का कुछ भी अर्थ हो, मैं कह देना चाहता हूँ कि संबंधित लोगों के स्वेच्छापूर्ण सहयोग के बिना अपनाई हुई खादी-संबंधी कोई भी योजना व्यर्थ सिद्ध होगी और वह उस खादी को मार डालेगी जिसे हम स्वराज्य प्राप्त करने का साधन बनाना चाहते हैं। फिर तो खादी के बारे में लोगों का यह ताना सही होगा कि खादी हमें मध्यकालीन गुलामी और अज्ञान की ओर ले जाती है। परन्तु मेरा विचार इसके विपरीत रहा है। जहाँ जबरन् अपनाई गई खादी गुलामी की निशानी है, वहाँ बुद्धिपूर्वक और स्वेच्छा से तैयार की हुई खादी, जो मुख्यतः अपने ही उपयोग के लिए हो, हमारी आज़ादी की निशानी है। स्वतंत्रता अगर सर्वांगीण स्वावलम्बन का विकास न करे, तो उसका कोई अर्थ नहीं है। अगर खादी स्वतंत्र मनुष्य के अपने अधिकार और कर्तव्य की निशानी न हो, तो कमसे कम मुझे उसमें कोई दिलचस्पी न रहेगी।

मित्रभाव से टीका करनेवाले एक भाई पूछते हैं कि इस योजना के अनुसार तैयार की गई खादी क्या बेची भी जा सकती है? मेरा उत्तर यह है कि यदि बिक्री उसका गौण उद्देश्य हो तो ऐसा किया जा सकता है; लेकिन अगर बिक्री ही उसका एकमात्र या मुख्य लक्ष्य हो तो हरगिज़ नहीं बेची जा सकती। हमने बिक्री के लिए खादी पैदा करके अपना काम शुरू किया, उसका कारण यह था कि उसके बारे में तब हम दूर तक सोच नहीं पाये थे और यह भी कि उस समय हमें उसकी ज़रूरत थी। अनुभव एक महान शिक्षक है। उसने हमें अनेक बातें सिखाई है। उनमें से एक बड़ी बात यह है कि खादी का मुख्य उपयोग अपने लिए उसका व्यवहार करना है। परन्तु यह भी अंतिम उपयोग नहीं है। खैर, मुझे कल्पना के इस मनोहर क्षेत्र को छोड़कर शीर्षक में पूछे गए प्रश्न का निश्चित उत्तर देना चाहिए।

संपूर्ण शासन-कार्य के केन्द्र के रूप में गाँवों के पुनरुद्धार की ज़िम्मेदारी संभालने वाले मंत्री की हैसियत से मेरा पहला काम यह होगा कि स्थायी राज्य-कर्मचारियों में से इस काम के लिए मैं ईमानदार और निष्ठावान आदमी ढूँढ़ निकालूँ। मैं उनमें से उत्तम लोगों का चरखा-संघ और ग्रामोद्योग-संघ से, जो काँग्रेस के बनाए हुए हैं, संपर्क करा कर गाँवों के हाथ-उद्योगों को अधिक से अधिक प्रोत्साहन देने के लिए एक योजना पेश करूँगा। मैं यह शर्त रखूँगा कि ग्रामवासियों पर कोई ज़बरदस्ती नहीं की जाएगी।

उन्हें दूसरों की बेगार करने के लिए मजबूर नहीं किया जाएगा। और उन्हें अपनी मदद आप करना तथा भोजन, वस्त्र और अन्य आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन के लिए अपनी ही मेहनत और कुशलता पर भरोसा करना सिखाया जाएगा। इस प्रकार योजना को व्यापक बनाना होगा। इसलिए मैं अपने पहले आदमी को यह आदेश दूँगा कि वह हिन्दुस्तानी तालीमी संघ का काम देखे, उसके अधिकारियों से मिले और समझे कि इस विषय में उनका क्या कहना है।

मैं मान लेता हूँ कि इस प्रकार तैयार की हुई योजना में एक धारा यह होगी : ग्रामवासी स्वयं घोषणा करते हैं कि उन्हें एक निश्चित तारीख से एक वर्ष के बाद मिल के कपड़े की ज़रूरत नहीं होगी, और यह कि अपना कपड़ा तैयार करने के लिए उन्हें रुई, ऊन और आवश्यक औजार तथा शिक्षा चाहिए। ये चीज़ें वे दान के रूप में नहीं लेंगे, बल्कि आसान किस्तों में उनकी क़ीमत चुकाने की शर्त पर लेंगे। इस योजना में यह बात भी होगी कि वह किसी सारे प्रांत पर एकदम लागू नहीं होगी, परन्तु शुरू में उसके एक हिस्से पर ही लागू होगी। योजना में हमें यह भी कहा जाएगा कि चरखा-संघ इस योजना को अमल में लाने के लिए पथ-प्रदर्शन और सहायता देगा।

उसके लाभप्रद होने का विश्वास हो जाने पर मैं कानून-विभाग की सलाह से उसे कानूनी रूप दूँगा और एक सूचना निकालूँगा, जिसमें योजना की उत्पत्ति का पूरा वर्णन होगा | ग्रामवासी, मिल-मालिक और अन्य लोग इसमें शरीक रहेंगे। सूचना में साफ बताया जाएगा कि यह जनता का काम है, भले ही उस पर सरकार की मुहर लगी हो। सरकारी रुपया गरीब से गरीब ग्रामवासियों के लाभ के लिए खर्च किया जाएगा, ताकि संबंधित लोगों को उसका अधिक से अधिक लाभ पहुँचे। इसलिए वह शायद पूंजी का सबसे लाभप्रद नियोजन होगा, जिसमें विशेषज्ञों की सहायता स्वेच्छापूर्ण होगी और व्यवस्था-खर्च कमसे कम होगा। सूचना में देश पर पड़ने वाले सारे खर्च और लोगों को मिलनेवाले लाभ का पूरा ब्योरा दिया जाएगा।

मंत्री के नाते मेरे लिए एकमात्र प्रश्न यह है कि चरखा-संघ में वह दृढ़ विश्वास और क्षमता है या नहीं, जिससे वह खादी की एक योजना तैयार करके उसे सफलता तक पहुँचा देने का भार उठा सके। अगर उसमें यह दृढ़ विश्वास और क्षमता है, तो मैं पूरे विश्वास के साथ अपनी छोटी नैया को समुद्र में उतार दूँगा। [हरिजन, १-९-१९४६, पृ. २८८]

२९. भारत और विश्व

जब भारत स्वावलम्बी और स्वाश्रयी बन जाएगा और इस तरह न तो खुद किसी की संपत्ति का लोभ करेगा और न अपनी संपत्ति का शोषण होने देगा, तब वह पश्चिम या पूर्व के किसी भी देश के लिए – फिर उसकी शक्ति कितनी भी प्रबल क्यों न हो – लोभमय आकर्षण का विषय नहीं रह जाएगा और तब वह खर्चीले शस्त्रास्त्रों का बोझ उठाए बिना ही अपने को सुरक्षित अनुभव करेगा। उसकी यह भीतरी स्वाश्रयी अर्थ-व्यवस्था बाहरी आक्रमण के खिलाफ़ सुदृढ़तम सुरक्षा सिद्ध होगी। [यंग इंडिया, २-७-१९३१, पृ. १६१]

पूर्ण स्वराज्य की मेरी कल्पना दूसरे देशों से कोई नाता न रखने वाली स्वतंत्रता की नहीं, बल्कि स्वस्थ और प्रतिष्ठित स्वतंत्रता की है। मेरा राष्ट्रप्रेम उग्र तो है, पर वह वर्जनशील नहीं है; उसमें किसी दूसरे राष्ट्र या व्यक्ति को हानी पहुँचाने की भावना नहीं है। कानूनी सिद्धांत उतने कानूनी नहीं है जितने कि वे नैतिक हैं। अपनी संपत्ति का उपयोग इस तरह करो कि पड़ोसी की संपत्ति को कोई हानि न पहुँचे!' – यह कानूनी सिद्धांत एक सनातन सत्य को प्रकट करता है और उसमें मेरा पूरा विश्वास है। [यंग इंडिया, २६-३-१९३१, पृ. ५१]

स्वतंत्र प्रजातांत्रिक भारत आक्रमण के खिलाफ़ पारस्परिक रक्षण और आर्थिक सहकार के लिए दूसरे स्वतंत्र देशों के साथ खुशी से सहयोग करेगा। वह आज़ादी और जनतंत्र पर आधारित ऐसी विश्व-व्यवस्था की स्थापना के लिए काम करेगा, जो मानव-जाति की प्रगति और विकास के लिए दुनिया के समूचे ज्ञान और उसकी समूची साधन-संपत्ति का उपयोग करेगी। [हरिजन, २३-९-१९३९, पृ. २७८]

पश्चिमी राष्ट्रों को अपनी कुशलता का लाभ दूसरों को देना चाहिए। यदि वे अपनी कुशलता का उपयोग विदेशों में परमार्थ-बुद्धि से करना चाहते हों, तो अमेरिका कहेगा : "अच्छा देखिए, हम पुल बनाना जानते हैं। इस कला को हम गुप्त नहीं रखना चाहते। हम तो समूची दुनिया से कहेंगे कि हम आपको पुल बनाना सिखाएँगे और उसके लिए आपसे कुछ भी क़ीमत नहीं लेंगे |' अमेरिका आगे कहेगा : 'जब अन्य राष्ट्र गेहूँ का एक ही दाना पैदा कर पाते हैं, तब हम दो हज़ार दाने पैदा कर सकते हैं।' पर अमेरिका सीखने वालों को यह कला मुफ्त सिखाएगा और समूची दुनिया के लिए गेहूँ पैदा करने

की महत्त्वाकांक्षा न रखेगा; नहीं तो सचमुच दुनिया के लिए वह एक दु:खद दिन होगा। [हरिजन, २-११-१९३४, पृ. ३०२]

[अफ्रीकावासी यह जानना चाहते थे कि हिन्दुस्तान उन्हें क्या दे सकता है और उनका जो भयंकर शोषण आज हो रहा है उससे बचने के लिए वे अपने देश में सहयोग के आधार पर चलनेवाले उद्योग-धंधे कैसे स्थापित कर सकते हैं।]

पश्चिमी शोषक आपसे कच्चा माल लेकर तैयार माल आपको देते हैं; हिन्दुस्तान ऐसा धंधा नहीं करेगा। हिन्दुस्तान और अफ्रीका के बीच विचारों और सेवा की अदला-बदली होगी। हिन्दुस्तान आपको चरखा दे सकता है। जब मैं दक्षिण अफ्रिका में था तब मुझे चरखे का ज्ञान हो गया होता, तो उन अफ्रीकावासियों में, जो फिनिक्स में मेरे पड़ोसी थे, मैंने उसका प्रचार ज़रूर किया होता | आप लोग कपास पैदा कर सकते हैं, आपके पास काफ़ी समय है और लोग हाथ से काम करने की कला भी जानते हैं। गाँव के उद्योग-धंधों को फिर से चलाने की हम जो कोशिश कर रहे हैं, उसका आपको अध्ययन करना चाहिए और उससे सबक सीखना चाहिए। आपकी मुक्ति की कुँजी इसीमें छिपी है। [हरिजनसेवक, २४-२-१९४६, पृ. १९]

'क्या अमेरिका वालों के लिए चरखे का कोई संदेश है? क्या अणुबम के खिलाफ़, उसके इलाज के रूप में, चरखे का हथियार काम दे सकता है?'

चरखे का संदेश अकेले अमेरिका के लिए ही नहीं, बल्कि सारी दुनिया के लिए है। . . . मुझे इसमें जरा भी शंका नहीं कि चरखे में हिन्दुस्तान का ही नहीं, बल्कि सारी दुनिया का उद्धार और उसकी सुरक्षितता समाई हुई है। अगर हिन्दुस्तान यंत्रों या कल-कारखानों का गुलाम बन गया, तो फिर दुनिया के लिए रक्षा का कोई मार्ग न रह जाएगा। उस स्थिति में भगवान ही उसकी रक्षा कर सकेगा। [हरिजनसेवक, १०-११-१९४६, पृ. ३८७]

मैं अपने हृदय की गहराई में . . . यह अनुभव करता हूँ कि दुनिया युद्ध के संहार से बहुत ज़्यादा ऊब गई है। इससे बाहर निकलने का मार्ग दुनिया खोज रही है। मुझे यह विश्वास करने का लोभ होता

है कि शायद भारत की प्राचीन भूमि को ही शांति की भूखी दुनिया को वह मार्ग दिखाने का सौभाग्य प्राप्त होगा। [इंडियाज केस फोर स्वराज, १९३२, पृ. २०९]

अगर हिन्दुस्तान अपने कर्तव्य को भूलता है, तो एशिया मर जाएगा। यह ठीक ही कहा गया है कि हिन्दुस्तान कई मिली-जुली सभ्यताओं और संस्कृतियों का घर है, जहाँ वे सब साथ साथ पनपी हैं। हम सब ऐसे काम करें जिससे हिन्दुस्तान ऐशिया, अफ्रीका या दुनिया के किसी भी हिस्से की कुचली और चूसी हुई जातियों के लिए आशा का प्रतीक बन जाए और सदा वैसा ही बना रहे। [दिल्ली-डायरी, १९६०, पृ. ३१]

हम सारी दुनिया से नाता नहीं तोड़ना चाहते। हम तो सभी राष्ट्रों के साथ खुला आदान-प्रदान रखेंगे, लेकिन ज़बरदस्ती से लादा हुआ आदान-प्रदान तो बंद करना ही पड़ेगा। हम यह नहीं चाहते कि कोई हमारा शोषण करे। न हम खुद ही किसी दूसरे राष्ट्र का शोषण करना चाहते हैं। बुनियादी तालीम की योजना के द्वारा हम सब बालकों को उत्पादक बनाकर सारे राष्ट्र की शकल बदल देना चाहते हैं, क्योंकि इससे हमारा सारा सामाजिक ढाँचा ही बदल जाएगा। लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि हम सारी दुनिया से नाता तोड़कर सबसे अलग हो जाना चाहते हैं। ऐसे राष्ट्र तो रहेंगे ही जो कुछ चीज़ें अपने यहाँ पैदा न कर सकने के कारण दूसरे राष्ट्रों के साथ आदान-प्रदान करना चाहेंगे। इसमें कोई शक नहीं कि उन्हें ऐसी चीजों के लिए दूसरे राष्ट्रों पर अवलम्बित रहना पड़ेगा; लेकिन जो राष्ट्र उनकी आवश्यकताएँ पूरी करें, उन्हें उनका शोषण नहीं करना चाहिए।

'लेकिन अगर आप अपने जीवन को इस हद तक सादा बना लें कि दूसरे देशों की बनी किसी चीज़ की आपको ज़रूरत ही न रहे, तो आप अपने को उनसे अलग कर लेंगे; जब कि मैं चाहता हूँ कि आप अमेरिका के लिए भी ज़िम्मेदार बनें।'

अमेरिका के लिए ज़िम्मेदार तो हम इसी तरह हो सकते हैं कि न तो हम किसी का शोषण करें और न अपना ही शोषण किसी को करने दें। क्योंकि जब हम ऐसा करेंगे तो अमेरिका भी हमारा अनुसरण करेगा; और तब हमारे बीच खुले आदान-प्रदान में कोई कठिनाई नहीं होगी। [हरिजनसेवक, १२-२-१९३८, पृ. ४२४]

मैं जानता हूँ कि यह काम (आदर्श ग्राम-निर्माण का) उतना ही कठिन है, जितना कि सारे हिन्दुस्तान को आदर्श बनाना। . . . लेकिन एक ही गाँव को कोई एक आदमी आदर्श बना सके, तो कहा जाएगा कि उसने सारे हिन्दुस्तान के लिए ही नहीं, बल्कि सारे जगत के लिए रास्ता ढूँढ निकाला। साधक इसके आगे जाने का लोभ न करे। [टुवर्ड्स न्यू होराइज़न्स, १९५९ पृ. ९९]

'स्वतंत्र भारत में किस का हित सबसे बढ़कर रहेगा? अगर पड़ोसी राज्य को किसी चीज़ की ज़रूरत हो, तो स्वतंत्र भारत क्या यह कह कर अलगाव का रुख अपना लेगा कि पहले उसकी ज़रूरतें पूरी होनी चाहिए?'

अगर भारत सच्चे अर्थ में स्वतंत्र होगा, तो वह अपने मुसीबत के मारे पड़ोसी देशों को ज़रूर मदद देगा। जिस मनुष्य की बलिदान की भावना अपने समाज से आगे नहीं बढ़ती, वह खुद स्वार्थी है और अपने समाज को भी स्वार्थी बनाता है। मेरी राय में स्वार्थ के बलिदान का अनिवार्य परिणाम यह है कि मनुष्य समाज के लिए अपना बलिदान दे, समाज जिले के लिए अपना बलिदान दे, जिला प्रांत के लिए अपना बलिदान दे, प्रांत देश के लिए अपना बलिदान दे और देश सारी दुनिया के लिए अपना बलिदान दे। समुद्र से अलग की गई पानी की बूंद बिना किसी को लाभ पहुँचाए सूख जाती है। किन्तु यदि वह समुद्र का अंग बन कर रहती है, तो अपनी छाती पर विशाल जहाज़ी बेड़े को ले जाने का यश कमाती है। [टुवर्ड्स न्यू होराइज़न्स, १९५९ पृ. २००]

कोई यह सोचने की गलती न करे कि रामराज्य का अर्थ हिन्दुओं का राज्य है। मेरा राम खुदा या गोड का दूसरा नाम है। मैं तो खुदाई राज चाहता हूँ, जो पृथ्वी पर 'ईश्वरीय राज्य' जैसा ही है। ऐसे राज्य की स्थापना का अर्थ केवल सारे भारतीय जन-समुदाय का कल्याण ही नहीं, बल्कि समूचे विश्व का कल्याण है। [टुवर्ड्स न्यू होराइज़न्स, १९५९ पृ. २००]

मैं भारत को स्वतंत्र और बलवान बना देखना चाहता हूँ, ताकि वह दुनिया के भले के लिए स्वेच्छापूर्वक अपनी पवित्र आहुति दे सके। शुद्ध व्यक्ति कुटुम्ब के लिए, कुटुम्ब गाँव के लिए, गाँव जिले के लिए, जिला प्रांत के लिए, प्रांत राष्ट्र के लिए और राष्ट्र सारे मानव-समाज के लिए अपना बलिदान करता है। [हिन्दी नवजीवन, १७-९-१९२५, पृ. ३७-३८]

स्वराज्य के द्वारा हम सारे विश्व की सेवा करेंगे। [यंग इंडिया, १६-४-१९३१, पृ. ७९]

राज्य द्वारा खड़ी की गई सीमाओं के उस पार बसे हुए अपने पड़ोसियों तक अपनी सेवाओं को फैलाने की कोई सीमा नहीं है। ईश्वर ने ऐसी सीमाएँ कभी नहीं बनाई हैं। [यंग इंडिया, ३१-१२-१९३१, पृ. ४२७]

* * * * *